

# बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

प्रधान संपादक  
गिरीश्वर मिश्र

संपादक  
अशोक मिश्र



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

## **बहुवचन**

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक

अंक : 47 (अक्टूबर-दिसंबर 2015) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

## **संपादकीय संपर्क :**

**संपादक बहुवचन**

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- bahuvachan.wardha@gmail.com

**प्रकाशन प्रभारी :** राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

## **© संबंधित लेखकों द्वारा सुरक्षित**

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

**पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :**

**प्रचार प्रसार :** सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

## **बिक्री और प्रसार कार्यालय :**

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

अंक : 75 रुपए, वार्षिक शुल्क 300/- रुपए, द्विवार्षिक शुल्क 600/- रुपए (डाक खर्च सहित)

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : देवप्रकाश चौधरी

## **BAHUVACHAN**

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

**मुद्रक :** क्विक ऑफसेट ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22824606, मो. 9811388579)

## अनुक्रम

<b>आरंभिक</b>	
बाजारवादी माहौल में आलोचना	05
<b>आलोचना पर विशेष</b>	
आलोचना का संकट बनाम संकट में आलोचना/मधुरेश	07
आलोचना परिदृश्य : एक विहंगम दृष्टि/गिरीश्वर मिश्र	14
परदेशी हिंदी आलोचना/विजय बहादुर सिंह	19
<b>व्याख्यान</b>	
पाठक का प्रतिनिधि होता है आलोचक/नामवर सिंह	27
बौद्धिकता और हिंदी आलोचना/राजेन्द्र कुमार	32
<b>प्रसंगवश</b>	
राज्य, धर्म, विचारधारा और साहित्य/विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	38
<b>वैचारिकी</b>	
भाषा की सरहद पर हिंदी कविता/अरविन्द त्रिपाठी	45
सृजन और विभावन का द्वैताद्वैत/रेवतीरमण	66
रीति सिद्धांत तथा आधुनिक समीक्षा/बलराम शुक्ल	81
छायावादी आलोचना का स्वरूप/चन्द्रदेव यादव	95
आलोचना का वर्तमान/ए. अरविंदाक्षन	103
इतिहास की निरंतरता और समय का देशीय संदर्भ/देवेन्द्र चौबे	108
आलोचना का बहुवचन/अनन्त मिश्र	112
तुम न विवादी स्वर छोड़ो अनजाने इसमें! ('कामायनी' के कवि आलोचकों का संदर्भ)/पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु	120
आलोचना के परिदृश्य में 'पाठक' और 'पाठकवादी आलोचना'/कुमुद शर्मा	148
आचार्य रामचंद्र शुक्ल की तर्क पद्धति/गोपाल प्रधान	158

चतुर छलमय पण्य यह/अनिल राय	164
समकालीन हिंदी आलोचना : कुछ नोट्स/जितेन्द्र श्रीवास्तव	172
आलोचना का विश्व/रघुवंशमणि	178
सबॉल्टर्नवादी (उपाश्रयी) आलोचना का स्वरूप/शशि कुमार 'शशिकांत'	184
भारतेन्दुयुगीन हिंदी गद्य और सामाजिक प्रश्न/राकेश कुमार सिंह	192

## बाजारवादी माहौल में आलोचना

आज सबसे कटु सच्चाई यह है कि हिंदी लेखन परिदृश्य से आलोचना लगातार गायब होती जा रही है। अगर दूसरे शब्दों में कहें तो पुस्तक समीक्षा ने काफी हद तक इसकी भरपाई करने की कोशिश की है। पुस्तक समीक्षा पुस्तक कैसी है इस पर जरूर प्रकाश डालती है और कृति के प्रति पाठकों के मानस निर्माण में सम्यक भूमिका का निर्वाह करती है। हम देखते हैं कि वर्तमान में 'पुस्तक वार्ता', 'आलोचना', 'समकालीन भारतीय साहित्य', 'नया ज्ञानोदय', 'हंस', 'पाखी', 'तदभव' जैसी पत्रिकाएं पुस्तक समीक्षाओं को खासी गंभीरता के साथ प्रकाशित कर रही हैं। इस दिशा में इससे आगे बढ़कर कृति का नया अर्थ खोलने या विशद व्याख्या करने का काम आलोचना करती है उसकी भूमिका बड़ी और महत्वपूर्ण है ऐसे में जाहिर है कि यह काम तत्काल संभव नहीं होता। लेखन के मूल्यांकन की प्रक्रिया लेखक के इहलोक में न रहने पर भी चलती रहती है।

आज जब हम आलोचना के वर्तमान परिदृश्य पर नजर डालते हैं तो देखते हैं कि पिछले पच्चीस बरस हमारे समाज के बने बनाए सामाजिक ढांचे में काफी उलटफेर करने वाले रहे हैं। तीव्रतर होती जा रही वैश्विक व्यवस्था की गति ने हमारे सामाजिक ताने-बाने को काफी गहरे स्तर पर तार-तार किया है। हमारी जीवन प्रणाली के अवयव लोक संस्कृति, इतिहास, स्मृति, जातीयता, भारतीय परंपरा और सामासिक संस्कृति अब बाजारवादी मूल्यों के दिन प्रतिदिन बढ़ते वर्चस्व से कमजोर पड़ रहे हैं। ऐसे में हमारे पास सामाजिक चेतना को विस्तार देने के लिए साहित्य की रचनात्मक मशाल ही शेष बचती है।

हिंदी का रचनात्मक जगत विभिन्न विधाओं में लेखन और निरंतर नई कृतियों से समृद्ध हो रहा है। यहीं जब हम रुककर उन वजहों की तलाश करते हैं कि आखिर क्यों आलोचना इस समृद्ध परिदृश्य को रेखांकित नहीं कर पा रही है तो उस पर अपनी बनी बनाई डगर छोड़कर चलने या राह भटकने का आरोप सरलीकृत ढंग से मढ़ा जा रहा है। आलोचना की गंभीरता को लेकर भी अरण्य रुदन का माहौल है। कुछ लोग अतीत में ही डूबे हुए हैं और वर्तमान स्थिति का सम्यक मूल्यांकन नहीं कर पा रहे हैं।

यह रुदन सिर्फ आलोचना को लेकर नहीं है बल्कि कविता के अपठनीय होने, कहानी के पटरी से उतरने और अन्य विधाओं में भी स्तरीय लेखन न होने को लेकर है। एक और मुद्दा यह भी है कि जब आज लिखे जा रहे साहित्य में ही गुणवत्ता और टिकारूपन का अभाव है

तो ऐसे में आलोचना से ही गुणवत्ता की अपेक्षा करना क्या सच से आँखें मूंद लेने जैसा न होगा। लेखन परिदृश्य में ही दरअसल पिछले तीस बरसों के दौरान फैशनेबल तरीके से प्रश्नाकुलता का भी माहौल रहा है। यह अकारण नहीं था कि नौवें दशक के दौरान एक समय नई कहानी आंदोलन के प्रवर्तक राजेंद्र यादव न लिखने का कारण ढूँढने लगे थे। हालांकि राजेंद्र यादव कथा साहित्य से अलग हटकर विमर्शों और विचारशीलता की ओर मुड़े जबकि दूसरों के साथ ऐसा नहीं हुआ। दरअसल साहित्य में सकारात्मकता और नकारात्मकता दोनों की ही बात करने वाले लोग हैं। वस्तुतः आलोचना सतत रूप से चलने वाली एक शोध प्रक्रिया है जिसमें कृतियों के नए पाठ और अर्थ खुलते ही रहते हैं। आलोचना को यहां तक समृद्ध बनाकर लाने में हमारे पूर्व और वर्तमान आलोचकों में रामविलास शर्मा से लेकर नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, नित्यानंद तिवारी, विद्यानिवास मिश्र, निर्मला जैन, मैनेजर पांडेय, खगेंद्र ठाकुर, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, परमानंद श्रीवास्तव, गोपाल राय एवं कई अन्य आलोचकों की खासी भूमिका रही है। आज की वर्तमान पीढ़ी से कई युवा आलोचक सामने आ रहे हैं और आलोचना विधा को समृद्ध बना रहे हैं।

आलोचना में विचारधारा को लेकर भी रहा ऊहापोह है। अधिकतर आलोचना उन लेखकों पर केंद्रित थी जो एक विशेष विचारधारा के पक्षधर रहे। शेष की या तो अनदेखी की गई या चुप्पी साध ली गई। सवाल यह भी उठते रहे हैं कि हमारे यहां अधिकतर आलोचना के औजार या सिद्धांत पश्चिमोन्मुखी ही क्यों रहे हैं? इसके बावजूद आलोचना की किसी कृति को स्थापित या खारिज करने की भूमिका से भी इनकार नहीं किया जा सकता है। साहित्यिक परिदृश्य में सवालों का लगातार उठते रहना और चिंतन, मनन, वाद, विवाद और संवाद का उपजना भी एक शुभ लक्षण है क्योंकि आगे की राह भी इसी से बनती है। साहित्य में ठहराव जड़ता का प्रतीक होता है। साहित्य की धारा किसी नदी के समान कल-कल कर बहती रहने वाली धारा है जो कि लगातार मार्ग में मिलने वाले झरनों का पानी खुद में समेटती हुए बहती है और हर नई धारा का स्वागत करती है। लेखन में भी नए लेखकों और समय सापेक्ष बदलावों पर निगाह बनाए रखना आलोचना का काम है।

बहुवचन के इस अंक के माध्यम से हमने आलोचना के बहुत सारे सवालों पर प्रमुख आलोचकों से लिखने का आग्रह किया था। अधिकतर आलोचकों ने हमारे आग्रह पर लिखना स्वीकार किया और सहयोग दिया यह हमारे लिए और भी महत्वपूर्ण रहा है। सभी आलोचकों ने अपनी बात अपने नजरिए के तहत रखी है जो कड़ी है। अरसा पहले साहित्य अकादेमी द्वारा नई दिल्ली के एक आयोजन में प्रो. नामवर सिंह द्वारा दिया गया एक महत्वपूर्ण व्याख्यान हम पाठकों के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं। यह व्याख्यान हमें संस्कृतिकर्मी पत्रकार अजित राय के सौजन्य से मिला है जिसके लिए उनका आभार। इस अंक की तैयारी में विश्वविद्यालय के समकुलपति प्रो. चित्तरंजन मिश्र ने सतत मार्गदर्शन दिया। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना महज औपचारिकता होगी। पाठकों को आने वाले नव वर्ष 2016 की शुभक  
अंक कैसा लगा यह जानने की जिज्ञासा जरूर बनी रहेगी।

शुभक  
अंक

## आलोचना का संकट बनाम संकट में आलोचना

मधुरेश

विचलन और विपथन ही वस्तुतः किसी चीज के संकट का मुख्य कारक होता है। हिंदी में आलोचना का इतिहास भी उसके समूचे गद्य की तरह बहुत पुराना न होने पर भी जातीय एवं राष्ट्रीय नवजागरण की भावना से समृद्ध और आलोकित रहा है। एकदम शुरू में ही बालकृष्ण भट्ट जैसे विवेकी आलोचकों ने अन्य साहित्य रूपों की तरह आलोचना को भी अपने समय की चेतना और लोकजीवन के रूप में परिभाषित करके उसके भावी स्वरूप का संकेत दे दिया था। इसी परंपरा में आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं आचार्य रामचंद्र शुक्ल से होते हुए आलोचना के अद्यतन विकास तक आते हैं। तब साहित्य के अन्य रूपों की तरह आलोचना के आगे भी राष्ट्रीय एवं सामाजिक आदर्श थे और साहित्य तथा अन्य कलारूप हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का ही हिस्सा थे। आलोचना तब राष्ट्रीय चेतना और बोध वाले साहित्य को संपोषित और संरक्षित करके से साम्राज्य विरोधी संघर्ष का ही हिस्सा मानकर चलती थी।

आलोचना का विकास सदैव और प्रायः सब कहीं अपने समकालीन साहित्य के साथ और समानांतर ही हुआ है। सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय अपेक्षाओं के अनुरूप साहित्य का संरक्षण-संपोषण और संस्थापन ही वस्तुतः किसी भी आलोचना का प्रधान उपजीव्य रहा है। भारतेंदु-युग में अपनी समकालीन रचनाशीलता पर सम्यक टिप्पणी के रूप में आलोचना के निर्माण एवं विकास के सूत्र खोजे जा सकते हैं। आलोचना का यह दायरा, समय के साथ, परीक्षण एवं मूल्यांकन की प्रक्रिया में, फैलता और व्यापक होता जाता है। इस प्रक्रिया में आलोचक अपने देश के प्राचीन साहित्य के साथ विभिन्न भाषाओं और देशों की साहित्य की ओर भी जाता है लेकिन फिर भी आलोचना का मुख्य संबंध अपने समय की रचनाशीलता से होता है और होना चाहिए। समकालीन रचनाशीलता के परीक्षण एवं मूल्यांकन की इस प्रक्रिया में ही अपने समय के सवालियों के बीच उन रचनाओं को देखने-परखने का उद्यम ही वस्तुतः आलोचना के उन मान-मूल्यांकों का निर्माण करता है जो अपने समय की रचनाशीलता के साथ प्राचीन साहित्य को भी अपने समय के सवालियों के परिप्रेक्ष्य में देखने की एक दृष्टि देते हैं। यहीं से आलोचना में पुनर्विचार और पुनर्मूल्यांकन की राह खुलती है। हिंदी में पुस्तक-समीक्षा को

आज बहुत हिकारत की दृष्टि से देखा जाता है। किसी भी साहित्य और भाषा में आलोचना के निर्माण एवं विन्यास में उसकी एक विशिष्ट भूमिका रही है। भारतेंदु युग से काफी बाद तक हिंदी में इस आलोचनात्मक सक्रियता के साक्ष्य जुटाए जा सकते हैं। इस लंबी कालावधि में बिखरी पड़ी ऐसी सामग्री को इकट्ठा करके यदि विधावार कुछ चयन उपलब्ध हों तो पुस्तक-समीक्षा के असंदिग्ध महत्व का भी वह एक प्रामाणिक साक्ष्य हो सकता है।

देश की स्वाधीनता के आस-पास से शुरू होकर जब हिंदी में साहित्यिक पत्रिकाओं का एक उन्मेष शुरू हुआ, 'प्रतीक', 'कल्पना', 'आलोचना', 'कहानी', 'माध्यम' आदि के रूप में उसे शायद पुस्तक-समीक्षा का भी सबसे चमकीला दौर कहा जा सकता है। आज भी अनेक रचनात्मक विवाद उस दौर की इन पत्रिकाओं में देखे जा सकते हैं। एक दृष्टिवान और विवेकी संपादक अपनी पत्रिका में केवल अपने विचार और गुट की रचनाशीलता को ही स्थापित नहीं करता। यह काम तो कोई भी घटिया से घटिया संपादक कर सकता है। अच्छा संपादक गुट और विचार के बाहर जाकर समूची समकालीन रचनाशीलता में जो महत्वपूर्ण, उल्लेखनीय और अनुपेक्षणीय है उस पर अपनी दृष्टि कैसे रखता है, इसके शायद सबसे अच्छे उदाहरण अज्ञेय हैं। उन्होंने 'प्रतीक' द्वैमासिक के अंकों में एक ही रचना पर जो तीन-तीन, चार-चार समीक्षाएं लिखवाने की शुरुआत की वह किसी भी संपादक के लिए एक उदाहरण का काम कर सकता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'गिरती दीवारें', 'कुरुक्षेत्र' आदि कुछ ऐसी ही रचनाएं थीं। इन रचनाओं पर मूल्यांकन के लिए उन्होंने जिन विभिन्न विचार सरणियों के आलोचकों को आमंत्रित किया वह किसी भी संपादक की दृष्टि के खुलेपन का एक प्रतिमान हो सकता है। आलोचना के लोकतंत्र के सारे तुमुल कोलाहल के बावजूद आज यह दुर्लभ है। शिवदान सिंह चौहान के पहले दौर की 'आलोचना' के सिर्फ छह अंक उनके संपादक में आए। उनमें से भी बाद के दो साहित्य के इतिहास और उसकी समस्याओं पर केंद्रित थे। उसके आरंभिक चार अंक मूल्यांकन के लिए पुस्तकों के चयन का जैसा उदार और विवेकपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, आज वह इतिहास का हिस्सा है। अपने समय की रचनाशीलता के प्रामाणिक संदर्भ ग्रंथ के रूप में आज भी उस सामग्री का महत्व है। 'कल्पना' में कवि दिनकर की 'उर्वशी' पर जो उग्र विवाद छिड़ा, उसके मूल में भगवत शरण उपाध्याय की समीक्षा ही थी जिस पर बाद में व्यापक प्रतिक्रियाओं के रूप में फिर पूरा अंक ही केंद्रित किया गया था। बालकृष्ण राव के संपादन में 'माध्यम' में 'विवेचना' के मंच से पढ़े जाने वाले आलेखों ने अधिकतर संबद्ध लेखक की उपस्थिति में ही पुस्तक-समीक्षा के क्षेत्र में कैसा इतिहास रचा उसे 'माध्यम' की फाइलों के अतिरिक्त उमा राव के संपादन में 'विवेचना' के शृंखलाबद्ध संकलनों में भी देखा जा सकता है।

पिछले कुछ समय से हिंदी में पुस्तक के लोकार्पण एवं विमोचन की एक विशेष (अप) संस्कृति विकसित हुई है। प्रकाशकों यशःप्रार्थी लेखकों और आलोचकों के व्यापक गठजोड़ से ये आयोजन संपन्न होते हैं। महानगरों से लेकर छोटे शहरों और कस्बों तक इस प्रवृत्ति के सघन



संजाल को देखा जा सकता है। पुस्तक मेले में तो ऐसे आलोचकों की अधिक से अधिक पुस्तकों के लोकार्पण की जैसे होड़ लग जाती है। लोगों को जब-तब वे गया के पंडे या भ्राद्ध के कौव्ये जैसे भी लगते हैं। यह प्रवृत्ति कैसे भी गंभीर पठन-पाठन के लिए कितनी हानिकार है, इसका उदाहरण जब तब पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रपटों से पाया जा सकता है। किसी प्रतिष्ठित लेखक के किसी बड़े उपन्यास का साहित्य अकादेमी सभागार में लोकार्पण होना था। बिहार का वह लेखक 'हंस' का नियमित लेखक भी था। गोष्ठी की रपट के अनुसार उस उपन्यास पर मुख्य वक्ताओं में राजेंद्र यादव भी थे। देर तक बहुत उत्साह एवं आवेश के साथ वे उस उपन्यास पर बोलते रहे। गोष्ठी के समापन पर या शायद बाद में, जब किसी ने उनसे उस उपन्यास के संबंध में कोई सवाल किया तो उनका उत्तर चौंकाने वाला था- 'उपन्यास तो मैंने पढ़ा ही नहीं है।' सामान्यतः अपने पैसे से किताब छपवाकर और प्रायः स्वयं ही ऐसे किसी आयोजन का खर्च उठाकर जब कोई लेखक प्रकाशक से जुड़कर ऐसा करता है तो वक्ता एवं संरक्षक के रूप में उसे आलोचक की आवश्यकता होती है। इस चक्रव्यूह में धंसने के बाद आलोचक से यह अपेक्षा बेमानी है कि वह रचना को गंभीरता से पढ़कर कायदे से उसका मूल्यांकन करेगा या लेखक और रचना के बारे में ऐसा कुछ कहेगा जो रचना की गांठों को खोलकर उसके मर्म एवं महत्व को उजागर करेगा। विमोचन के इन वक्तव्यों की तुलना 'माध्यम' की विवेचना वाली उन गोष्ठियों से की जा सकती है जिसमें प्रायः लेखक की उपस्थिति में आलोचक अपने आलेख का वाचन करता था। फिर लेखकों का एक बड़ा समूह उस आलेख और आलोच्य रचना पर बहस करते थे। डॉ. नगेंद्र के 'रस सिद्धांत' पर दो खंडों में पठित डॉ. जगदीश गुप्त का आलेख या फिर सुमित्रानंदन पंत के 'लोकायतन' पर पढ़ा गया संभवतः विजयदेव नारायण साही का आलेख। पंतजी वाली गोष्ठी में उपस्थित श्रोताओं में जब इलाचंद्र जोशी को बोलने को कहा गया तो उनका उत्तर था- पंतजी ने स्वयं अपनी रचना को विचारों का वमन कहा है। वमन घृणित चीज है। मैं ऐसी रचना क्यों पढ़ूंगा? इसी गोष्ठी में हाथ उठाकर उन्होंने यह घोषणा की थी- 'लोकायतन' न मैंने पढ़ा है न ही कभी पढ़ूंगा? लोकार्पण एवं विमोचन की यह संस्कृति गंभीर एवं वस्तुपरक अलोचना के लिए एक बड़ा संकट है। इसका सबसे विडंबनापूर्ण पक्ष यह है कि जो आलोचक गंभीर पुस्तक-समीक्षा को लेकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, या फिर स्वयं समीक्षा लिखने की कल्पना उनके लिए शील-भंग जैसी घटना है, लोकार्पण एवं विमोचन में उनकी गहरी हिस्सेदारी देखी जाती है। इस तरह के अगंभीर और उबाऊ वक्तव्यों से वहां उन्हें कोई परहेज नहीं होता।

हिंदी की वर्तमान आलोचना, कम से कम उसका काफी बड़ा हिस्सा परस्पर हित-साधन की शिकार है। कहने को हम आलोचना के लोकतंत्र की बात करते हैं, लेकिन प्रत्यक्ष में वह लोकतंत्र कहीं दिखाई नहीं देता। यह आलोचना संवाद और किसी भी रूप में अपने पक्ष की आत्मविश्वासपूर्ण प्रस्तुति के बजाय किए गए उपकार का ऋणशोध अधिक करता है। ऐसा उन आलोचकों के साथ और भी सच है जो किसी बड़े विश्वविद्यालय से संबद्ध रहे हैं और

नियुक्तियों, प्रोन्नतियों एवं पाठ्यक्रम के रूप में लोगों और प्रकाशकों को उपकृत करने की स्थिति में हैं। इन उपकृतों से यह अपेक्षा कुछ अधिक ही है कि वे सही और सच्ची बात कह सकें। अगर ऐसा आलोचक किसी प्रकाशन समूह से जुड़ा है किसी चमकीले अतीत वाली पत्रिका का औपचारिक रूप से ही सही संपादक है तो उसकी ताकत और बढ़ जाती है। प्रकाशन की सुविधा की संभावनाओं को देखते युवा यशःप्रार्थियों की एक बड़ी भीड़ उसके प्रभामंडल के चारों ओर जुटने लगती है। विभिन्न पुरस्कार समितियों और विदेश जाने वाले लेखकों के प्रतिनिधि मंडलों की चयन समितियों पर भी इन्हीं लोगों की पकड़ होती है। 'अपनों' को वे उपकार से और कथित रूप से विरोधियों को उपेक्षा और अनदेखी से मारने की रणनीति पर भरपूर अमल करते हैं। उनका 'अपना' लिखना-पढ़ना बरसों पहले छूट चुका है लेकिन अपनी पुरानी पूंजी और ख्याति को लिए अपने इन युवा उत्साही समर्थकों के सहारे खुद के वर्चस्व की लड़ाई लड़ते हैं। यह भी जरूरी नहीं कि ऐसे लोग अनिवार्य रूप से विश्वविद्यालयों से ही जुड़े हों। उपकृत कर पाने का यह गुर और सुविधा उपलब्ध होने पर यह कहीं और कभी भी सच हो सकता है। फिर सहज ही वह व्यक्ति अकबर, रवींद्रनाथ और नेहरू तीनों को एक में मिलाकर स्वप्नदर्शी और योजना विधायक हो जाता है। बदले में ये वस्तुपरकता और कैसी भी रचनात्मक ईमानदारी को धता बताकर व्यापक चयन-प्रक्रिया और नाम गणना से बचते हैं। अपने इन्हीं, सहयोगियों एवं समर्थकों को जोड़-बटोरकर, कला की स्वायत्तता और 'रचना का लोकतंत्र' का शोर मचाकर खेमेबाजी करते हैं। इनका लोकतंत्र केवल इन सहयोगियों और समर्थकों से बनता और चलता है।

आलोचना अपनी विश्वसनीयता से ही आलोचना होती और बनती है। इधर जो एक प्रवृत्ति हिंदी में तेजी से जड़ जमाती दिखाई देती है वह तथ्यों के विकृतीकरण और परिप्रेक्ष्य की समग्रता के अभाव की है। वैसे इसकी शुरुआत काफी पहले रामस्वरूप चतुर्वेदी के 'हिंदी नवलेखन' (1960) से मानी जा सकती है। बाद में 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' (1986) और 'हिंदी गद्य: विन्यास और विकास' (1996) में भी उन्होंने इसे बनाए रखा है। आलोचना स्वेच्छाचारी ढंग से आलोचक के अपने हिसाब से चीजों को तोड़-मरोड़कर आधे-अधूरे रूप में प्रस्तुत करने की छूट नहीं देती। अच्छी आलोचना शैतान को भी उसके बाजिब हक के लिए संघर्ष करती है। इधर आलोचना में इतिहास या विकास के नाम पर जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें जैसे कथित रूप से विरोधी पक्ष की उपस्थिति के नकार का भाव बहुत मुखर है। आलोचक चाहे किसी से कितने ही उग्र मतभेद रखता हो उसके योगदान को रेखांकित किए बिना आगे बढ़ने की छूट नहीं ले सकता। आधुनिक साहित्य के प्रायः डेढ़-सौ वर्षों का इतिहास अनेक उग्र विवादों और मतभेदों का इतिहास भी रहा है। लेकिन शायद ऐसा कभी नहीं हुआ कि जिसे विरोधी गुट या शिविर का लेखक माना गया हो उसका नाम ही न लिया जाए लेकिन इधर यह प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी है। निर्मला जैन की 'हिंदी आलोचना का दूसरा पाठ' विजय मोहन सिंह की 'आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य का विकास और विश्लेषण' कृष्णदत्त पालीवाल का 'हिंदी

आलोचना : समकालीन परिदृश्य' आदि इस प्रवृत्ति के कुछ प्रतिनिधि उदाहरण हैं।

आलोचना में बहुत स्वेच्छाधारी ढंग से, अपने हिसाब से नामों को लेने और छोड़ने की छूट नहीं होती। स्तर और प्रवृत्तियों के नाम पर किसी और कैसे भी चयन की छूट वहां एक सीमा तक ही मिल सकती है। जो लेखक अपनी अबाध निरंतरता और सक्रियता के साथ अपनी उपस्थिति बनाए रहा है उसे क्या आप इसलिए नकार देंगे वैचारिक दृष्टि से वह आपसे उग्र मतभेद रखता है? जिसे सचमुच आलोचना का लोकतंत्र कहा जा सकता है, उस वैचारिक खुलेपन का सबसे बड़ा और खुला मंच हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना रही है- अपनी सारी सीमाओं के बीच। उसका अधिकतर विकास इन बहसों और विवादों के माध्यम से ही हुआ। जब-तब विवादों की अकारण उग्रता ने उसे भारी क्षति भी पहुंचाई लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि उसमें उस तरह कथित रूप से विरोधियों के नामोल्लेख से बचने का कोई प्रयास हुआ हो। अपने समय की अच्छी उल्लेखनीय और संभावनाशील रचना का आप मूल्यांकन नहीं करेंगे, आलोचना में परिप्रेक्ष्यगत समग्रता की चिंता यदि आपकी चिंता नहीं होगी तो फिर आपकी उस आलोचना की विश्वसनीयता क्या होगी? विश्वसनीयता से ही आलोचना की साख बनती है। इस विश्वसनीयता के अभाव में बड़े से बड़ा आलोचक और उसकी आलोचना निष्प्रभ और निष्प्रभावी हो जाती हैं विश्वसनीयता के क्षरण की यह ढलान सीधे अवसरवाद की ओर जाती है।

आलोचना को आभा और गमक नीति से मिलती है, रणनीति से नहीं। अच्छा और बुरा, सच और झूठ, लोक और सत्ता के द्वंद में आलोचना का अपना पक्ष चुनना ही होगा। जब अपने इस मूल दायित्व और कार्यभार को छोड़कर आलोचना दूसरे धंधों में फंस जाती है, वह अपनी एक खास चमक और गमक खो बैठती है। जब वह गुट-निर्माण, विश्वविद्यालयी सेमिनारों और विदेश यात्राओं के जुगाड़ में सिमट जाती है, वह संकट के बीच होती है। आलोचना खुले कंठ से आलोचक का समर्थन या विरोध मांगती है। गोष्ठियों, सेमिनारों और लोकार्पण कार्यक्रमों में आयोजकों की अपेक्षाओं से निर्देशित न होकर वह रचना के मर्म को पकड़ती और छूती है। आलोचक के रूप में न रामचंद्र शुक्ल का विरोध करनेवालों की कमी थी, न ही आज रामविलास शर्मा के लेकिन शुक्लजी के विरोधी भी इसे मानते थे कि शुक्लजी के साथ आप 'हां' कहें 'ना' बीच में किसी संशय या अनिर्णय की स्थिति में नहीं रह सकते। सुरेंद्र चौधरी ने रामविलास शर्मा के बारे में लिखा है- 'रामविलास शर्मा से आपको लाख शिकायतें हों, लेकिन आप उन्हें विचारधारा के घालमेल का दोषी नहीं ठहरा सकते।' अच्छी और ईमानदार आलोचना की यह मूल कसौटी है। आज आलोचना बहुत लिखी जा रही है लेकिन उसका कितना हिस्सा इस कसौटी पर खरा उतरता है? अपनी धारणाओं एवं स्थापनाओं के लिए इधर आलोचक में जोखिम उठाने की प्रवृत्ति घटी और छीजी है। आलोचक जोड़-तोड़ करके पुरस्कार दिलवा सकता है, युवा लेखकों के प्रकाशनार्थ पांडुलिपि पुरस्कार के रूप में एक बड़ी राशि की व्यवस्था करवा सकता है, फिर उस पुरस्कृत लेखक की उसी रचना पर अपनी पत्रिका का एक पूरा अंक

केंद्रित कर सकता है। बदले में कृतज्ञ भाव से यही लेखक उसकी फौज के वफादार सिपाही और कारकून बनकर आलोचक के हितों और पक्ष की लड़ाई लड़ते हैं। दस तरह के धंधों में उलझकर जिसे अपनी पत्रिका को देखने-संवारने की फुरसत नहीं है, वह दूसरी पत्रिकाओं में संरक्षक और सलाहकार के रूप में अपना नाम देने में कोई असुविधा अनुभव नहीं करता। नैतिकता की कोई कील उसे कभी और कहीं नहीं चुभती। इसका नतीजा यह होता है कि मूल्यांकन न उन युवा लेखकों का कायदे से हो पाता है न ही उन स्थापित आलोचकों का क्योंकि संस्तुति और संरक्षण में फंसकर आलोचना अपनी मूल प्रकृति और दायित्व से ही दूर हो जाती है।

इन आलोचकों की यह कोशिश रहती है कि एक उपयोगी और कारगर मंच के रूप में किसी बड़े प्रकाशन संस्थान की सुस्थापित और कभी अपनी भूमिका से इतिहास बनी पत्रिका पर अपना कब्जा बना रहे। अपने दंद-फंद में फंसकर उनके पास इतना समय नहीं है, न ही अब इसकी क्षमता उनमें बची है, कि उस पत्रिका को पहले जैसी चमक दे सकें लेकिन उसके दायित्व से मुक्त होकर किसी युवा और संभावनाशील संपादक को इसका अवसर भी नहीं देंगे।

रामविलास शर्मा और शिवदान सिंह चौहान के बीच अनेक मुद्दों पर गहरे मतभेद थे लेकिन जब रामविलास शर्मा ने दो वर्षों तक 'समालोचक' का संपादन किया, शिवदान सिंह चौहान ने अपने अनेक महत्वपूर्ण निबंधों के साथ अफ्रोएशियन लेखक सम्मेलनों से संबंधित अपनी डायरियां- 'ताशकंद डायरी' और 'दिल्ली डायरी'- 'समालोचक' में ही प्रकाशनार्थ दीं। तब आलोचक अपने विरोधी का भी सम्मान करता था। आज आलोचक और संपादक अपनी जेब से काली और सफेद सूचियां रखकर चलता है। चहेते लेखकों पर, युवा-प्रतिभा के संरक्षण एवं प्रोत्साहन के नाम पर पहली या दूसरी पुस्तक पर ही पूरा अंक केंद्रित करते हैं और कथित रूप से विरोधी लेखकों को उसमें छपते नहीं देते। अज्ञेय ने कभी भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' पर यशपाल से लिखवाने का प्रस्ताव रखा था ताकि आलोचना में विचारों के स्फुलिंग उठें और रचना का प्रतिपक्ष भी सामने आए। आज आलोचक-संपादक ऐसी किसी संभावना को ही समाप्त कर देता है। नंददुलारे वाजपेयी जब 'आलोचना' के संपादक थे, उन्होंने जैनेंद्र कुमार के 'जयवर्धन' पर यशपाल से लिखवाया था। बाद में, यशपाल की इसी समीक्षा को 'पकड़ के बाहर का यथार्थ' शीर्षक देकर देवीशंकर अवस्थी ने 'विवेक के रंग' में सम्मिलित किया था। आज ऐसी संभावनाएं विरल हैं। पत्रिकाएं बेहिसाब हैं लेकिन वे संपादकों की अपनी पत्रिकाएं हैं। आलोचना के लिए पुस्तकों का चयन वहां संपादकों के अपने आग्रहों और रुचियों से तय होता है। तात्कालिक जरूरतों की भी इसमें एक नियामक भूमिका होती है। सब कहीं संपादकों के अपने समीक्षक और आलोचक हैं। फिर विज्ञापन सहित दूसरी साहित्येतर अपेक्षाओं के अपने दबाव होते हैं। एक ऐसी पत्रिका की जानकारी भी मुझे है जो एक निश्चित राशि लेकर 'सहयोगी संपादक' के रूप में, व्यक्ति का नाम देती और बदलती थी भले ही अपने नाम से प्रति वर्ष वह एक विशिष्ट लेखक को सम्मानित करती हो। यदि संपादकों के गुटों के बाहर का कोई आलोचक अपनी पसंद की किसी महत्वपूर्ण और अच्छी किताब पर लिखना

चाहता है, जरूरी नहीं उसकी सारी कोशिशों के बावजूद इसका अवसर उसे मिले। व्यापक परिदृश्य में भी उत्कृष्ट और उल्लेखनीय रचना का निर्णय अब चंद संपादकों की इच्छा और मर्जी से होता है। कोई भी ईमानदार आलोचक एक बाहरी तत्व की तरह इस सबको सिर्फ देख सकता है। उसे या तो इन संपादकों की अपेक्षाओं का हिस्सा बनना है या फिर निष्क्रिय बने रहकर राह से हट जाना है। किसी कारगर हस्तक्षेप की स्थिति में वह नहीं, अपने सारे काम और थोड़ी-बहुत साख के बावजूद।

गले-गले तक संकट में धंसी इस आलोचना को केवल साक्षी-भाव से देखते रहने की विवशता अंततः आलोचक के संकट में बदल जाती है। इसी बिंदु पर आकर आलोचना का संकट आलोचक का संकट भी बन जाता है।



## आलोचना परिदृश्य : एक विहंगम दृष्टि

गिरीश्वर मिश्र

आलोचना यानी 'देखना' या समीक्षा/समालोचना अर्थात् 'सम्यक रूप से देखना' दोनों का ही आशय किसी रचना की व्याख्या और मूल्यांकन से जुड़ी क्रिया से है। अस्तित्व की दृष्टि से देखें तो साहित्यिक रचना पहले जन्म लेती है और आलोचना उसकी अनुवर्तिनी होती है। किसी भी अध्ययन क्षेत्र के लिए आलोचना एक पुष्ट वैचारिक आधार प्रदान करती है। वह आलोचक और पाठक को दृष्टिसंपन्न करती है।

साहित्य का परिसर इस अर्थ में उन्मुक्त होता है कि उसमें प्रवेश के लिए किसी प्रकार के अनुशासन का बंधन नहीं होता है। कल्पनाशीलता और सृजनात्मकता का भी यही तकाजा होता है कि रचनाकार पर किसी तरह का बंधन न हो। उसे पूरी छूट रहती है कि उसे जैसा रुचे वैसा रुचे:

*कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू  
यथास्मै रोचते विश्वं तथैतत् परिकुर्वते।*

वह विश्व के रचइता प्रजापति से कमतर नहीं आंका जाता है। उसकी स्वायत्तता और स्वाधीनता सर्वोपरि होती है। वह, जो उपस्थित है, उसका अतिक्रमण करता है, कुछ भिन्न करता है और अपूर्व को प्रस्तुत करता है।

आज इक्कीसवीं सदी में हम एक नए देश काल में जी रहे हैं। देश का विस्तार हो रहा है क्योंकि आवागमन और संचार के साधन बड़े ही प्रभावशाली हो रहे हैं। अब सब कुछ, सब जगह एक साथ दृश्यमान हो पा रहा है। काल को पंख लग गए हैं वह और वेगवान हो चला है। मनुष्य की इच्छा और कर्म का वितान विलक्षण रूप से व्यापक हो रहा है। रचना के लिए यह निश्चय ही एक युगांतरकारी संदर्भ है जिसमें रचनाशीलता के नए-नए आयाम उद्घाटित हो रहे हैं। इस पर हम फूले नहीं समा रहे हैं। पर यह दृश्य का एक पहलू है और एक अधूरी दास्तां मात्र ही पेश करता है। इसके आवरण में दुःख और दर्द भी है, युद्ध और मृत्यु की विभीषिका भी है, गरीबी और अशिक्षा भी है, असमानता और भेदभाव भी है। कहने का अर्थ यह कि आज की दुनिया निरपेक्ष रूप से बेहतर है, यह नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी लगता है कि सिर्फ शोषण के रूप और सज्जा में फर्क आया है। भारत में गरीबी और अमीरी के बीच

का अंतर कुछ बढ़ा ही है। यह जरूर है कि महाधनिकों (बिलेनियर लोगों) की संख्या बढ़ गई है। लालसा और आकांक्षा चरम पर पहुंच रहे हैं। ऐसे में आलोचक का (सामाजिक) दायित्व और विवेक पहले से ज्यादा जिम्मेदारी का हो गया है। पर इस पर चर्चा के पहले अच्छा होगा कि आलोचना को हम उसके अपने आंतरिक संदर्भ में भी देख लें।

भारतीय काव्यशास्त्र की मानें तो आलोचना कर्म भावयित्री प्रतिभा का क्षेत्र है। इसकी अपेक्षा होती है कि रचना के आस्वाद के लिए एक अनुशासित मानस वाला 'भावक' तैयार हो। 'सहृदय', 'रसिक' या 'सामाजिक' होने के लिए अध्ययन और प्रशिक्षण की आवश्यकता प्रतिपादित की गई और 'अरसिक से कवित्व-निवेदन को कवि का दुर्भाग्य' ही माना गया। अतः आलोचना के लिए प्राचीन विचारकों ने मात्र नैसर्गिक प्रतिभा को पर्याप्त नहीं माना और अभ्यास को भी महत्त्व दिया गया। इसके प्रशिक्षण के लिए परंपरा का ज्ञान और शास्त्र का अनुशीलन दोनों ही अपेक्षित हैं।

स्मरणीय है कि 'साहित्य' की भारतीय अवधारणा स्वयं में एक प्रकार के सहकार या पारस्परिकता के मूल्यबोध का आंतरिक आग्रह रखती है जिसमें कल्याण या मंगल की भावना स्वाभाविक रूप में उपस्थित है। आलोचना का भी यही आधार बनता है। इसमें प्रवृत्त हो कर आलोचक अपने मूल्यबोध या मूल्याग्रह के अनुरूप आलोच्य रचना के रसास्वादन या उसके तात्पर्य या आशय के ग्रहण, उसके गुण-दोष का विवेचन और तदनु रूप निर्णय करती है। आरंभ में यह प्रयास साहित्यिक कृति की आंतरिक संरचना के गहन विश्लेषण से जुड़ा था। आलोचना काव्य के अर्थ और शिल्प को ले कर उसकी गुणवत्ता के विश्लेषण पर ध्यान केंद्रित रखती थी। 'औचित्य', 'ध्वनि', 'रीति', 'रस', 'वक्रोक्ति' और 'अलंकार' जैसे काव्य-निकषों को लेकर विशद शास्त्रीय विवेचन की सुदीर्घ परम्परा का संभवतः यही प्रयोजन था। अनेक आचार्यों ने काव्य ग्रंथों की टीकाएँ भी लिखीं हैं। कालिदास पर मल्लिनाथ की टीका प्रसिद्ध है। इस तरह की आलोचना कवि के अभिप्रेत अर्थ को हृदयंगम करने में सहायता के लिए की जाती थी। राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में अरोचकी, सत्रिणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्वाभिनिवेशी चार तरह के आलोचकों की चर्चा की है। इनमें अंतिम कोटि 'तत्वाभिनिवेशी' सर्वश्रेष्ठ है। ऐसा आलोचक काव्य-श्रम को जानता है, शब्दों की गुम्फन विधि का विवेक रखता है, सूक्तियों से आह्लादित होता है, सघन रसामृत का पान करता है तथा गूढ़ तात्पर्य का चिंतन करता है।

उपर्युक्त चिंतन पद्धति का प्रभाव हिंदी की आरंभिक आलोचना में स्पष्ट दिखता है। हिंदी में भी लक्षण ग्रंथ रचे गए और कई कवियों जैसे बिहारी और तुलसीदासजी की कृतियों पर टीका लिखी गई। मिश्रबंधु जब हिंदी के नवरत्न तय करने चलते हैं या बिहारी और देव को ले कर लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र अपने तर्क देते हैं तो काव्य की आंतरिक विशिष्टताओं पर ही ध्यान केंद्रित करते हैं। कहा जा सकता है कि एक प्रकार की कला-दृष्टि ही इनमें प्रमुख थी। सामाजिक मूल्यों के साथ साहित्य के सरोकार को भारतेंदु हरिश्चंद्र ने पहचाना और उसे रचना और आलोचना दोनों ही द्वारा वाणी दी। उस समय हिंदी भाषा भी गढ़ी जा रही थी

और साहित्य भी आरंभिक स्थिति में था। 'नाटक' पर भारतेन्दु की लंबी टिप्पणी को हिंदी आलोचना का आरंभ माना जाता है। तभी हिंदी की पत्र पत्रिकाएं छपनी शुरू हुईं जिनमें पुस्तक समीक्षा को स्थान मिलने लगा। इस क्रम में 'कवि वचन सुधा' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का अभूतपूर्व योगदान रहा।

'सरस्वती' के संपादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ नवजागरण के आरंभ की घटना ने साहित्य के सामाजिक सरोकार को केंद्र में लाया। भाषा के परिष्कार के साथ-साथ समकालीन समस्याओं से टकराना भी साहित्य का कार्य बन गया। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान की रचनाओं में यह स्वर और भी मुखरित हुआ। वर्ष 1904 में 'सरस्वती' में पुस्तक समीक्षा शुरू हुई। द्विवेदीजी ने स्वयं समीक्षाएं लिखीं और औरों को प्रेरित किया। पर व्यवस्थित आलोचना का आरंभ आचार्य राम चंद्र शुक्ल से होता है। सूर, तुलसी और जायसी पर उन्होंने विस्तार से विवेचन किया। 'रसमीमांसा', 'चिंतामणि' और 'हिंदी साहित्य का इतिहास' द्वारा भी शुक्लजी ने आलोचना का मार्ग विकसित किया।

परवर्ती काल में हिंदी आलोचना अनेक दिशाओं में प्रस्थित हुई और उसके अनेक रूपों का विकास हुआ। रचना, रचनाकार और उनका समय, ये सभी चर्चा के विषय रहे हैं। इस क्रम में आलोचना के प्रयोजन, मुहावरों और औजारों में भी बदलाव आया है। यहां सबका उल्लेख और आकलन संभव नहीं है पर प्रमुख आलोचकों की कृतियों पर नजर डालने से कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों को पहचाना जा सकेगा। इस क्रम में अग्रणी आलोचक महानुभावों और उनकी प्रमुख रचनाओं का उल्लेख मेरी दृष्टि में अपरिहार्य प्रतीत होता है : हजारी प्रसाद द्विवेदी (कबीर, हिंदी साहित्य की भूमिका, नाथ संप्रदाय), नंद दुलारे वाजपेयी (नयी कविता), राम विलास शर्मा (निराला की साहित्य साधना, नयी कविता और अस्तित्ववाद, हिंदी जाति का साहित्य, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश) पीतांबर दत्त बड़थवाल (हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय), परशुराम चतुर्वेदी (कबीर साहित्य की परख, उत्तरी भारत की संत परंपरा), डा. नगेन्द्र (रस सिद्धांत, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां, नयी समीक्षा : नए संदर्भ), डॉ. नामवर सिंह (छायावाद, कहानी नई कहानी, कविता के नए प्रतिमान, दूसरी परंपरा की खोज), बच्चन सिंह (साहित्य का समाजशास्त्र, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास), लक्ष्मीकांत वर्मा (नए प्रतिमान : पुराने निकष), निर्मला जैन (रस सिद्धांत और सौंदर्य शास्त्र, नई समीक्षा के प्रतिमान, उदात्त के विषय में), गोपाल राय (हिंदी उपन्यास का इतिहास), शिवकुमार मिश्र (कहानीकार प्रेमचंद रचना दृष्टि और रचना शिल्प, यथार्थवाद, मार्क्सवादी साहित्य चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत), मैनेजर पांडेय (भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, साहित्य और इतिहास दृष्टि), रमेश कुंतल मेघ (अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण), देवी शंकर अवस्थी (नयी कहानी : संदर्भ और प्रगति), गजानन माधव मुक्तिबोध (कामायनी : एक पुनर्विचार, नए साहित्य का सौंदर्य शास्त्र), राजेंद्र यादव (एक



दुनिया समानांतर, कहानी : स्वरूप और संवेदना), रामस्वरूप चतुर्वेदी (हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास), सुधीश पचौरी (निर्मल वर्मा और उत्तर उपनिवेशवाद, आलोचना के आगे), नंद किशोर नवल (हिंदी आलोचना का विकास, कविता की मुक्ति), आनंद प्रकाश दीक्षित (काव्य में रस), विद्यानिवास मिश्र (रीति विज्ञान, सहृदय, अनछुए प्रश्न), विश्वनाथ त्रिपाठी (कुछ कहानियां कुछ विचार, हिंदी आलोचना, देश के इस दौर में), कृष्णदत्त पालीवाल (हिंदी आलोचना के नए वैचारिक सरोकार, हिंदी आलोचना का सैद्धांतिक आधार, उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य), ओमप्रकाश वाल्मीकि (दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र) तथा पुरुषोत्तम अग्रवाल (अकथ कहानी प्रेम की)। यह सूची किसी भी तरह स्पष्टतः सर्वसमावेशी नहीं है परंतु इससे आलोचना की बदलती परिधि और प्रवृत्तियों की झलक जरूर मिलती है। आज हिंदी की आलोचनात्मक पत्रिकाओं में सतत आलोचना प्रकाशित हो रही है और विभिन्न साहित्य विधाओं में प्रकाशित रचनाओं को ले कर कई नए प्रश्न उठाये जा रहे हैं।

साहित्य के विश्लेषण में आलोचक या समीक्षक द्वारा प्रयुक्त 'वाद' एक प्रकार का लेंस प्रदान करते हैं और रचना को उसी के आलोक में ग्रहण किया जाता है। रचना के उद्भव, प्रयोजन और प्रभाव को लेकर प्रत्येक वाद रचना को एक विशेष दृष्टि से प्रस्तुत करता है। सभी वादों के अपने-अपने पसंदीदे पूर्वग्रह होते हैं। यह सुविदित है कि हिंदी आलोचना में प्रयुक्त विभिन्न वादों की परिधि में आने वाली विचारधाराएं कई प्रकार की हैं और मूल्यांकन के भिन्न-भिन्न आधार मुहैया कराती हैं जिनके कारण साहित्य जगत में काफी उठापटक होती रही है और कवि या लेखक की श्रेष्ठता और हीनता को स्थापित किया जाता है। ये विचारधाराएं आलोचनात्मक चिंतन की दिशा और चर्चा का केंद्र निश्चित करती हैं। पहले इन्हें संप्रदाय (स्कूल) कहते थे फिर इन्हें वाद कहा गया। आलोचना जगत में यथार्थवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, मानववाद, मनोविश्लेषणवाद, अभिव्यंजनावाद, रूपवाद, बिंबवाद, प्रभाववाद, अस्तित्ववाद, आदर्शवाद, मार्क्सवाद, जनवाद, आधुनिकतावाद, उत्तर आधुनिकतावाद, विखंडनवाद, संरचनावाद, उत्तर संरचनावाद और देसीवाद आदि काफी चर्चित रहे हैं। अब साहित्य चिंतकों द्वारा 'विमर्श' का उपयोग किया जा रहा है जिनमें 'दलित विमर्श' और 'स्त्री विमर्श' प्रमुख रूप से उभर रहे हैं। कहना न होगा कि इन वादों की राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पृष्ठभूमियां और प्रतिबद्धताएं भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं और वे भिन्न-भिन्न कोणों से साहित्य की पैमाइश करती है।

वर्तमान समय में आलोचना का कार्य बहुआयामी हो रहा है। उसमें गुण-दोष के विवेक से आगे जाकर वैचारिक हस्तक्षेप की आकांक्षा है। आलोचना का स्वभाव रचनात्मक कर्म जैसा होता जा रहा है क्योंकि वह विकल्प भी प्रस्तुत करने को उद्यत है। विषय की विविधता के साथ वैचारिक आग्रह भी हिंदी समीक्षा पर पाश्चात्य चिंतन का भी गहरा असर है। आलोचना में प्रयुक्त अनेक बीज शब्द, अवधारणाएं और तर्क वहीं से उधार लिए गए हैं। इस बीच संचार क्रांति के फलस्वरूप हमारा परिचय-क्षेत्र बड़ी तीव्र गति से विस्तृत हुआ है और वैचारिक धरातल

विस्तृत हुआ है। भूमंडलीकरण के दौर में समाजों और संस्कृतियों की परस्पर निकटता, प्रभाव और निर्भरता के नए रूप उभर रहे हैं और साहित्य-चिंतन पर इसका सीधा असर देखा जा सकता है। आज का आलोचना कर्म क्रमशः अंतरानुशासनिक होता जा रहा है। अब बिना संस्कृति, अर्थ जगत, राजनीति और इतिहास से मुखातिब हुए सार्थक और प्रासंगिक आलोचना संभव नहीं है। आज का विश्व बहुध्रुवीय होता जा रहा है और परिस्थितियां बड़ी शीघ्रता से बदल रही हैं। ऐसे में रचना की संवेदना को संदर्भ में ग्रहण करना कठिन हो रहा है पर लेखक के बदले पाठकीय भूमिका की केंद्रीय भूमिका को स्वीकार करने वाले उत्तर आधुनिक युग में आलोचना की मुक्ति भी हो रही है। इसलिए आलोचना को रचना, रचनाकार और पाठक की परस्परता को आंकने समझने के लिए नए व्याकरण की तलाश है। इस दृष्टि से आलोचना को भी सर्जनात्मक होना पड़ेगा।



### श्रद्धांजलि

- केरल निवासी सुप्रसिद्ध गांधीवादी चिंतक के.जी. बालकृष्ण पिल्लै
- चंदामामा के पूर्व संपादक व प्रसिद्ध हिंदी सेवी बाल शौरि रेड्डी
- अकविता आंदोलन के जनक जगदीश चतुर्वेदी
- नई कविता के प्रख्यात कवि वीरेन डंगवाल
- समाजवादी विचारक व गद्यकार कृष्णनाथ
- कथा आलोचक गोपाल राय
- कथा आलोचक पुष्पपाल सिंह
- वरिष्ठ कथाकार महीप सिंह

दिवंगत सभी विभूतियों को महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,  
वर्धा की ओर से श्रद्धांजलि।

## परदेशी हिंदी आलोचना

विजय बहादुर सिंह

‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ के समालोचना खंड में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने चिंता व्यक्त करते हुए लिखा- ‘इधर दो एक लेखकों की एक और प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है। वे योरोप के कुछ कला संबंधी एकदेशीय और अत्युक्त मतों को सामने लाकर हिंदी वालों की आंखों में उसी प्रकार चकाचौंध उत्पन्न करना चाहते हैं जिस प्रकार कुछ लोग वहां के फैशन की तड़क-भड़क दिखाकर!... वे कला संबंधी विलायती पुस्तकों की बातें लेकर और कहीं मैटरलिंग (Material) कहीं गेटे (Goethe) कहीं (Tolstoy) के उद्धरण देकर अपने लेखों की तड़क भड़क भर बढ़ाते हैं। लेखों को यहां से वहां तक पढ़ जाइए, लेखकों के अपने किसी विचार का पता न लगेगा।... समालोचना के क्षेत्र में ऐसे विचारशून्य लेखों से कोई विशेष लाभ नहीं।’

शुक्लजी ने इससे पहले अपने प्रबंधात्मक निबंध ‘काव्य में रहस्यवाद’ में लिखा था- ‘यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हमारे काव्य का हमारे साहित्य-शास्त्र का, एक स्वतंत्र रूप है जिसके विकास की क्षमता और प्रणाली भी स्वतंत्र है। उसकी आत्मा को, उसकी छिपी हुई भीतरी प्रकृति को, पहले जब हम सूक्ष्मता से पहचान लेंगे तभी दूसरे देशों के साहित्य को देखना, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं। जब तक हम इस विचार-सामर्थ्य का संपादन न कर लेंगे तब तक अफ्रीका के जंगलियों की तरह-जो अंग्रेजों के उतारे कपड़े बदन पर डालकर स्वर्गियों के बीच बड़ी एंट से चला करते हैं- भद्दी नकल को ही नवीनता मानकर संतोष करते रहेंगे और सभ्य जगत के उपहास-भाजन बने रहेंगे।’ इसी निबंध में वे लगभग चेतावनी सी देते हैं- ‘नकल से किसी जाति के साहित्य का असली गौरव नहीं हो सकता। इससे उसकी अपनी संस्कृति अपनी सभ्यता और अपनी उद्भावना का अभाव ही व्यंजित होता है।’ शुक्लजी की उस उद्विग्नता चिंता और क्षोभ का कारण खोजने चलें तो पता लगेगा कि इसके केंद्र में हिंदी को छायावादी कविता और उसकी संगति करती हुई आलोचना है। बांग्ला साहित्य में आती नवीनता तो है ही।

छायावादी कविता में मुख्य लक्ष्य जयशंकर प्रसाद हैं तो आलोचना में शुक्लजी के ही छात्र नंददुलारे वाजपेयी। उन्होंने ही अपनी प्रारंभिक पुस्तक ‘जयशंकर प्रसाद’ में विदेशी लेखकों के

उद्धरण अंग्रेजी में ही दिए और छायावादी काव्य को लेकर शुक्लजी के विचारों से अपनी असहमति, से भी बेहद आक्रामक और तीखे ढंग से व्यक्त की। 'हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी' में निर्मला जैन ठीक ही लिखती हैं- 'नगेंद्र की छायावादी काव्य की सरस व्याख्याओं में नंददुलारे वाजपेयी के कर्कश सिद्धांत-विरोध में और हजारी प्रसाद द्विवेदी के नवीन इतिहास बोध में शुक्लजी की आलोचना-पद्धति से एक टकराहट के दर्शन होते हैं परंतु इन तीनों में से हरावल वाजपेयीजी ही थे। स्वयं आचार्य शुक्ल भी शायद उन्हीं से पड़ने वाली चोट का सबसे अधिक अनुभव करते थे। 'निर्मला जैन 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखे गए संदर्भ के बारे में संकेत करती हैं कि वह आलोचक कोई और नहीं, वाजपेयी जी ही थे।

प्रश्न यह कि क्या यह वाजपेयीजी और शुक्लजी का कोई व्यक्तिगत झगड़ा था या फिर हिंदी आलोचना के विकास को लेकर दो भिन्न दृष्टियों का मतभेद। इसमें तो कोई शक नहीं कि शुक्लजी जिस वक्त यह चिंता व्यक्त कर रहे थे, वह समय स्वदेशी आंदोलन का था और आश्चर्य की बात यह कि शुक्लजी गांधी के विचारों से दूर तक सहमत नहीं थे, न ही उनके मन में गांधी को लेकर वैसा सम्मान भाव था जैसा कि युवा आलोचक नंददुलारे वाजपेयी का था। वाजपेयी तो गांधीजी के आंदोलन में अपने पिता पं. गोवर्धनलालजी वाजपेयी के साथ हजारीबाग (बिहार) में सक्रिय थे और पिता की गिरफ्तारी देख, इससे बचते हुए काशी चले आए थे। फिर भी खादी पहनना और गांधी टोपी लगाना काफी दिनों तक जारी रहा। विपरीत इसके शुक्लजी धोती के ऊपर कोट और टाई लगाकर रहते थे। तब भी उनका आग्रह था कि साहित्य और आलोचना का विकास जातीय जीवन-बोध और दृष्टि के अनुरूप होना चाहिए। शुरुआती दौर में वाजपेयी अगर ऐसा नहीं कर पा रहे थे तो इसका कारण उनका वह अध्ययन था जिसमें अंग्रेजी साहित्य और दर्शन मुख्य थे। स्वभावतः उनके युवा मानस पर इसका चमत्कारी असर था जो उन दिनों की उनकी आलोचनाओं में दिखाई पड़ता था। उम्र भी उस वक्त उनकी पच्चीस-छब्बीस की थी। छायावादी कवियों-खासकर निराला और प्रसाद से उनकी गहरी और रचनात्मक अंतरंगता थी। इन कवियों को हिंदी काव्य-साहित्य में समुचित प्रतिष्ठा क्यों दी जा रही है। यह उनकी चिंता थी और यही लड़ाई वे लड़ भी रहे थे। पर आगे का उनका विकास गवाह है कि अंततः वे भी इसी मत से सहमत हुए कि विदेशी वाद-वृक्षों के लगाने से हिंदी साहित्य का अपना वह स्वाभाविक विकास नहीं होगा जिससे वह अपनी जातीय चिंतन-भूमियों पर खड़ा रह सके। इससे भी बड़ा नुकसान यह होगा कि हमें सहज प्राप्त चिंतन-परंपरा धीरे-धीरे लुप्त हो उठेगी और हम निराधार हो उठेंगे। याद किया जाए तो इसकी शुरुआत उन्होंने अपनी ऐतिहासिक समीक्षा 'प्रयोगवादी रचनाएं' में की। तब भी वे शुक्लजी से इस बात को लेकर सहमत नहीं थे कि पश्चिम की तरफ देखना ही नहीं चाहिए। अपने प्रौढ़ काल में भी वे यह फिर भी मानते रहे कि 'पूर्व और पश्चिम के कला-सिद्धांतों में साम्य की जितनी भूमि है उसका परिदर्शन क्यों न किया जाए। अंततः हमारा लक्ष्य विश्व संस्कृति के साथ अपने प्रदेश को मिलाकर एकात्मकता की प्रतिष्ठा करना ही है।' लेकिन यह आग्रह भी कि अपनी बुनियादी

पहचानों को खोकर नहीं, बल्कि अपने चिंतन-पौरुष से उन्हें हरा-भरा रखकर।

वाजपेयीजी के बाद आने वाले समीक्षकों में से हजारी प्रसाद द्विवेदी की मूल पृष्ठभूमि तो संस्कृत की ही थी इसलिए उनके साथ तो यह समस्या खड़ी ही नहीं हुई। हां, डॉ. नगेंद्र तो स्वयं ही अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन करके उतरे थे और उससे बखूबी परिचित थे। इसलिए जहां जरूरत थी या फिर स्वयं को अधिक आधुनिक और नवीन दिखाने का प्रश्न था वे बेरोक-टोक आते-जाते रहे और कभी-कभी तो जल्दबाजी में पड़ते हुए 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएं' में बगैर किसी झिझक के सीधे-सीधे लांजइनस के सिद्धांतों का आरोपण कर दिया। इससे पहले मुक्तिबोध अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में मार्क्सवादी साहित्य सिद्धांतों का तर्कपूर्ण आरोपण कर चुके थे। इन दोनों में ही 'कामायनी' की सांस्कृतिक भूमि और दृष्टि का कितना खुलासा हुआ कवि की सर्जना-प्रतिभा के साथ कितना न्याय हुआ, स्वयं भारतीय समाज की ऐतिहासिक मनोचेतना की कितनी पकड़ बन सकी इस साहित्य समीक्षा ने हिंदी समीक्षा के आगामी विकास में कितनी मदद की- ये सवाल फिर भी बचे रह जाते हैं। इस संदर्भ में निराला की साहित्य साधना (भाग-2) में कामायनी विवेचन के संदर्भ में मुक्तिबोध को लेकर डॉ. रामविलास शर्मा की टिप्पणियां देखने योग्य हैं- 'हिंदी-साहित्य में मुक्तिबोध-पूजकों का अच्छा-खासा दल है जो मुक्तिबोध के नाम का उपयोग प्रसाद साहित्य के विरोध के लिए करता है। इस दल के मुखिया लोग मुक्तिबोध के अंतर्विरोधों से कतराते हैं। वे बताएं कि जो साहित्य देश और व्यक्ति में परिव्याप्त मानव-गरिमा को प्रस्तुत करता है, वह हासग्रस्त पूंजीवाद, जर्जर सामंतवाद, हिंसक साम्राज्यवाद का प्रतिनिधि कैसे हो गया। मुक्तिबोध इन सबसे कामायनी का संबंध कभी क्रमशः कभी एक साथ जोड़ते हैं।'

मुक्तिबोध एक बड़े कवि तो हैं ही महत्वपूर्ण साहित्य चिंतक भी माने जाते हैं। उनका काव्य प्रतिभा तो प्रस्थानकारी और अभिनव है ही। उनका बहुप्रयुक्त और चर्चित चिंतन-पद 'फैंटेसी' और उनके कला-चिंतन के 'तीन क्षण' हमारे सामने हैं। पर उनके समस्त साहित्य चिंतन में भारत की साहित्य चिंतन परंपरा की शायद ही कोई भूमिका हो। वह चाहे 'एक साहित्यिक की डायरी' हो या फिर अन्य लेखन वे बार-बार पश्चिम की ही ओर जाते हैं बगैर यह परवाह और चिंता किए हुए कि स्वतंत्र भारत में कुछ भी इस संदर्भ में बचाने और बचने योग्य रह गया है। मैं प्रायः अपने कई साहित्यिक मित्रों से पूछता ही रह गया हूं कि जिसे वे 'फैंटेसी' कह 'अनुभूति की कन्या' कह रहे हैं तो वस्तुतः उसका तात्त्विक स्वरूप क्या है? वह पश्चिम के कल्पना संबंधी चिंतन के अंतर्गत आने वाली कोई सत्ता है अथवा कोई स्वतंत्र सत्ता? फिर भी इतना तो तय है कि यह पारंपरिक चिंतन-पद नहीं है। कामायनी-विवेचन के संदर्भ में भी वे फैंटेसी का प्रयोग करते हैं और कामायनी को फैंटेसी-काव्य कहते हैं। मुक्तिबोध की विशेषता यह है कि वे फैंटेसी की व्याख्या के क्रम में अपनी मौलिकता दिखाते हैं और कहते हैं कि वह 'डायनेमिक' होती है। एक जगह वे 'कल्पना तथा फैंटेसी' जैसा पद प्रयुक्त करते हुए यह संकेत अवश्य देते हैं कि फैंटेसी कल्पना नहीं है। उससे अलग कोई चीज है। उनका यह कथन भी

इसलिए विचारणीय है कि क्या इसका संबंध अरस्तू की 'असंभव संभावनाओं' से है या फिर 'जादुई यथार्थवाद' से। इतना तो निश्चित है कि यह भारतीय चिंतन-पद नहीं है। कामायनीकार जयशंकर प्रसाद तो अपने काव्य को भूमिका में 'रूपक काव्य' भी कहते हैं जो एक जाना-पहचाना भारतीय पद है। यहां एक और बात जिसे भारतीय काव्य-समीक्षा अन्यतम महत्व देती चली है वह है काव्य का प्रभाव-व्यापार। साधारणीकरण का सारा चिंतन इसी पर टिका हुआ है। मुक्तिबोध ही नहीं, उनके बाद आने वाले अधिकांश प्रगतिशील आलोचक इस समस्या पर कोई ऐसा गहरा विचार करते हों याद नहीं पड़ता। उनकी सारी आलोचना वर्गीय दृष्टियों में कैद होकर रह गई हैं। रामविलासजी जरूर अपने उत्तरवर्ती काल में इसमें काफी बदलाव करते हैं और उनका यह नया रूप उनके अपने ही खेमे या संप्रदाय के बीच विवादास्पद हो उठता है। इस संदर्भ में नामवर सिंह का लेख 'इतिहास की शव-साधना' याद किया जा सकता है। काश! इन महारथियों ने संस्कृत साहित्य के समुद्रबंध नामक व्याख्याकार की व्याख्याओं से स्वयं को गुजारा होता पर इसमें इनकी प्रगतिशीलता के संदिग्ध होने का खतरा साफ था।

सच तो यह कि स्वयं प्रगतिशील खेमे में प्रगतिशील आलोचना के स्वरूप और चरित्र को लेकर काफी वाद-विवाद और असहमतियां थीं। एक तरफ शिवदान सिंह चौहान और रांगेय राघव थे जो सोच रहे थे कि चली आती परंपरा का अब कोई अर्थ नहीं रह गया है, इसलिए उसका निषेध या भंजन ही एकमात्र उपाय है। वस्तुतः इनके मानस पर पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा और विचारों का इतना तूफानी असर था कि ये उसी को साहित्य मानने को तैयार थे जो परंपरा भंजनकारी हो और एक ऐसी को साकार करता हो जिसमें सर्वहारा का चमत्कारी वर्चस्व दिखाई पड़ता हो। ऐसे लोग तुलसीदास को ब्राह्मणवाद और सामंतवाद का पोषक और छायावाद को पलायनार्थी घोषित करते चल रहे थे। 1937 में अपने एक निबंध में लिखा कि छायावाद की धारा ने हिंदी के साहित्य को जितना धक्का पहुंचाया उतना शायद ही हिंदू महासभा या मुस्लिम लीग ने पहुंचाया हो। रेखा अवस्थी ने अपने शोध-प्रबंध 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य' में यह दर्ज किया है कि 'प्रगतिशील लेखक संघ के सन 38 के घोषणापत्र में भी अपनी परंपरा के प्रति यह नकारात्मक दृष्टिकोण मौजूद था। सारे पिछले साहित्य के बारे में यह कहना कि वह रूप और विषयवस्तु की दृष्टि से निस्तेज हो गया है और उसने जड़वाद तथा निर्जीव और रुग्ण विचारधारा अपना ली है- एक प्रकार से परंपरा भंजन का निम्न पूंजीवादी भटकाव था।' यह एक प्रकार का अंधनकारवाद ही था जो कैसी भी आलोचना की सेहत के लिए शायद ही मुफीद साबित हो।

इससे भिन्न दृष्टि रखनेवालों में रामविलास शर्मा, चंद्रबली सिंह, हंसराज रहबर आदि थे जो मानते थे कि हमें अपनी जातीय परंपरा और संस्कृति का द्वंद्वात्मक ढंग से अध्ययन और विवेचन करना चाहिए। परंपरा के मृत एवं जीवंत तत्वों की गहरी छानबीन करके उस जनचेतना और जन-संस्कृति का विकास करना चाहिए जो प्रगतिशील सपनों के अनुरूप हो।

इन मुद्दों से यह तो पता चलता ही है कि यह एक नई साहित्य-दृष्टि और राह थी जो

स्वतंत्रता का भी भारतीय समाज को मध्यवर्गी बुर्जुआजी के चंगुल से निकालकर सर्वहारा के नेतृत्व में एकजुट करना चाहती थी। कथित 'प्रगतिशीलता' को भी उसने इसी समाजशास्त्रीय, अर्थशास्त्रीय विचारधारा का अनुकरण करने का निर्देश दिया। फलतः प्रगतिशील आंदोलन के पहले खेमे के अधिकांश कवि अपने स्वाभाविक अनुभवों की भूमि की अनदेखी करते हुए ऐसी रचनाएं करने लगे जो आंदोलन की ही रचनाएं बनकर रह गईं। शील, सुदर्शन, मलखान सिंह सिसौदिया एक खास काट के कवि बनकर रह गए। ऐसा भी नहीं कि सर्जना की भूमि इतनी विशुद्ध है कि वह लोकव्याप्त किसी विचार या विचारधारा से परहेज करती चली हो। कबीर, सूर, तुलसी अपनी-अपनी विचारधारा या दार्शनिक दृष्टि में अपादमस्त रंगे और डूबे हुए हैं। किंतु काव्य-कला की कीमत पर नहीं। फिर एक ऐसी विचारधारा जो किताब से निकलकर लोकजीवन में रची और भिदी न हो, वह भला किसी सर्जक के लिए कितनी सार्थक और उपयोगी होगी?

आज तो कई अर्थशास्त्री समाजविज्ञानी भी यह मानने और कहने लग गए हैं कि मार्क्सवाद भारतीय समाज की सैकड़ों गहन परतों को पहचानने और समझने में निरंतर चूकता रहा है। इसका एक कारण तो यह कि भारत के मार्क्सवादियों ने अपनी निजी प्रगतिशीलता की तो चिंता की किंतु मार्क्सवाद और भारतीय समाज के उन संधि-बिंदुओं की तलाश नहीं की जिससे उसका राष्ट्रीयकरण या भारतीयकरण हो पाता। अभी ज्यादा दिन नहीं हुए जब भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों ने यह संकल्प लिया था कि वे हिंदी पट्टी में अपने असर को बढ़ाएंगी तभी सच्चिदानंद सिन्हा नामक एक समाजविज्ञानी ने यह सवाल किया था कि बढ़ाएंगी कैसे, वे तो अभी तक केवल मजदूरों की राजनीति करती रही हैं, जबकि सारी हिंदी पट्टी किसान आबादी की है। पूरनचंद्र जोशी जैसे सम्मान्य समाजवादी और मार्क्सवादी ने भी यह टिप्पणी की है कि मार्क्सवाद आर्थिक मनुष्य की व्याख्या तो भली-भांति कर लेता है किंतु मनुष्य सिर्फ इतना ही तो नहीं होता और यहीं वह अधूरा लगता है। फिर भारत का अध्ययन सिर्फ वर्गीय दृष्टि के आधार पर नहीं किया जा सकता। उसका एक और बड़ा यथार्थ वर्ण और जाति-व्यवस्था है, कर्मफल के सिद्धांत हैं आदि-आदि। इस मायने में याद करें तो लोहिया में इस भारतीय समाज की पकड़ और समझ कहीं ज्यादा थी। इसीलिए वे जाति तोड़ो, दाम बांधों और रामायण मेला साथ ही अंग्रेजी हटाओ का आंदोलन एक साथ लेकर चल रहे थे। राम-कृष्ण और शिव की उनकी व्याख्याएं भी इस संदर्भ में याद आती हैं।

वामपंथी कथाकारों में राहुल, यशपाल, रांगेय राघव प्रमुख हैं। फिर भी न जाने क्यों स्वयं प्रगतिशील आलोचक अभी तक गांधीवादी प्रेमचंद को आइकॉन माने चल रहे हैं? इस दृष्टि से केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और त्रिलोचन जैसे कवि अधिक संतुलित और लोकबद्ध हैं। यथार्थ की बुनियादी जमीनों को न छोड़ते हुए भी अपनी काव्य-रचना में ये भारतीय समाज की क्रांतिकारी चेतना के अधिक करीब हैं। प्रगतिशील हिंदी आलोचना ने अपनी जहां-तहां की चर्चा में इन कवियों का जिक्र करते हुए उस देशी यथार्थ के प्रति अपने झुकाव व्यक्त किए हैं

जो इनकी कविता का अपना यथार्थ भी है। तब भी इन कवियों की तुलना में हिंदी की यह आलोचना उस ज्ञान-राशि का उपयोग नहीं ही कर सकी है जो एक भरी-पूरी परंपरा के रूप में हमारे पास है। भीतर ही भीतर यह विचारधारा अधिक वादग्रस्त हो तो गई जिसके प्रति सचेत करते हुए आलोचक नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा- 'वाद तो एक स्थूल और परिवर्तनशील दृष्टि है। काव्य जीवन-व्यापी अनुभूति है... काव्य का कार्य है संवेदना की सृष्टि करना, वाद का काम है ज्ञान विस्तार करना... वाद का स्वरूप एकदेशीय है, काव्य का सार्वभौम...। काव्य का लक्ष्य मानव-स्वभाव और मानवीय भावना के मार्मिक और स्थायी रूपों का चित्रण करना। वाद का लक्ष्य है तथ्य-विशेष की बौद्धिक व्याख्या करना। काव्य सूक्ष्म और असाधारण परिस्थिति में मानव-चरित्र और आचरण की भावमयी झांकी दिखाता है, वाद साधारण और असाधारण समस्त परिस्थिति का सामूहिक आधार लेकर चलता है और उसी पर अपना नियम-निरूपण करता है। काव्य-कल्पना एक बार कवि की वाणी का आश्रय लेकर जो रूप निर्धारण करती है, उसके अनुरूप अभिव्यक्ति प्रत्येक सहृदय को सभी समयों और सभी देशों में अनायास ही होगी, किंतु वाद के द्वारा जिस सत्य का एक बार निरूपण होता है, वह नया ज्ञान उपलब्ध होने पर फीका भी पड़ जाता है।' ('साहित्य और सामाजिक जीवन' निबंध से) वाजपेयी के बाद आने वाले अन्य आलोचकों में सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण हैं डॉ. रामविलास शर्मा। उन्होंने जरूर कभी परंपरा की अनदेखी नहीं की बल्कि उसके अधुनातन रचनाकारों, आलोचकों- भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद और आचार्य शुक्ल की मार्क्सवादी व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। उनकी दृष्टि निस्संदेह तर्कपूर्ण, उदार और वैचारिक ईमानदारी से भरी हुई थी। बीसवीं सदी के सातवें दशक में वे 'निराला की साहित्य साधना' जैसा प्रवर्तनकारी काम कर रहे थे और तभी 'आलोचना' में हमें उनका कहा हुआ वाक्य पढ़ने को मिला कि छायावाद का विरोध करना भारतीय संस्कृति का विरोध करना है। साहित्य और विचारधारा के प्रश्न को वे पहले वामपंथी आलोचक हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से जातीय संस्कृति से जोड़ा। फिर तो वे निरंतर इसी दिशा में बढ़ते गए और मार्क्सवाद को राष्ट्रीय स्वरूप देने की कोशिश की। प्रश्न तब भी यह रह ही जाता है कि वे भारतीय साहित्यशास्त्र की उस विरासत की तरफ फिर भी क्यों नहीं गए जिससे भरत, भामह, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त की चिंतन परंपरा को गति मिलती। क्या इसका कारण राष्ट्रीय जीवन का वह मौजूदा यथार्थ और उससे जुड़े प्रश्न थे जो उनके लेखक के लिए अहम बने हुए थे? या फिर संस्कृत भाषा संबंधी उनकी अपनी सीमाएं जो उस तरफ उन्हें जाने से निरंतर बरजती रहीं। इस तुलना में नामवर सिंह जैसे प्रतिभा-प्रखर आलोचकों की भूमिका किंचित भिन्न है। वे लगभग बीच में खड़े हैं। उनके एक ओर अपनी जातीय चिंतन परंपरा है तो दूसरी ओर पश्चिमी साहित्य चिंतन की वे नवीन उद्भावनाएं भी जिनका सटीक उपयोग और प्रयोग वे करते हैं। यहां तक कि समाजशास्त्रीय और कलावादी चिंतन भूमियों के उपकारी तत्वों को एक साथ लाते हुए वे यह संदेश तो देते ही हैं कि वादग्रस्तता और वाद बद्धता उतनी जरूरी नहीं है जितनी की वह प्रखर साहित्य-दृष्टि जिससे सर्जनात्मकता



और आलोचनात्मकता दोनों का हित संवर्द्धन होता है। शास्त्र में से शास्त्र पैदा करने में उनकी प्रवृत्ति शायद ही कभी रही हो। विपरीत इसके वे निरंतर इस कोशिश में रहे कि सर्जना की मौलिकता के समानांतर आलोचना में भी मौलिकता के अंखुए फूट सकें। उनसे बढ़कर भला यह कौन जानता है कि यह मौलिकता किन शर्तों पर जन्म लेती है। अपनी पुस्तक 'वाद-विवाद और संवाद' के निबंध 'आलोचना और संस्थान' में वे लिखते हैं- 'खास तौर से हिंदी के प्रोफेसर आलोचकों को लेकर कि 'उनकी आलोचना शायद ही कभी भारतीय काव्य-चिंतन की ओर उन्मुख होती हो। लेखक तो खैर इस मामले में विचित्र किंतु सत्य हैं। मैं हैरान रह जाता हूँ कि प्रत्येक उदाहरण और प्रसंग उसी मक्के-मदीने से आता है। वे बेचारे शायद ही सोच पाते हों कि यहां वही बातें दस-दस तरह से कही गई हैं। पर मालूम हों तब न? तब होता क्या है न कोई रवींद्र बन पाता है न निराला। इनको शायद ही पता हो कि संस्कृत आलोचना किन-किन सिद्धांतों, शास्त्रों और दर्शनों की मदद लेती हुई आगे बढ़ती है। रीति, वक्रोक्ति अलंकार के अलावा रस और ध्वनि के पीछे कितने वाङ्मय खड़े हैं। यह चुनौती तो है पर शिव का यह धनुष उठाए कौन?'

इस संदर्भ में अगर याद भी करना चाहें तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अवश्य इस विचार-क्षेत्र में उतरे और यथाशक्ति अपना योगदान किया। शायद पं. केशव प्रसाद मिश्र का नाम भी इस सूची में जुड़ना चाहे। पर इसके बाद की हिंदी आलोचना ने तो इस चुनौतीपूर्ण अखाड़े में उतरने की जहमत ही मोल नहीं ली। कइयों ने तो माना ही नहीं कि यह भी कोई अखाड़ा है और कइयों ने इसे गया-बीता और अप्रासंगिक मान दरकिनार कर दिया।

'कल्पलता' शीर्षक निबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं- 'मरे बच्चे को गोद में दबाए, बंदरिया मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती परंतु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नई अनुसंधित्सा के नशे में चूर होकर अपना सर्वस खो दें।' बात किंतु इतनी ही नहीं रह गई है। अधिकांश युवा-आलोचकों की आलोचनाएं केवल पाश्चात्य साहित्य विचारकों के उद्धरणों से पटी पड़ी हैं। इन सबको पढ़ते हुए बार-बार, मुझे कवि केदारनाथ सिंह की कविता 'दीपदान' याद आती है जिसमें उन्होंने लिखा- 'जाना फिर जाना, उस तट तक भी जाना, पर पहले अपना यह आंगन कुछ कहता है।' बात फिर भी घूम-घाम कर 'शिव के धनुष' की ओर आती है। उठाए कौन? हमारे लेखक और आलोचक यह भी याद करने को तैयार नहीं कि एशियाटिक सोसाइटी से जुड़े विदेशी विद्वानों ने भारत को समझने के लिए संस्कृत भाषा और साहित्य का गहरा अध्ययन किया। यह और बात है कि उपयोग उन्होंने उसका सिर्फ अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया। समकालीन हिंदी आलोचक निस्संदेह बेहद पढ़ाकू और अध्यवसायी हैं किंतु परंपरा के उत्खात-प्रतिरोपण में उसका कोई विश्वास नहीं है। वह अपना काम सिर्फ उधार के पारिभाषिक शब्दों और मुहावरों से इसलिए चलाती हैं कि बस जैसे काम चलाना हो। इस संदर्भ में एक मजेदार प्रसंग आजकल बहु प्रयुक्त पद 'नैरेशन' को लेकर याद

आता है जिसके बारे में हमारे कई चर्चित आलोचकों को यह ज्ञात ही नहीं कि भारत में आख्यान और कथा दो भिन्न चीजें हैं। ए.बी. कीथ ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखा है कि कथा तो शुद्ध कल्पना प्रधान होती है जबकि आख्यान में इतिहास का तत्व भी होता है। वाणभट्ट की 'कादंबरी' कथा है, 'हर्षचरित' आख्यान।

समकालीन हिंदी आलोचना ग्राम्सी, देरिदा आदि ढेर सारे चिंतकों की उद्धरणी बनकर रह गई है। किसी की अभिरुचि अपनी विरासत की ओर मुंह करने की बची नहीं है। शायद इससे आधुनिकता को बट्टा लगता हो। यह अकेले प्रगतिशील खेमे की प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती। इलाहाबाद के परिमल-ग्रुप के खेमे की पदावली और दृष्टि का भी यही हाल है। अकेले विजयदेव नारायण साही जरूर हैं जो अपनी लोहियावादी (यूं तो ये सभी प्रायः लोहियावादी ही हैं) साहित्य-दृष्टि के चलते स्वतंत्र और तर्कपूर्ण आलोचना-पथ अपनाते हैं। मजेदार फिर भी यह है कि प्रयोगवादी अज्ञेय, धर्मवीर भारती जैसे प्रतिभाधर क्रमशः भारतीय अनुभव-भूमियों की तरफ लौटते दिखाई देते हैं। अन्यथा तो अधिकांश बकौल धर्मपाल 'किसी और के संसार में रहने लगे हैं।'

यह स्थिति जितनी वेदनामय है, उतनी ही विडंबनामय भी। जिस तरह खुद को जाने बिना संसार को नहीं जाना जा सकता उसी तरह अपने स्रोतों और आधारों को जाने बिना काम तो चलाया जा सकता है पर कोई ऐसी लकीर नहीं खींची जा सकती जिसे यह देश और समाज मान ले। हमारी सांस्कृतिक चित्तवृत्ति कोई थोपी हुई चीज नहीं होती। साहित्य इसी की अभिव्यक्ति अगर करता है तो फिर आलोचना इससे कैसे विरत हो सकती है?



## ‘पाठक का प्रतिनिधि होता है आलोचक’

नामवर सिंह

आलोचक के बारे में महाकवि निराला ने लिखा है ‘फल के भी उर का कटु त्यागा, मेरा आलोचक एक बीज।’ यानी रचनाकार फल-फूल से लदा वृक्ष होता है- फल की तरह मीठा और कोमल जबकि आलोचक बीज की तरह कड़वा और कठोर, याद करें आम की गुठली। साहित्य अकादेमी के सचिव और मलयालम कवि के. सच्चिदानंदन तथा अयप्पा पणिककर तथा अन्य लोग भी जो कह रहे हैं उनसे एक चीज बार-बार ध्वनि हो रही है- थियरी, थियरी, थियरी। मैं आज जो कहने जा रहा हूँ वह बात थोड़ी कड़वी है फिर भी मैं कहूँगा क्योंकि एक आलोचक होने के नाते मुझे कहना चाहिए। आज कुछ ज्यादा पढ़े-लिखे लोग यह चाहते हैं कि भारत में भी ‘थियरी’ एक हो जैसा पश्चिम में हुआ था। पश्चिम में जो ‘थियरी’ चली या चल रही है उसकी प्रयोगशाला फ्रांस है और कारखाना अमरीका के विश्वविद्यालय। हमारे तुलसीदास लिख गए हैं कि कुछ चीजें पैदा कहीं होती हैं और शोभा कहीं और पाती हैं- ‘उपजहिं अनत, अनत छवि लहहिं।’ ये लोग ‘थियरी’ के लिए त्राहि-त्राहि मचाए हुए हैं और इससे सबसे बड़ा खतरा यह हो गया है कि पढ़ना ही खत्म होता जा रहा है। यह सोच कि ‘थियरी’ हो जाने से भारतीय आलोचना समृद्ध हो जाएगी, बहुत सारे लोग थियरी-थियरी चिल्ला रहे हैं।

पश्चिम के कई विद्वान हमें यही बता भी रहे हैं कि चूंकि आज हमारे पास कोई ‘थियरी’ नहीं है इसलिए हम अपने संस्कृत काव्यशास्त्र को पुनर्जीवित करें। ठीक उसी तरह की यह बात है कि जैसे हिंदुत्व को ‘रिवाइव’ करें यानी वे स्वदेशीवाद के साथ-साथ संस्कृत काव्यशास्त्र के रिवाइवल की बात कर रहे हैं। हमें याद रखना चाहिए कि उत्तर उपनिवेशवाद भी अभी तक उपनिवेशवाद ही है। उनके इस आग्रह के कई खतरे हैं जिसका एक सिरा फासीवाद तक जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र का आरंभ सातवीं-आठवीं सदी में तब हुआ जब लगभग सभी महान लेखक हो चुके थे और स्वर्णयुग समाप्त हो रहा था जिसे बनाए रखने के लिए काव्यशास्त्र का विकास हुआ। पश्चिम आज हमें यह बताकर कि उस काव्यशास्त्र को रिवाइव किया जाए यह समझा रहा है कि हम काव्य छोड़कर ‘थियरी’ में ध्यान लगाएं। हमें याद रखना चाहिए कि ‘थियरी’ के लिए साहित्य एक ‘इलस्ट्रेशन’ है जो आलोचना को संकीर्ण और अमानुषिक बनाती

है। आनंदवर्धन को पढ़ने से पता नहीं चल सकता कि कालिदास कितने बड़े कवि थे। इलस्ट्रेशन माडल बड़ी रचना को छोटा करता है क्योंकि तब आलोचना रचना की व्याख्या करने के बजाए 'थियरी' का ही प्रतिपादन कर रही होती है।

'थियरी' से दूसरा खतरा यह है कि यह साहित्य को अमानवीय बनाती है। कविता, कहानी या उपन्यास एक जानदार चीज है जिसे पाठक पढ़ते हुए जैसे ही स्पर्श करता है जैसे हम जीवित प्राणियों को करते हैं। 'थियरी' पाठक को भी आमामनुषिक बनाती है। रचना को टेक्स्ट में बदल देने पर पाठक, पाठक नहीं रहता। इस पूरी प्रक्रिया में मौत अगर हुई है तो वह पाठक की हुई है। समालोचक अंततः एक पाठक ही है। डॉ. जानसन ने अंग्रेजी में दो शब्दों का प्रयोग किया है- 'कॉमन रीडर' और 'कॉमनसेंस'। इसे अमरीकी नहीं समझ सकते। हो सकता है कि डॉ. जानसन के लिए 'कामन रीडर' एक मुखौटा रहा हो जिसकी आड़ में वे फैसेले दिया करते थे। इस परंपरा को 20वीं सदी में वर्जीनिया वुल्फ ने रिवाइव किया जिसे उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए रूम ऑफ वन्स ओन' में देखा जा सकता है। इस परंपरा में 'नान-प्रोफेशनल' और 'नान टेक्नीकल' ढंग से आलोचना लिखी जा सकती है बशर्ते कि कामन रीडर को ध्यान में रखा जाए। गरज यह कि 'थियरी' के आतंक में पाठक की मृत्यु हो चुकी है। दूसरी ओर आलोचना की दुनिया में कुछ विद्वान कूटभाषा में विद्वानों के लिए बड़े-बड़े शोधपत्र लिख रहे हैं। ये लोग कामन रीडर को हिकारत से देख रहे हैं। इन्हें लगता है कि यदि इनके पास एक 'थियरी' हो जाएगी तो ये संपन्न हो जाएंगे। आलोचना की असली चुनौती 'थियरी' नहीं उस कामन रीडर को पुनर्जीवित करना है।

यदि हम आजादी के पहले और उसके बाद की आलोचना के विकास को देखें तो स्पष्ट होगा कि आलोचना का सीधा संबंध संस्थान से है। 'थियरी' एक दिन में नहीं बनती। संस्कृत काव्यशास्त्र को विकसित होने में डेढ़ हजार साल लगे। लंबी गुरु-शिष्य परंपरा के बाद 'रस' और 'ध्वनि' के कवि तक पहुंचा जा सका। जब इस देश में विश्वविद्यालय नहीं थे तो आलोचना का एक ही माध्यम था पत्र और पत्रिकाएं। फिर आचार्य रामचंद्र शुक्ल काशी हिंदू विश्वविद्यालय और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी विश्वभारती जैसी संस्था से जुड़े थे। अब सौ साल में कोई 'थियरी' कैसे विकसित हो सकती है। आज भारत में आलोचना के ह्रास का बड़ा कारण है कि हमारे बड़े-बड़े शिक्षा संस्थानों का पतन हो चुका है। कविता, कहानी और उपन्यास संस्थानों से बाहर लिखे जा सकते हैं, पर आलोचना के लिए संस्थान जरूरी है। नाटक के लिए भी संस्थान जरूरी है।

जिस कामन रीडर की बात डॉ. जानसन और वर्जीनिया वुल्फ ने की उसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'लोक हृदय' कहा है। लेखक आलोचक का हृदय लोक से मिला होता है। इस बीच हमने शब्दों का लगातार अपमान और निरादर किया है। शब्द को पवित्र माना गया है। संस्कृत में कहा गया है कि 'एक ही शब्द जानो, ठीक से जानो।' रचना को फिर से 'टेक्स्ट' से मानुषिक बनाना है। दुःखद यह हुआ कि आलोचक कविता, कहानी या उपन्यास पढ़ते हुए सहृदय पाठक

का कृति के प्रति अनुराग की बजाए उससे 'थियरी', 'स्त्री विमर्श', 'दलित विमर्श', 'आधुनिकता', 'उत्तर आधुनिकता' आदि विचार ढूंढने में लग गए हैं। हम पढ़ने का आनंद भूल गए हैं जिसे रोला बाथ 'प्लेजर ऑफ टेक्स्ट' कहते हैं। हम जब कोई रचना पढ़ते हैं तो समस्त इन्द्रियों से पढ़ते हैं। हम रचना को छूते हैं तो वैसे ही जैसे हम किसी जानदार चीज को छूते हैं। 'थियरी' लिख सकते हैं पर पढ़ना तो जिंदगी भर का काम है। पोलैंड के प्रथम नोबेल पुरस्कार विजेता कवि चेश्वा मियोश (जो देश छोड़कर अमरीका चले गए थे और अब वापस आ गए हैं) अपनी एक कविता में कहते हैं- 'तुमने मुझसे पूछा/ग्रीक (भाषा) में बाइबिल' पढ़ने का क्या फायदा/मैंने जवाब दिया कि यहीं उचित है कि हम अपनी उंगली फिराएं/उन अक्षरों पर जो ज्यादा टिकाऊ हैं/बजाए उनके जो पत्थर पर खुदे हैं/और धीरे-धीरे प्रत्येक अक्षर का उच्चारण करें/और इस तरह भाषा की सच्ची गरिमा की खोज करें।' यानी साहित्य को पढ़ना एक मानवीय प्रक्रिया है। भारत में साहित्यिक समालोचना के क्रम में आज दुनिया भर के नवीनतम मतों या सिद्धांतों की चर्चा की जा रही है। ये सारे मत पिछले दो दशकों से प्रचलित उत्तर आधुनिकतावाद और उत्तर संरचनावाद की विचारधारा से जुड़े हुए हैं। भारतीय आलोचना के संदर्भ में उन सिद्धांतों की चर्चा करते हुए यह चिंता जताई जा रही है कि उन पश्चिमी सिद्धांतों का पूरी तरह उपयोग न करने के कारण हम बहुत पिछड़े हुए हैं। साहित्य अकादेमी की इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़े गए कई पत्रों में यह बात उठाई गई। इस क्रम में विशेष रूप से 'द एम्पायर राइट्स बैक' नाम की किताब का जिक्र किया गया जिसके लेखक एशक्राफ्ट, ग्रिफिथ्स और टिफिन हैं। 1989 में प्रकाशित इस किताब में भारतीय आलोचकों से प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र को पुनर्जीवित करने का सुझाव दिया गया है। गरज कि इन लेखकों का जोर साहित्य सिद्धांत पर है यानी कि आज भारतीय समालोचना की सबसे बड़ी चिंता एक साहित्य सिद्धांत रचने की है।

मेरी समझ में हमारे सामने आज का मुख्य मुद्दा साहित्य सिद्धांत नहीं है। यहां मैं स्पष्ट कर देना चाहूंगा कि प्रस्तुत प्रसंग में 'सिद्धांत' से मेरा क्या आशय है? उत्तर आधुनिक विचारक 'थियरी' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसके लिए हमारी प्राचीन परंपरा में 'मत' 'दृष्टि' और 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग होता रहा है। अब इधर कुछ वर्षों से हिंदी में 'थियरी' के लिए सिद्धांत शब्द प्रचलित है। कठिनाई यह है कि अंग्रेजी के 'प्रिंसिपल' को भी और कभी-कभी 'आइडियालॉजी' शब्द के लिए भी हिंदी में सिद्धांत शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इस कारण अकसर भ्रम पैदा होते हैं इसलिए मैं 'सिद्धांत' की जगह फिलहाल 'थियरी' शब्द के प्रयोग को ही निरापद समझता हूं। बहरहाल स्वयं इंग्लैंड और अमरीका की अंग्रेजी आलोचना में 'थियरी' के विरोध का स्वर उग्र से उग्रतर हो रहा है और हम है कि उसी 'थियरी' को आयात करने को व्याकुल दिखाई दे रहे हैं। पश्चिम में जब से 'थियरी' का बोलबाला हुआ है, साहित्यिक कृतियों को पढ़ने में रुचि कम हो गई जिसे साहित्य के लिए खतरा समझा जा रहा है। ऐसी स्थिति में भारत में 'थियरी' की हिमायत का क्या मतलब?

'थियरी' आलोचना को संकीर्ण और एकांगी बनाती है। कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक

‘जर्मन आइडियालॉजी’ में लिखा है कि ‘मैंने हीगेल का सारा दर्शन जो सिर के बल खड़ा था उसे पैर के बल खड़ा कर दिया।’ उनके अनुसार आइडियालॉजी माने मिथ्याचेतना एक अधूरी आत्मछवि। मार्क्स ने आइडियालॉजी के बरबक्स विज्ञान को महत्व दिया। मार्क्सवाद आइडियालॉजी नहीं विज्ञान है। मार्क्स ने कहा भी कि ‘मैं खुद मार्क्सवादी नहीं हूँ। जैसे ही आप किसी ‘वाद’ के शिकार होते हैं आपकी दृष्टि एकांगी हो जाती है। इसका असर हम अपनी आलोचना पर देख सकते हैं। गौतम बुद्ध ने इसे ‘दिट्ठी’ कहा और सभी ‘दिट्ठियों’ का विरोध किया। जयशंकर प्रसाद ने ‘कामायनी’ में एक जगह लिखा है- ‘सब कहते हैं खोलो-खोलो, छवि देखूंगा जीवन धन की। आवरण सभी बनते जाते हैं भीड़ लग रही दर्शन की।’ यानी जिसे देखने के लिए हर आदमी पहुंचता है, कतार बनती जाती है और दूसरों के लिए यही भीड़ आवरण (बाधा) बन जाती है। यहां ‘दर्शन’ का प्रयोग ‘श्लेष’ में किया गया है। सभी दर्शन तो सत्य को देखने के लिए गढ़े जाते हैं पर यही दर्शन सीमित होकर सत्य को पूरी तरह देखने में बाधक बन जाता है। यदि हम किसी खास दर्शन या ‘थियरी’ के चश्मे से देखेंगे तो साहित्य के मर्म तक नहीं पहुंच सकते। संस्कृत काव्यशास्त्र में यद्यपि आनंदवर्धन से ध्वनिमत की स्थापना की पर वे स्वयं अपने ग्रंथ ‘ध्वन्यालोक’ में कहते हैं- ‘न सर्वत्र ध्वनि रागिणा भवितव्यम्।’ अर्थात् सभी जगह ध्वनि ही नहीं देखना चाहिए। इसलिए किसी रचना की व्याख्या अपने सिद्धांत के आग्रह से मुक्त होकर एक सहृदय की तरह करना चाहिए। प्राचीन काव्यशास्त्र के तीन विद्वान आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त और कुंतक के सिद्धांत अलग-अलग हैं। पर जब वे किसी कविता की व्याख्या करते हैं तो एक सहृदय की तरह करते हैं न कि सिद्धांतकार की तरह। आनंदवर्धन शैव हैं पर जब वे एक बौद्ध धर्मकीर्ति की कविताओं की व्याख्या करते हैं तो एक सहृदय की तरह।

जाक देरिदा ने जब कहा था कि ‘टेक्स्ट’ के बाहर कुछ भी नहीं है- तो इसका गहरा अर्थ है यानी कि जो शब्द या साहित्य है वह टेक्स्ट है और जो बाहर है वह समाज है वह भी टेक्स्ट ही है। जैसे ‘महाभारत’ एक टेक्स्ट है और उस समय के समाज के बारे में हमें जिन अन्य ग्रंथों, अभिलेखों और पुरातात्विक सामग्रियों से जानकारी मिलती है वह भी टेक्स्ट ही है। देरिदा से काफी पहले कबीर ने अपने दोहे में लिखा- ‘जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी। फूटा कुंभ, जल जलहि समाना, यह तत् कहऊ गियानी।’ इस दोहे से हम समालोचना की अर्थ मीमांसा की प्रक्रिया को समझ सकते हैं। कोई कविता या कहानी कुंभ है और जल बाहर का संसार है। जो जल है वह कुंभ यानी रचना में भी है और बाहर भी है। यह दुनिया एक आइना खाना है जिसमें परस्पर तस्वीरों से अर्थ खुलते हैं। यदि कबीर को देरिदा के बरक्स पढ़ें तो कई अर्थ खुलेंगे। जिसे देरिदा आगे ‘इंटरटेक्स्टुअलिटी’ कहते हैं। यह रीडिंग यानी अर्थ मीमांसा ही आलोचना का मूल है जिसके लिए रचना रूपी घड़े को फोड़ना पड़ता है, संसार से मिलाना पड़ता है। आलोचक एक ही कृति में देखता है जो दूसरों ने अब तक नहीं देखा। इसलिए पाठक केवल रचना पढ़ता नहीं उसका नया टेक्स्ट रचता है। रचना के अर्थ की कई तहें होती हैं। विद्यापति ने भी कहा है- ‘सुंदर वह है जो सदा-सदा नया दिखे। यही कविता का भी सौंदर्य है। जो कविता

पांच सौ साल पहले सुंदर थी वह आज भी सुंदर है। पर आज कोई नया आलोचक उसमें नया अर्थ, नई सुंदरता देखता है। अब इस नए अर्थ को देखने में जरूरी नहीं कि 'थियरी' मददगार ही हो। पर इसका फैसला कौन करेगा कि यह सौंदर्य कितना कविता में है या कितना देखने वाले की आंख में।

इसलिए कृति के साथ सहृदय संवाद जरूरी है। जिस तरह तैरने की किताब पढ़कर तैरना नहीं सीखा जा सकता उसी तरह केवल 'थियरी' पढ़कर समालोचना नहीं की जा सकती। आज अधिकतर आलोचक 'थियरी' बहुत जानते हैं पर कविता पढ़ना ही नहीं जानते। यदि आलोचक के पास लोक हृदय की समझ नहीं है तो वह नितांत व्यक्तिवादी समीक्षा करने लगेगा। अच्छी आलोचना तभी होगी जब आलोचक स्वयं को डिक्लास करके साधारण पाठक की नजर से पढ़ेगा- लोक की धड़कन से उसके दिल की धड़कन जुड़ेगी। उसे यह सोचना चाहिए कि उसी रचना को एक स्त्री या एक दलित कैसे पढ़ेगा। लोक कोई अमूर्त अवधारणा नहीं है। आलोचक तो कामन रीडर का प्रतिनिधि होता है। वाल ट्रीट मैन कहा करते थे- 'हम जब किसी किताब को छूते हैं तो किसी बेजान चीज को नहीं किसी जीते-जागते मनुष्य को छूते हैं।'



आलोचना का जिक्र होते ही हमारे समक्ष नामवर सिंह का नाम सबसे पहले आता है। पाठकों के लिए कई बरस पहले साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली में 'साहित्योत्सव 2002' में साहित्यिक समालोचना की स्थिति : प्रतिक्रिया, पाठ, मुद्दे' विषय पर आयोजित संगोष्ठी में दिया गया प्रख्यात आलोचक नामवर सिंह का बीज वक्तव्य प्रस्तुत है जो कि आज भी प्रासंगिक है। यह वक्तव्य 'बहुवचन' को सांस्कृतिक पत्रकार अजित राय के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।

## बौद्धिकता और हिंदी आलोचना

राजेन्द्र कुमार

‘बौद्धिकता’ शब्द बहुत भारी भरकम शब्द है। एक बात दिक्कत की यह भी है कि ‘बौद्धिकता’ आज कुछ ऐसी चीज बन गई है कि आतंकित ज्यादा करती है, आत्मीय कम बनाती है। मैं शुरू कर सकता हूँ केवल इस भरोसे के साथ कि साहित्य के क्षेत्र में जो बौद्धिकता आलोचना के काम की होगी, वह सामाजिक को आत्मीय बनाने वाली ही होगी। ‘सामाजिक’ शब्द का जब मैं प्रयोग कर रहा हूँ तो उसी अर्थ में कर रहा हूँ जिस अर्थ में भारतीय काव्यशास्त्र में उसका प्रयोग किया गया है। इन दिनों चाहे मार्क्सिस्ट हों, चाहे प्रोग्रेसिव हों, जब भी हम लोग बौद्धिकता के प्रति कुछ ज्यादा ही आग्रही होते हैं तो हिंदी के कम रह जाते हैं, अंग्रेजी के ज्यादा हो जाते हैं। हम ये सोच नहीं पाते कि हम विचार कर रहे हैं या विचार का अनुवाद कर रहे हैं। हमारा सारा चिंतन अनुवादगंधी हो जाता है। मसलन, कई बार दिखता है कि जब हम लोग ‘आलोचना’ शब्द का प्रयोग कर रहे होते हैं तो हमारे दिमाग में अंग्रेजी का ‘क्रिटिसिज्म’ शब्द गूँज रहा होता है। और कुछ अजीब न होगा, अगर ये कहा जाए कि जब ‘बौद्धिकता’ शब्द का प्रयोग कर रहे होते हैं तो अंग्रेजी का ‘इंटेलैक्ट’ या ‘इंटेलैक्चुअल’ शब्द हमारे दिमाग में कौंध रहा होता है।

क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जब हम ‘आलोचना’ शब्द का प्रयोग कर रहे हों तो हमारे दिमाग में राजशेखर कौंध रहे हों, जिन्होंने काव्यमीमांसा में ‘साहित्य विद्या’ शब्द का प्रयोग किया है। या जब हम ‘बौद्धिकता’ शब्द का प्रयोग कर रहे हों तो क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हमारे दिमाग में आचार्य मम्मट कौंध रहे हों जिन्होंने ‘शक्ति’ और ‘अभ्यास’, शब्द के साथ ‘निपुणता’ शब्द को इस्तेमाल किया है। ऐसा मैं इसलिए नहीं लिख रहा हूँ कि पश्चिम से कोई गुरेज है मुझे। प्रकाश चाहे जहां से मिले, हमें अच्छा लगता है। कई बार, खासकर आज के संदर्भ में जबकि आलोचना की बात हो तो मुझे आस्कर वाइल्ड याद आ रहे हैं। आस्कर वाइल्ड मूलतः एक रचनाकार थे, पर उन्होंने आलोचना का महत्त्व रचना में ज्यादा स्वीकार करते हुए कहा कि- *Criticism demands more cultivation than creation does*, तो मुझे कोई परेशानी नहीं होती, जब पश्चिम के ऐसे लोगों को पढ़ता हूँ। अच्छा लगता है। पर ये बात तब और अच्छी



लगती है, जब इस प्रकार के कथन इसमें याद दिला देते हैं, अपने भारतीय काव्यशास्त्र में जहां 'भावयत्री प्रतिभा' तथा कारयत्रि प्रतिभा की तुलना हुई है वहां भावयत्री प्रतिभा के संदर्भ में 'परिष्करण' का जिक्र आया है। 'परिष्करण' से भावयत्री प्रतिभा निखरती जाती है। कल्टीवेशन' शब्द सुनकर मुझे 'परिष्करण' शब्द याद आता है। इसमें कोई हर्ज नहीं है कि पश्चिमी प्रकाश में हम चीजों को देखें लेकिन पश्चिम हमारे बीच इस तरीके से आए कि पूर्व के प्रकाशमान पक्ष को ग्रहण लग जाए, तब दिक्कत होती है। डांस ऑफ शिवा' Dance of Shiva आनंद कुमार स्वामी की किताब जब पढ़ रहा था। उस जमाने में जब 19 वीं शताब्दी में शिक्षा का कार्यक्रम शुरू होता है तो आनंद कुमार स्वामी कहते हैं कि 'Intellectual Untouchables' इनटेक्चुअल-अनटचेबल्स' पैदा हो रहे हैं। 'बौद्धिक अछूत' पैदा हो रहे हैं। 'बौद्धिक अछूत' उन्होंने उसे कहा, जो अपनी जड़ों से जुड़े हुए इतिहास को देखने में अक्षम हो जाते हैं। पश्चिम की व्यवस्था उनको एक ऐसा औपनिवेशिक मन देती है कि वे अपने इतिहास को नहीं देख पाते।

ऐसे में जाहिर है कि बौद्धिकता की बात आएगी। तो पश्चिम से हम बहुत कुछ लेंगे लेकिन हमारे पास क्या है पहले से, इसकी भी छानबीन होती रहनी चाहिए। भले ही हम 'आधुनिक आलोचना में बौद्धिकता' की बात कर रहे हों तो भी। 'बौद्धिकता' शब्द एक प्रकार से बुद्धि की विशेष क्रियात्मकता की पहचान कराता है। बुद्धि की विशेष क्रियात्मकता या सक्रियता का प्रमाण मिलता है मनुष्य की चिंतनशीलता, विचार-सजगता और अपने समय के विमर्शों में उसकी सहभागिता से। यूं तो ज्ञान के क्षेत्र में बुद्धि को विशेष रूप से क्रियात्मक होने का श्रेय हमेशा मिला लेकिन आज जबकि अपने युग-विशेष को हम बौद्धिकता का युग कहते हैं तो इसलिए कहते हैं कि बुद्धि की क्रियात्मकता को नए-नए पक्ष मिले, नए रूप मिले, नए रूपों में उसे अपनी क्रियात्मकता को पहचानने की कोशिश करने में ज्यादा सफलता मिल सकी, वह सक्रिय हो सकी।

बुद्धि के लिए ज्ञान एक अर्से तक अपनी नितांत पावनता, शाश्वतता, और परमता में पा लेने की चीज बना रहा लेकिन ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी भौतिक सत्ता के प्रति, अपनी वास्तविक सत्ता के प्रति सजग होता गया, त्यों-त्यों ज्ञान के पारंपरिक रूप को उसने इस तरह देखा कि उसकी सीमाओं का बोध भी उसे होता गया। मेरे ख्याल से ऐसे ही किसी बोध की प्रेरणा रही होगी जब मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में पारंपरिक अर्थ का ज्ञानी होने के बरक्स भावुक होने को अधिक रचनात्मक स्वीकार्यता दी गई। आप जानते हैं, वहां पर आता है- 'ज्ञानी संसार असार जान रोते हैं। भावुक जन से ही महत् कार्य होते हैं।' ये जो संसार की असारता का रोना रोने वाला ज्ञानी होना खटक रहा है हमारे कवि को, तो यह इस बात का परिचायक है कि हमारा कवि आधुनिक हो रहा है। फिर ये जो भावुकता के पक्ष में आग्रह हो रहा है, यह तो कई बार बहुत अतिरेकी आग्रह मालूम हो रहा है यह आग्रह बहुत दूर तक चला आया, डॉ. नगेन्द्र के यहां तक। वे जब विचार और अनुभूति के द्वंद्व की चर्चा करते हैं, तो वे विचार के मुकाबले अनुभूति को तरजीह देते हैं। उनको शंका है विचार पर कि विचार आने से साहित्य की जो

अनुभूतिपरकता है, संवेदन-परकता है, वो कम होती है। बहरहाल जब मैथिलीशरण गुप्त ने भावुकता पर यह अतिरेकी आग्रह किया होगा, तो वे मजबूर रहे होंगे। ज्ञानी होने के जो भौतिक प्रत्यय थे, अवधारणाएं थीं, वे उनको शायद अपने बहुत काम की नहीं लग पा रही होंगी। उनके समय की आलोचना, जो अपनी प्रारंभिक अवस्था में थी, उसका परिदृश्य भी कुछ ऐसा ही था।

वहां पर बौद्धिकता कोई ऐसा रूप नहीं पा सकती थी कि ज्ञान को सर्वथा भौतिक अवधारणाओं के प्रति समर्पित होते देख सके। यहां तक कि उस जमाने की आलोचना के जो महानायक थे, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, जिन्होंने 'सरस्वती' संपादक के रूप में ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में जो कुछ हो रहा था, उसके प्रति बहुत उत्सुकता दिखाई थी। उनका प्रसिद्ध निबंध है 'साहित्य की महत्ता' जिसमें उन्होंने साहित्य की बड़ी व्यापक परिभाषा की थी और कहा था कि 'ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम ही साहित्य है।' आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भी जब 'कवि और कविता' शीर्षक लेख लिखते हैं और कविता की महत्ता बताते हैं तो कहते हैं- 'कविता से दुनिया में बहुत बड़े-बड़े काम हुए हैं।' अब अगर यह वाक्य आज हम देखें तो बड़ा अबौद्धिक सा मालूम होता है। कविता से दुनिया में बड़े-बड़े काम हुए हैं, क्यों हुए है, कैसे हुए हैं, इसकी ओर जब उस लेख में इशारा किया जाता है तो लगभग सारे इशारे वहीं पहुंचते हैं जहां यह आस्था थी कि- 'भावुक जन से ही महान कार्य होते हैं।' कविता से बड़े-बड़े काम होते हैं इसका कारण बताने जब द्विवेदीजी चलते हैं, तो बुद्धिजन्य ज्ञान के स्रोतों से तर्क जुटाने की आवश्यकता नहीं समझते। वे 'भावुकता-जन्य आस्था' या 'आस्थाजन्य भावुकता' से समर्थन जुटाकर यह कहकर रह जाते हैं कि 'कविता की इस्तदात ऐसी प्रतिभा से होती है जो ईश्वरदत्त होती है।' और फिर कहते वे हैं कि 'जो ईश्वरदत्त है, वह निरर्थक नहीं हो सकता और वह दुनिया के बड़े काम का होता है।' ये जो विशेषता बता रहे हैं कविता की आचार्य द्विवेदी क्या इसे आज के अर्थ में हम बौद्धिक मान सकते हैं? यह आस्था जन्य भावुकता का आग्रह है कविता के प्रति आचार्य द्विवेदी का। आज इसे हम एक उदाहरण मान सकते हैं, इस बात का कि बौद्धिकता अपनी प्रकृति में हमेशा आलोचनात्मक ही होती है, लेकिन आलोचना अपनी प्रकृति में हमेशा बौद्धिक हो, यह जरूरी नहीं।

हमारा युग बौद्धिकता का युग है। ज्ञान ने अपने लिए बहुत से नए-नए क्षेत्र ईजाद कर लिए हैं। ज्ञान लगातार एक निरंतरता में है, विकास के क्रम में है। जाहिर है कि ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से संपर्कित होकर साहित्य भी लाभान्वित हो रहा है। हालांकि कुछ लोग ऐसी आशंका भी करते हैं कि हमारा साहित्य साहित्येतर का उपनिवेश बनता जा रहा है। मित्रों चिंतन आज जितने अनेक क्षेत्रों में उद्घाटित हो रहा है, उन क्षेत्रों में आपसी अलगाव भी है तथा परस्पर लगाव की संभावनाएं भी हैं। दोनों के प्रति हमें सजग रहना है। एक तरफ चेतना ये है हमें कि बुद्धि की क्रियात्मकता का कोई एक ही रूप ज्ञान और चिंतन के सभी क्षेत्रों में एक सा नहीं होता और दूसरी ओर यह भी निश्चित हुआ है कि बौद्धिकता के कई सारे लक्षण हम गिना सकते हैं। मसलन तर्काश्रयी होना, प्रश्न उठाने वाला होना। आस्था या विशेषज्ञता से पैदा होने

वाले जो मत हैं, उनके आधिपत्यपरक होने को चुनौती देना। ऐसा भी होता है कि हम कई बार व्यक्तिपरक हो जाते हैं, सब्जेक्टिव हो जाते हैं। बौद्धिकता ने हमें यह भी सिखाया है कि विवेचनात्मक प्रक्रिया में हम, आब्जेक्टिविटी के लिए कितना स्पेस बनता है- इसे तलाशें। ये कुछ लक्षण हैं जो हर जगह लागू होंगे। साहित्य में, आलोचना में बौद्धिकता भी इसी तरीके से आएगी।

हमारे गुरु आचार्य रामस्वरूपजी ने एक स्थान पर फर्क किया है कि किसे विचार-गद्य कहेंगे, किसे आलोचना-गद्य कहेंगे। किसी भी ज्ञान या किसी अनुशासन के बारे में जो सारा विचार होगा, वह सब का सब आलोचना में नहीं आएगा। आलोचना में एक खास तरह का अनुशासन मानना पड़ेगा। आलोचना में बौद्धिकता को एक स्वरूपगत विशिष्टता लेकर आना पड़ेगा। साहित्य में, आप ये भी देख सकते हैं कि आलोचना में बौद्धिकता की अनिवार्य व्याप्ति को लेकर चाहे कवि निराला रहे हों, या आलोचकों में देवीशंकर अवस्थी या विजय देवनारायण साही सबने परिभाषाएं की हैं। किसी ने कभी ये कहा कि 'साहित्य का मस्तिष्क है आलोचना। कभी कहा 'साहित्य का विज्ञान' है आलोचना, कभी कहा 'साहित्य का दर्शन है' आलोचना लेकिन बौद्धिकता जिस भूमिका में दर्शन में आती है, विज्ञान में आती है हूबहू उसी भूमिका में साहित्य में, आलोचना में, नहीं आती। कुछ फर्क पड़ेगा। मसलन दर्शन में बौद्धिकता अमूर्तीकरण करती है। वह प्रत्यय बनाएगी। अवधारणाएं बनाएगी। साहित्य का मार्ग अमूर्तन से प्रायः उल्टी दिशा में जाता है। जाहिर है कि जब बौद्धिकता को साहित्य में आना होगा, तो अमूर्तन का वही रास्ता नहीं पकड़ना होगा, जो दर्शन या अन्य-अन्य क्षेत्रों में पकड़ना पड़ता है। दूसरी बात ये भी है कि बौद्धिकता अपने आपको सबसे अधिक नियोजित वहां पाती है जहां अंतर्विरोध न दिखे। जहां किसी व्यक्ति के एक कथन के संदर्भ से दूसरा कथन कटता न हो अगर कहीं अंतर्विरोध आ रहे हैं और उन अंतर्विरोधों को नजरअंदाज कर दिया जाए तो कहा जाएगा कि ये नजर बौद्धिकता की नजर नहीं है लेकिन अब क्या करें हम। मान लीजिए हम तुलसीदास को पढ़ रहे हैं- तुलसीदास के यहां रामचरितमानस से गुज़र रहे हैं। एक स्थान पर हम पढ़ते हैं सुधा के बारे में, अमृत के बारे में कि- 'सुधा सराहिए अमरता, गरल सराहिए मीच।' अमृत वही सराहने योग्य है जो जीवन देता है, हमें अमर बनाता है। दूसरी जगह पर पढ़ा फिर- 'सुधा वृष्टि भई दुहुं दल ऊपर जिए भालु-कपि नहिं रजनीचर।' अब यहां वह बौद्धिकता जो पदार्थ विज्ञान के क्षेत्र में काम कर रही है अगर यहां दखल देगी तो हम निष्कर्ष क्या निकालेंगे? निष्कर्ष ये निकालेंगे कि कैसा है ये कवि कि एक तरफ तो कहता है कि सुधा अमरता प्रदान करती है और दूसरी ओर ये कहता है कि सुधा किसी को जिलाती है, किसी को नहीं जिलाती है तो पदार्थ विज्ञान में चीजों की परख करने वाली जो बुद्धि है वो कहेगी कि यह गड्डमड्ड है, 'कन्फ्यूज्ड' दृष्टि है। ऐसी बौद्धिकता किस काम की जो ये भूल जाए कि तुलसीदास मूलतः भक्त कवि हैं। ऐसे भक्त कवि हैं जो अपनी आस्था में ये मानते हैं कि इष्ट की कृपा से असंभव भी संभव हो सकता है। इतिहास वही नहीं होता जो बाहर के तथ्यों से

बनता है। इतिहास वह भी होता है जो मन से गुजरता हुआ बनता है। तुलसीदास के मन से गुजरता हुआ तर्क कौन सा आ रहा है। तुलसीदास जिस तर्क से यह बात कह रहे हैं, वह तो एक भक्त कवि की आस्था का तर्क है कि उनका इष्ट असंभव को भी संभव कर सकता है। अगर ये तर्क नहीं देखेगी बौद्धिकता और मूल्यांकन करने चलेगी तो गड़बड़ा जाएगी। बौद्धिकता की भूमिका हमेशा तथ्य-निरूपण तक ही सीमित नहीं रहती। बौद्धिकता की भूमिका एक चुनौती की भूमिका होती है। रचना चुनौती दे रही होती है। केवल तथ्य तक ही नहीं, तथ्य को भेदकर मर्म तक पहुंचा जाए।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में एक स्थान पर परिभाषा की है कि आलोचना की अपेक्षाएं क्या होती हैं। वाक्य शायद कुछ हेरफेर के साथ इस तरह है कि 'उच्च कोटि की, आधुनिक शैली की समालोचना के लिए केवल विस्तृत अध्ययन ही नहीं, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि ही नहीं, मर्म ग्राहिणी प्रज्ञा की भी जरूरत होती है।' यानी अगर हम चाहते हैं कि आलोचना समालोचना भी हो, आधुनिक शैली की भी, और फिर उच्च कोटि की भी हो तो वहां वह बौद्धिकता जो केवल सूक्ष्म-अन्वीक्षण परक है, जो व्यापक अध्ययन से अर्जित की गई हो, वही पर्याप्त नहीं होगी। वहां मर्मग्राही प्रतिभा (प्रज्ञा) भी चाहिए। बल दे रहे हैं शुक्लजी इस पर, और अकारण नहीं है ऐसा कहना कि हिंदी आलोचना में पहली बार बौद्धिकता अपने पूरे तेज के साथ शुक्लजी के यहां आयी क्योंकि वहां बौद्धिकता को शुक्लजी की मर्मग्राहिणी प्रज्ञा का साथ मिला था। हालांकि यह अलग बात है कि उस मर्मग्राहिणी प्रज्ञा से चूकें भी बहुत हुईं। हम कह सकते हैं कि कबीर के बारे में चूक हो गई थीं लेकिन इस चूक की बौद्धिक व्याख्या भी हम कर सकते हैं। वह यह कि आचार्य शुक्ल अपने समय के जिस नवशिक्षित मध्यवर्ग के सदस्य थे, उसका संस्कार ही कुछ ऐसा बन रहा था कि वह शिक्षा को अपनी निजी विशिष्टता मानता था। वह शिक्षा को जनसामान्य का अधिकार नहीं मान पा रहा था। ऐसे में स्वाभाविक है कि जो कबीर अपने समय की अशिक्षित जनता में, अपने दलित-वंचित समाज में जो शिक्षा दे रहे थे, वह शिक्षा शुक्लजी को निरी उपदेशपरक लगी और भावोन्मेष जगाने वाली नहीं लगी। शुक्लजी के बाद पुनर्मूल्यांकन की अनेक कोशिशें शुरू हुईं। अकारण नहीं है कि बौद्धिकता अपनी मूल प्रवृत्ति में 'अथारेटियन कैरेक्टर' की अवमानना करने वाली होती है। आधिपत्यपरक निष्कर्षों से अलग रहना चाहती है और इस लक्षण के आधार पर कहूं तो मैं कह सकता हूं कि हिंदी को अपना पहला 'बौद्धिक कवि' भक्तिकाल में मिला, कबीर के रूप में। स्वाभाविक है इसलिए कि पुनर्मूल्यांकन की व्यवस्थित कार्यवाही भी कबीर के अध्ययन से ही शुरू हुई और बाद में मुक्तिबोध के यहां 'कामायनी' के अध्ययन और उससे आगे तक आई।

पुनर्मूल्यांकन की इसी प्रक्रिया में जो दलित तथा स्त्री विमर्श आज आ रहा है, प्रश्न न उठाए गए होते, संदेह न किए गए होते तो यह सब न हुआ होता। बौद्धिकता की मूल प्रवृत्ति है- प्रतिआधिपत्यपरक होना और प्रश्नाकुल होना। आज जो नए-नए बौद्धिक विमर्श आ रहे हैं दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श वे इसीलिए आ रहे हैं कि व्यवस्था ने जो नई संरचना हमें दी थी

उसमें संदेह जागे और उन संदेहों को हम प्रश्न पूछने के अधिकार में परिणत कर सके इसलिए नई बौद्धिक निर्मितियां हुईं। मैंने कहा था कि बौद्धिकता को सबसे खटकने वाली चीज लगती है- अंतर्विरोध और खास तौर पर आलोचना को रचना में सबसे ज्यादा असुविधा वहां होती है जहां वैचारिक अंतर्विरोध होते हैं लेकिन मुझे कई बार एक और अनुभव भी हुआ। मुझे ये अनुभव हुआ है कि रचना अपने सौंदर्य को कभी-कभी उन्हीं स्थलों पर सबसे ज्यादा प्रकट करती है जहां हमें अंतर्विरोध दिख रहे होते हैं। मैं 'दिख रहे होते हैं' जानबूझकर लिख रहा हूं 'दिख रहे होते हैं' यानी वास्तव में होते नहीं। अगर हम रचना की दुनिया से कैसे गुजरा जाए, ये तमीज हम रखते हैं तो पाएंगे कि जो दिख रहा है, वह है नहीं। अगर कोई बौद्धिकता इस प्रकार आलोचना में आए कि रचना भीतरी संसार से, भीतर के चरित्र से जो मर्म हमें मिल रहा है उससे भटका दे तो ऐसी बौद्धिकता आलोचना को कहां ले जाएगी- नहीं कह सकता? 'भारतीय साहित्य की देन' नामक निबंध में आचार्य द्विवेदीजी ने लिखा है कि- 'किसी चीज की सच्चाई तक पहुंचने के लिए एक प्रकार के बौद्धिक वैराग्य की भी जरूरत होती है।' अब ये बौद्धिक वैराग्य वाली बात हमारे गले कितना उतरेगी? क्योंकि आज हम आकंठ बौद्धिकता में डूब-उतरा रहे हैं तो, ये बौद्धिक वैराग्य वाली बात हमें कितनी स्वीकार होगी, नहीं कह सकता। यह बौद्धिक वैराग्य भी वही धारण कर सकता है, जो बौद्धिक होने का अर्थ खुद बौद्धिक होकर सचमुच जान सके।



*(इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में दिसंबर 2007 में 'आलोचना और बौद्धिकता के अंतर्संबंधों' पर दिए गए व्याख्यान का अंशुमान कुशवाहा द्वारा टेप से उतारा गया अंश)*

## राज्य, धर्म, विचारधारा और साहित्य

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

राज्य, समाज, धर्म और विचारधारा- ये चारों जब कट्टर होते हैं और अपने सच को अंतिम मानने लगते हैं तो रचनाकार के शत्रु बन जाते हैं। राज्य का सर्वसत्तावादी तानाशाही रूप, समाज का संकीर्ण रूढ़िवादी रूप, धर्म का कर्मकांडी, सांप्रदायिक रूप और विचारधारा का पार्टी पिछलग्गू रूप- ये चारों रचनाकार के शत्रु हैं, क्योंकि ये अपना एक तंत्र विकसित कर लेते हैं फिर उसकी सुरक्षा इनकी चिंता का मुख्य विषय बन जाती है। लेखक का कोई तंत्र नहीं होता। वह अपने अंतःविवेक को जिंदा रखने के लिए लिखता है या कि लिखकर अपने अंतःविवेक को जिंदा रखते हैं। यह तभी संभव है, जब वह राजसत्ता, सामाजिक नैतिकता, धर्म तथा विचारधारा की सीमाओं को पहचानने और उनसे स्वयं को मुक्त रखने की भी क्षमता रखता हो। रचनाकार बुनियादी रूप से कट्टरतावाद का विरोधी होता है और स्वतंत्रता की मूल प्रतिज्ञा में ही अपना रचनात्मक अस्तित्व ग्रहण करता है। अपने इस रूप में वह उन संस्थाओं के लिए खतरा बन जाता है। इसीलिए ये संस्थाएं कभी राज व्यवस्था में अशांति फैलाने का आरोप लगाकर, कभी अश्लीलता का आरोप लगाकर, कभी धर्मविरोधी करार देकर और कभी विचारधारा का विरोधी बताकर लेखक को यातनाएं देती हैं, उन्हें निष्कासित करती हैं और कभी कभी उन्हें आग के हवाले भी कर देती हैं। इन विचार विरोधी संस्थाओं के पास हिंसा के अलावा दूसरा विकल्प भी क्या है? जो संस्थाएं किसी दूसरे को अपने से भिन्न कुछ सोचने, बोलने या करने की स्वीकृति नहीं देतीं, उनका विचार विरोधी होना स्वयंसिद्ध है।

क्या राज्य के आदेश और अध्यादेश अंतिम हैं? क्या सामाजिक नैतिकता अंतिम है? क्या धर्म की व्यवस्था अंतिम है? क्या कोई भी विचारधारा अंतिम है? इतिहास साक्षी है कि सत्ताएं बदल जाती हैं, समाज द्वारा निर्धारित मान्यताएं बदल जाती हैं श्लीलता-अश्लीलता के मानदंड बदल जाते हैं, धर्म और विचारधाराओं के सरोकार भी बदल जाते हैं। क्या विडंबना है कि बदली हुई स्थितियों में वही वही लोग उन्हीं-उन्हीं कृतियों और लेखकों को महत्व देकर नई दृष्टि से व्याख्यायित करने लगते हैं। रूस में उसी सोल्झेनित्सीन को आदर के साथ आमंत्रित किया गया, जिसे कभी वहां से निष्कासित किया गया था। लेडी चैटर्लैज लवर, रात भर वर्षा (बुद्धदेव

बासु), प्रजापति (समरेश बसु) आदि तथा सआदत हसन मंटो की कृतियां आज के पाठकों को अश्लील नहीं लगतीं, जिन पर कभी इसी आरोप में मुकदमे चले थे। 'सोजेवतन' (प्रेमचंद) जिसकी प्रतियां कभी आग के हवाले की गई थीं, 'आधा गांव' (राही मासूम रजा) और 'असलहा' (गिरिराज किशोर) जैसे उपन्यास, जिन्हें पाठ्यक्रमों से निकालने की मांग हुई थी, आज विद्यालयों में पढ़ाए जा रहे हैं। 'शैतानी आयतें' (सलमान रुश्दी) और 'लज्जा' (तस्लीमा नसरीन) जैसी कृतियां, जिनके लेखकों-लेखिकाओं के लिए मौत के फतवे अभी भी जारी हैं, अनेक भाषाओं में अनूदित होती जा रही हैं। इससे क्या हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते कि अपराध कृति और कृतिकार में नहीं, बल्कि उस दृष्टि में ही है जो संकीर्ण और असहिष्णु है। कसौटियां जब छोटी होती हैं, तो कृतियां स्वयमेव छोटी हो जाती हैं। लेखक की कसौटियां जब छोटी होती हैं, तो कृतियां स्वमेव छोटी हो जाती हैं। लेखक की कसौटियां बड़ी होती हैं। वह अपनी नैसर्गिक चेतना में, जो इन क्षुद्रताओं से मुक्त होती है, अपना दायित्वबोध हासिल करता है। निरंकुश वह नहीं होता, अपने विवेक के अंकुश में रहता है, मगर उसका विवेक उस विराट बोध से पैदा होता है, जिसमें समय, स्थान और मूल्य बहुत सिकुड़े और जबड़े हुए नहीं होते। अंततः सभी लेखक किसी न किसी राज्य व्यवस्था में, समाज में, धर्म में सांस लेते हैं और कोई न कोई पार्टी विचारधारा भी उनकी हो सकती है, पर वे इन सबका अतिक्रमण करके संपूर्ण सृष्टि की वेदना को अपनी वेदना बना लेते हैं। तभी, सभी उनकी रचना में सहभागी बनते हैं। रचनाकार जिस सत्य की तलाश करता है, वह ज्यादा व्यापक होता है, ज्यादा गहरा होता है क्योंकि वह नीति-अनीति, श्लील-अश्लील, पाप-पुण्य के सतही विधि निषेधों की नहीं, बल्कि उनके मूल स्रोतों की खोज करता है।

'सत्य क्या है'- यह सदा से विचारशील प्राणियों की जिज्ञासा और खोज का विषय रहा है बल्कि यह कहें कि आज तक के मनुष्य की विकास यात्रा सत्य की खोज की ही यात्रा रही है। हर व्यक्ति ने, हर समाज ने, हर जाति ने, हर देश ने और हर युग ने अपने-अपने ढंग से सत्य को खोजा और पाया है। मगर किसी महान ग्रंथ ने सत्य को अंतिम रूप से परिभाषित नहीं किया, न किसी महान विचारक ने अंतिम सत्य को जान लेने का दावा किया। जिन्होंने किए, वे समय के प्रवाह में झूठे पड़ते गए। अंतिम सत्य कुछ नहीं होता। सभी काम चलाने के सच हैं, जिन्हें व्यक्ति, समाज, धर्म या विचारधारा ने निर्धारित कर रखे हैं। ये देशकाल के अनुसार बदलते रहते हैं और अपने नए-नए रूपों में सामने आते हैं। तर्क की सीमा यह है कि वह अपने पंख, जो ज्ञात है, उसी के भीतर फड़फड़ा सकता है। मगर प्रकृति में और मनुष्य में बहुत कुछ ऐसा है, जो अज्ञात है। इसीलिए विज्ञान का एक निष्कर्ष दूसरे से कट जाता है और इसीलिए वैज्ञानिक कभी अंतिम सत्य की बात नहीं करता। पूर्ण और अंतिम सत्य की बात हमेशा अवैज्ञानिक करते हैं। वस्तुतः किसी एक को अपने सच को अंतिम कहने का हक नहीं है, क्योंकि हर दूसरे को 'अंतिम सत्य' तक पहुंचने का हक है इसीलिए दुनिया के बहुत बड़े बड़े विचारक अंतिम सत्य के बारे में मौन हो गए- चाहे बुद्ध हों या प्लेटो, ईसामसीह हों या लाओत्सु।

विकासवादी दृष्टि में मनुष्य एक सतत विकास प्रक्रिया है। उसके सारे मान और मूल्य, नीति नियम, विधि निषेध इसी प्रक्रिया में पैदा होते हैं। यदि आप विश्लेषण करें, तो बड़े चक्कर में पड़ जाएंगे- जिसे आप 'सच' कहते हैं, वह 'झूठ' हो जाएगा और 'झूठ' सच। 'पाप' पुण्य बन जाएगा और 'पुण्य' पाप। बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार यह जगत कार्य कारण का प्रवाह है। प्रत्येक वस्तु एक पूर्व वस्तु का परिणाम है और आगामी वस्तु का कारण। एक वस्तु स्वयं नष्ट होकर दूसरे की उत्पत्ति का कारण बनती है। यही जगत है। यहां सब क्षणिक हैं, नित्य और अविनाशी कुछ भी नहीं। न कुछ स्वतंत्र है, न निरपेक्ष। अगर ऐसा है, तो फिर इस जगत में मनुष्य द्वारा किए जाने वाले कर्मों के बारे में भी यही तथ्य होगा। एक कार्य कारण श्रृंखला।

कोई व्यक्ति किस दृष्टि से और किस बिंदु से सत्य को देख रहा है, यह 'सत्य' के स्वरूप को निर्धारित करता है। देखने वाला कौन है? किस मनःस्थिति में है और किन जिज्ञासाओं, प्रश्नों के साथ वह सत्य का साक्षात्कार कर रहा है? एक छिपकली दीवार पर एक पतंगे को अपना ग्रास बना रही है। इस घटना को आप पतंगे की ओर से देखेंगे या छिपकली की ओर से? देखने वाला राग में है या द्वेष में, आसक्ति में है या विरक्ति में, मद में है या प्रपत्ति में? यदि दिशा राग की ओर है तो सब कुछ सत्य दिखाई पड़ेगा, सब कुछ सुंदर। यदि विराग की ओर है, तो सब कुछ असार और नश्वर। जैनियों के स्यादवाद व अनेकांतवाद की धारणा सत्य की इसी जटिलता को सुलझाने के लिए है। उनके अनुसार कोई व्यक्ति पूरा सत्य नहीं, बल्कि उसके एक अंश को ही देखा पाता है लेकिन उसका यह देखना भी सत्य है, क्योंकि वह सत्य के ही एक अंश को देखता है। इसी प्रकार दूसरा व्यक्ति यदि सत्य के किसी दूसरे अंश को देखता है तो उसे भी सत्य मानना चाहिए, क्योंकि वह भी सत्य के ही एक दूसरे अंश को देखता है। इसीलिए 'स्यादवाद' के अनुसार यह कहना उपयुक्त है कि 'कदाचित सत्य है'।

महाभारतकार कहता है :

*श्रुतिः विभिन्ना स्मृतयश्च भिन्ना  
न एको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्  
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्  
महाजनो येन गतः स पन्थाः*

अर्थात् श्रुतियां विभिन्न हैं, स्मृतियां भी भिन्न हैं और एक भी मुनि के वचन प्रमाण नहीं हैं। धर्म का तत्व गुहा में निहित है, अर्थात् गहन है। इसलिए महाजन जिस मार्ग पर चलते हैं, वही श्रेयस्कर मार्ग है या वही प्रमाण है। इसी को अन्यत्र कहा गया है कि सत्य का मुंह हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है। इन कथनों का तात्पर्य सिर्फ यह है कि सत्य को जानना बहुत आसान और सहज नहीं है। एक चीज जिसे दुनिया में सभी छिपाते हैं, वह है सत्य। एक चीज जिसे जानना बहुत कठिन है, वह है सत्य। एक चीज जिसे पाना बहुत कठिन है, वह है सत्य। एक चीज जिसे कहना बहुत कठिन है, वह है सत्य। इसीलिए दुनिया के बड़े विचारक सत्य के बारे में मौन हो जाते हैं। वे सौभाग्यशाली लोग हैं, जो सत्य तक और अंतिम सत्य तक तुरंत पहुंच



जाते हैं। उन्हें कोई जिज्ञासा बेचैन नहीं करती, उनके भीतर से कभी कोई प्रश्न नहीं उठता। वे सिकंदर की तरह एक के बाद एक दिग्विजय करते निकल जाते हैं। मगर कुछ लोगों को सत्य की जिज्ञासा बेचैन करती है। सात्विक प्रकृति के लोगों को थोड़ा पहले, राजस प्रकृति के लोगों को कुछ बाद में और तामस प्रकृति वालों को कभी नहीं। बुद्ध ने बिना कोई युद्ध किए, बिना किसी गृहस्थी का बोझ उठाए जिस सत्य को महसूस कर लिया कि 'जीत से बड़ी कोई हार नहीं'- उसे अशोक ने कलिंग में लाखों लोगों के रक्तपात और संहार के बाद समझा और सिकंदर ने शायद ऐसे संहारों के बाद भी नहीं।

साहित्य भी विज्ञान की ही तरह अंतिम सच का दावा नहीं करता। बल्कि वह उसी की जिज्ञासा और तलाश में होता है। राज्य और धर्म समाधान देते हैं, जबकि सर्जनात्मक कृतियां प्रश्न उठाती हैं, सच के लिए जिज्ञासा और बेचैनी पैदा करती हैं। महान रचना वह नहीं है, जिसमें सत्य को अंतिम रूप से पा लेने का दावा हो, बल्कि वह है जिसमें अनेक प्रश्नों और शंकाओं के बीच सत्य अपना अनेकायामी संभावनाओं से भरा चेहरा दिखाता हो। एक महान लेखक जीवन भर सच की ही खोज करता है, इस खोज की प्रक्रिया में ही वह महान बनता है और इस खोज की प्रक्रिया में वह व्यक्ति नहीं रहता, किसी धर्म या पार्टी संगठन का पुर्जा नहीं होता, बल्कि अपने समय और समाज की प्रतिनिधि चेतना होती है। उसकी अभिव्यक्ति का तरीका भी अलग होता है- कुछ इस तरह, जैसे पौधे सांस लेते हैं, जैसे पंक्तियां तनों के लिए भोजन पकाती हैं। वह धर्मोपदेशक या सिद्धांतकार की भाषा में नहीं बोलता, क्योंकि ऐसी भाषा सत्य के लिए अपर्याप्त होती है। वह सच को अनुभूति का विषय बनाकर उसे अपने अस्तित्व की गहराइयों से प्राप्त भाषा में व्यक्त करता है। उसकी कला ही वह हिरण्मय मात्र है, जिसमें सत्य ढका होता है। वह सत्य को कहता नहीं, उसका अनुभव करता है। पाठक को उसका साक्षी और भोक्ता बना देता है। इसीलिए गहन वेदना के क्षणों में जब कहीं कोई प्रकाश नहीं दिखता, जो एक बेचैन पाठक इन रचनात्मक कृतियों के पास जाता है। किसी महाकाव्य, किसी उपन्यास के पन्ने पलटता है जैसे कोई ईश्वर का द्वार खटखटाता है।

'अंतिम कुछ नहीं है'- ऐसा कहने का मेरा आशय कोई विरागमूलक नकारात्मक दृष्टि नहीं है, बल्कि मेरे निकट इसका एक सकारात्मक अर्थ है और वह यह कि सब कुछ सत्य है, कुछ भी असत्य नहीं। हमारा बहुविध जीवन, हमारा क्षण क्षण। जो भी दृश्य है, वह सब। जो अदृश्य है, वह भी। सृष्टि का हर स्पंदन, समय का हर कंपन, चर-अचर का हर भाव, हर अभाव। सच केवल वही नहीं है, जो समाज हमें बताता है, जो धर्म समझाता है, जो राज्य हमें निर्देशित करता है बल्कि वह भी है, जिसे ये झूठ कहते हैं। महाप्रकृति अपनी दुर्दमनीय इच्छाशक्ति और अपने नैसर्गिक नियमों में संचालित हो रही है। उसी का एक अंग है मनुष्य, जो उसी के क्रोड में, उसकी सीमाओं और नियमों में ही अपनी जिजीविषा, अंतःप्रेरणा, आकांक्षा, संकल्प और विवेक से संचालित है। ये दोनों मिलकर इतिहास का स्वरूप और उसकी नियति निर्धारित करते हैं। लोक प्रकृति और मानव प्रकृति या प्रकृति लोक और मनःलोक- ये ही दोनों आधार हैं, जिनके पास

अंततः जाना पड़ता है किसी भी अवधारणा को। महान रचनाकार इनसे छोटी कोई कसौटी स्वीकार नहीं करता। वह इस विराट बोध में अपना विवेक प्राप्त करता है या कहें कि अपने विवेक बोध में इस विराट का साक्षात्कार करता है। जो मान मूल्य, जो व्यवस्था मर्यादा, जो विधि निषेध, जो नीति नियम और जो सच-झूठ इस विराटबोध की उपेक्षा करता है, वह चाहे जिस धर्म का हो, चाहे जिस समाज, राज्य व्यवस्था या विचारधारा का हो- अंततः ध्वस्त हो जाता है, होता रहता है।

राज्य, धर्म, विचारधारा और साहित्य- इन चारों का अंतिम लक्ष्य एक ही है अर्थात् 'मनुष्य'। इनका जनम एक ही लक्ष्य के लिए हुआ है, पर कालांतर में इनकी दिशाएं अलग हो जाने के कारण इनमें स्पष्ट और गहरा विरोध हो गया है। राज्य, धर्म और विचारधारा- इन तीनों ने अपनी अपनी सत्ताएं कायम कर ली हैं और जैसा कि सत्ता का मूल चरित्र होता है, ये अपनी अपनी रक्षा में लगी हैं। इसीलिए व्यवहार में अब इनका मनुष्य के साथ रिश्ता उलट गया है। दुनिया के किसी भी राज्य, किसी भी धर्म और किसी भी विचारधारा का आप उदाहरण ले सकते हैं। सब अपनी ही सत्ता की लड़ाई लड़ रहे हैं और मनुष्य को अपने हथियार की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सही कहा था कि राज्य शासन, धर्म शासन और मत शासन, जनता को लाभ का लोभ और दंड का भय दिखाकर ललचाते और डराते आ रहे हैं।

साहित्य यह सब नहीं करता। वह अपनी अलग सत्ता नहीं बनाता। अपने को किसी भौगोलिक, राजनीतिक, धार्मिक या सांगठनिक सीमा में नहीं बांधता। जयशंकर प्रसाद ने अपने 'चंद्रगुप्त' नाटक में चाणक्य के माध्यम से इस बात को बहुत अच्छी तरह कहा है- 'ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है।... ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम एवं शाश्वत बुद्धि वैभव है...' प्रसाद ने एक आदर्श ब्राह्मण के लिए जो कुछ कहा है, एक आदर्श लेखक के लिए भी वही सच है। यदि लेखक किसी एक राज्य का नागरिक होता तो वियतनाम में हो रहे अमेरिकी बमबारी का विरोध स्वयं अमेरिका का ही लेखक न करता। अल्जीरिया के मुक्ति संघर्ष का समर्थन फ्रांस का लेखक न करता। हिटलर की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा का विरोध स्वयं जर्मनी का लेखक न करता। बांग्लादेश के हिंदुओं पर होने वाले धर्मांध आक्रमण का विरोध वहीं की एक लेखिका न करती।

साहित्य का देश मूल्यों का देश है। इस देश का निवासी कवि (कबीर) 'बेहदूदी मैदान' में सोता है। कोई सीमा नहीं, कोई दीवार नहीं। 'बे दरो दीवार का इक घर बनाना चाहिए' (गालिब)- एक शायर का यही सपना हो सकता है। 'देशे देशे मोर देश आछे' (रवींद्रनाथ)- हर देश में लेखक का देश है, क्योंकि उसकी सीमाएं कंटीले तारों से नहीं, मूल्यों से निर्धारित होती हैं। राज्य, धर्म और विचारधाराएं अनंत काल से चारों ओर दीवारें ही दीवारें खड़ी करती आ रही हैं- संप्रदाय की, जाति की, धन की, पद की, लिंग की- कितनी कितनी दीवारें। कवि इन्हें महसूस करता है- 'खड़ी है दीवार जड़ की घेर कर' (निराला)। उसके लिए दीवारें ही सबसे बड़ी

चुनौती हैं। इन्हीं से भेद पैदा होता है। इन्हीं से प्रकाश की किरणें बाधित होती हैं, इन्हीं से सीमाएं बनती हैं। दुनिया भर के कवियों ने इन्हीं को ढहाने की बार बार कोशिश की है। मध्यकालीन कवि जब 'चरन सरोवर' (चकई री चलि चरन सरोवर जहां न प्रेम वियोग-सूरदास) की बात करता है तो अध्यात्म के साथ उसके समय की बंदिशें भी व्यक्त होती हैं और आधुनिक कवि जब 'अंधकारा' (गहन है यह अंधकारा-निराला) की चर्चा करता है तो उसके समय के अंधकार में आध्यात्मिक वेदना भी झलक जाती है। दीवारें दोनों के लिए चुनौती हैं। इस दुनिया में कोई तो ऐसा देश होना चाहिए, जो मूल्यों का देश हो। साहित्य ही वह देश हो सकता है, जो प्रेम और एकता, समता और स्वाधीनता का देश है। निराला किस चाबी से अंधेरे का ताला खोलेंगे? कौन देगा चाबी उन्हें? क्या कोई राजनीति? कोई धर्म? कोई विचारधारा? या कि मनुष्य की वह बुनियादी संवेदनशीलता जो कि प्राणी मात्र में एक ही जीवन की धड़कन सुनती है? जिस दिन कोई लेखक अपने को किसी देश, जाति, धर्म या विचारधारात्मक संगठन का सदस्य मान लेता है, उसी दिन वह अपने स्थाई भाव से च्युत हो जाता है। लेखक वकील नहीं है, जो अपने गलत पक्ष की भी वकालत करता है। रचना के क्षण में वह तटस्थ होता है। तटस्थ होकर ही वह रचनाकार की उच्च भूमिका में पहुंचता है। उस भूमिका में, जिसे संतुलन की भूमिका कहते हैं और जिसमें सृष्टि के असंख्य ग्रह-नक्षत्र क्रियाशील हैं।

कुछ लोगों को 'तटस्थ' शब्द से चिढ़ है। उनका कहना है कि कोई भी 'तटस्थ' नहीं हो सकता है। सबका कोई न कोई पक्ष होता है। ऐसा कहने वालों का भी एक पक्ष है- अर्थात् वे तट पर स्थित नहीं होते, किसी धारा में बह रहे होते हैं। कबीर तटस्थ थे, इसलिए हिंदू और मुस्लिम दोनों ही धर्मों के पाखंडियों को फटकार सकते थे लेकिन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ या मुस्लिम लीग से संबद्ध लेखक ऐसा नहीं कर सकते। प्रगतिशीलों में भी मुझे हिंदुओं के देवी-देवताओं की खिल्ली उड़ाने वाले तो बहुत दिखे, पर मुसलमानों-ईसाइयों के पूज्य पुरुषों पर उंगली उठाने का साहस विरले में ही दिखाई पड़ा। फिर पार्टी से संबद्ध लेखकों को अपनी पार्टियों की आलोचना करते भी नहीं देखा जाता। यहां लेखक की तटस्थता का अर्थ समझ में आता है। तटस्थ होना उदासीन या निरपेक्ष होना नहीं, बल्कि वस्तुपरक होना है। पार्टी आदि से संबद्ध लेखक ही 'तटस्थता' शब्द के सबसे ज्यादा विरोधी हैं, यह तथ्य भी गौर करने लायक है। राजनीति, धर्म, जाति, संप्रदाय, पार्टी आदि लेखक की वैचारिक स्वतंत्रता को प्रभावित करती रहती है, फिर भी इन सबके बीच लेखक का विवेक बोध जिंदा रहता है। यह विवेक बोध, अर्थात् न्याय के बिंदु पर स्थित होना ही तटस्थता है।

आज तमाम राजनीतिक शक्तियां, धार्मिक संस्थाएं और व्यावसायिक संगठन लोक कल्याण के नाम पर लगातार झूठ का प्रचार कर रहे हैं। चाहे तानाशाही की सेंसरशिप हो या आर्थिक उदारीकरण वाली व्यवस्था दोनों में आज के जनसंचार माध्यम योजनानुसार लोगों को दिग्भ्रमित कर रहे हैं। कुल मिलाकर आज की सूचना क्रांति का इस्तेमाल झूठ को सच बनाने में लगा है। ऐसे में रचनाकार के अलावा और किससे उम्मीद की जा सकती है? वही हमारी

आस्था का केंद्र बन सकता है। भारत में वह सदा से आस्था का केंद्र रहा है। त्रेता में राज्य से निष्कासित होने के बाद पृथ्वी पुत्री को वाल्मीकि आश्रम में शरण मिलती है और द्वापर में व्यास ही आस्था के केंद्र बनते हैं। उन साहित्य कर्मियों पर तरस आता है, जो राजनीतिक नेताओं के इर्द-गिर्द मंडरा कर शक्ति अर्जित करना या सांप्रदायिक और जातिवादी संगठनों से जुड़कर अपना सिक्का चलाना चाहते हैं। दुनिया भर में साहित्य की एक उदार सहिष्णु परंपरा रही है और हर भाषा का रचनाकार इस परंपरा का गायक रहा है। दुनिया भर के कवियों-शायरों ने न केवल अपने समय की राजसत्ताओं की उपेक्षाओं की हैं, बल्कि खुदा तक को चुनौतियां दी हैं। उदाहरण के लिए कोई चाहे तो हिंदी के ही संतों-भक्तों और उर्दू के अनेक शायरों की रचनाओं का स्मरण कर सकता है।

आज दुनिया का हर आदमी महसूस कर रहा है कि मनुष्यता की व्यापक नियति राजनीतिक शक्तियों की मुट्ठी में है। हर महत्वपूर्ण निर्णय, चाहे रोटी के संबंध में हो या पर्यावरण के, शांति के संबंध में हो या संस्कृति के, राजनीतिक शक्तियों के द्वारा ही लिए जाते हैं। राजनीति भी ऐसी है, जिससे 'नीति' गायब हो गई है और दुनिया एक बाजार में बदल गई है जहां सब कुछ व्यावसायिक हो गया है- मनुष्य-मनुष्य का आपसी संबंध भी। ऐसे में क्या साहित्य की कोई जरूरत रह गई है? इस गहन अंधकार में क्या साहित्य पाठक को कोई रोशनी दे सकता है?

रचना की शक्ति सत्य की शक्ति होती है। यही नैतिक शक्ति है। सबसे मजबूत। जो अकेले भी खड़ी हो सकती है और तो सत् और असत् के संघर्ष में मनुष्यता को राह दिखा सकती है। उसे सामायिक और चिरंतन प्रश्नों से रू-ब-रू कर सकती है। जो कुछ भी मूल्यवान है और मनुष्य के भीतर सो रहा है, उसे जगा सकती है। विज्ञान और टेक्नॉलाजी सीधी लकीर में बढ़ती जाएगी। उसके पास न कोई दृष्टि है, न संवेदना। संवेदनशीलता- जिसकी कमी से आज का आदमी सूख रहा है और दुनिया बदरंग हो रही है, किस माध्यम से प्राप्त होगी? भाषा, जिसे सरकारें और सूचनातंत्र भ्रष्ट कर रहे हैं, कैसे प्राणवान और पवित्र होगी? मनुष्यता ने लाखों वर्षों का इतिहास भोगा है। प्रकृति के भयंकर कोपों को झेलते हुए, बर्बरों और लुटेरों के उत्पीड़न और शोषण के बीच भी मनुष्य के भीतर जो बच गई है उसकी मनुष्यता, संवेदनशीलता, नैतिकता, स्वातंत्र्य भावना, संघर्षशील चेतना, वह किसके कारण? क्या उन्हीं कल्पनाओं और मिथकों के कारण नहीं, जिन्हें कुछ लोग मिथ्या मानते हैं।

महानता के मिथकों में पलीता लगाने वाले उत्तर आधुनिकों से अनुरोध है कि कुछ तो ऐसा रहने दें, जो मनुष्यता के लिए आदर्श और काम्य रह सके। सब कुछ को विराट गू में बदल देने से क्या हासिल होगा? साहित्य की दुनिया में खंड-खंड कर रहे, अपने ही बाड़े में मड़िया मार रहे लोलुप रचनाकारों से भी निवेदन है कि कोई भी भूखंड तो ऐसा छोड़ दें, जो उनके बांस-बल्लियों-खूंटों से मुक्त हो जहां बेदरो दीवार का एक घर बनाया जा सके।



## भाषा की सरहद पर हिंदी कविता

अरविन्द त्रिपाठी

हिंदी की समकालीन कविता की काव्यभाषा पर विचार किया जाए तो काव्यभाषा के हलके में गहरे संकट दिखाई पड़ते हैं। दुर्भाग्यवश इस आसन्न संकट की ओर कवियों-आलोचकों का ध्यान अब तक नहीं गया है। हर बड़े कवि की कोशिश होती है कि वह अपनी भावाभिव्यक्ति को एक नई भाषा में रचने की सामर्थ्य अर्जित करे। अपने समय में लिखी जा रही प्रचलित भाषा को तोड़कर एक नई अर्थवान भाषा निर्मित करें। जाहिर है यह प्रक्रिया बहुत जटिल होती है। यह काम हर दौर में कुछ ही प्रतिभाएं कर पाती हैं। कविता की नई भाषा रचने के लिए अपनी परंपरा में अर्जित की गई भाषा में सूक्ष्म अन्वेषण करना होता है। वर्तमान की चुनौतियों के आलोक में शब्दों को समाज, राजनीति, लोक-व्यवहार, अर्थ-व्यापार, रोजमर्रा के कामकाज के बीच से चुनना पड़ता है। काव्य की सृजन-प्रक्रिया में शब्द उस बीज की तरह है जो काव्य को एक नई उपज देता है। दुर्भाग्यवश इधर कविता में शब्द-बीजों की नई खोज रुक-सी गई है। हम पुराने बीज से ही नई खेती करने के अभ्यस्त होते जा रहे हैं। यह स्थिति कविता के लिए खतरनाक है। बहुत कम कवि हैं जो इस खतरे से वाकिफ हैं। बाकी सब पुराने बीज से ही कविता को जोत-बो रहे हैं।

अगर इतिहास से सबक लेनी ही हो तो खड़ी बोली की कविता के विकास को देखिए। द्विवेदी युग में कविता की भाषा क्या थी और छायावाद में क्या हो गई। छायावाद के चार बड़े कवियों निराला, प्रसाद, पंत और महादेवी ने अपने समय की कविता में एक नई भाषा रची। जिनमें निराला का योगदान अन्यतम है। प्रसाद ने एक नई भाषा रचने के लिए इतिहास मिथक और संस्कृति के गहरे तलों में प्रवेश करके अपने लिए एक धीर-गंभीर और शांत किस्म की भाषा का निर्माण किया। 'कामायनी' उस अर्जित की गई भाषा का एक विशाल भूखंड है जिसे कालांतर में अज्ञेय ने ज्यों-का-त्यों ले लिया और उसे विस्तार देने के लिए प्रयोगवाद और नई कविता में कोशिश की जिसे लोगों ने बाद में अज्ञेय का भाषा वैभव कहा। प्रसाद की काव्य-भाषा में हजार वर्षों के इतिहास और संस्कृति की आवाजें हैं जबकि पंत ने छायावाद के दौर में छायावाद के मिजाज को परखकर विशुद्ध काव्य-भाषा का निर्माण किया। कविता में शब्द का जिसे जादू कहते हैं वह देखना है तो पंत की कविता को पढ़ना प्रीतिकर अनुभव है। काव्यत्व

में कोमल भाषा का इस्तेमाल सबसे पहले पंत ने किया। कविता में शब्द कैसे आने चाहिए, उनकी जगह और पंगत क्या हो, यह सीखना हो तो पंत हमारी सबसे अधिक मदद कर सकते हैं। पंत की कविता में शब्द बजते हुए सुनाई पड़ते हैं जैसे ढोलक के भीतर जामुन के बीज डालकर ताल दिया जाए। पंत की कविता में अद्भुत नाद सौंदर्य है-

*मृदु मंद-मंद मंथर-मंथर*

*लघु तरणि हंसिनी सी सुंदर*

*तिर रही खोल पालों के पर। (नौका विहार)*

इन काव्य पंक्तियों में महज 'म' की आवृत्ति से नाद सौंदर्य पैदा किया गया है। काव्य में नाद सौंदर्य पुरुष के बर-अक्स कोमल शब्दों के चुनाव से ही संभव है। पंत ने भाषा की इस ताकत का इस्तेमाल काव्य सौंदर्य को अर्जित करने के लिए किया था। उनकी समूची काव्य यात्रा में शब्द के विविध प्रयोगों के साथ उसकी अनेकांत छवियों को भी देखा जा सकता है। यही नहीं पंत ने भाषा के रूप, रस, गंध, और यहां तक कि स्पर्श करने की क्षमता का भी विकास किया। काव्य में स्पर्श करने की क्षमता बाद में शमशेर ने अपने शब्दों के जरिए पैदा की, जो उनकी काव्यशक्ति का प्राण हैं। शमशेर के बाद समकालीन कविता में शब्द से स्पर्श करने की क्षमता का सूक्ष्म अन्वेषण मंगलेश डबराल की कविता में महसूस किया जा सकता है। पर यह सच है कि काव्य भाषा में ध्वनियों का इस्तेमाल इधर की कविता में बहुत विरल है जो कभी पंत का सबसे अधिक असरदार माध्यम था-

*संध्या का झुटपुट*

*बांसों का झुरमुट*

*चहक रहीं चिड़ियां*

*टी वी टू टू टू टू...*

यही नहीं पंत की काव्यभाषा में घ्राण-शक्ति भी गजब है। वे शब्दों से काव्यानुभूति को बार-बार सूंघते हैं। ऐसा करते हुए वे कविता के भीतर रूप, रस, गंध का बार-बार आस्वाद लेते हैं। वे शब्दों के भीतर उड़ने की क्षमता विकसित करते हैं। जरूरी नहीं कि शब्द अर्थभार के साथ उड़े, पर उड़े जरूर। पंत की प्रसिद्ध कविता 'बादल' शब्दों की उड़ान का बेहतर नमूना है। चूंकि पंत के काव्य में कल्पना बहुत जोर से गतिमान है इसलिए वे शब्दों के परो को हमेशा के लिए खोले रहते हैं-उस माली की तरह जो लॉन के भीतर हमेशा एक बड़ा कैंचा लिए खड़ा रहता है कि कोई घास बेतरतीब उगे तो चट से उसका तमाम कर दे। देखा जाए तो पंत हिंदी कविता के इतिहास में शब्द के एक कुशल कारीगर के साथ कुशल पारखी भी हैं। कविता में शब्दों को लाने के पहले वे जानते हैं कि किस शब्द की क्या उपयोगिता है। अगर उपयोगिता न भी हो तो कुछ शब्द मोहवश शामिल कर लेते हैं। उनके यहां दर्जनों ऐसे शब्द मिल जाएंगे जो महज तुकविन्यास और शब्द-खेल के लिए आजमाए गए हैं। रिलमिल, झिलमिल, टलमल, दलमल, खिलखिल जैसे शब्दों की छटाएं महज शब्द खेल के लिए हैं। मानों कविता के भीतर

शब्द कोई गेंद हो जिसे बिना खेले पंत रह नहीं पाते। नई कविता के दौर में श्रीकांत वर्मा अकेले कवि हैं जो पंत के इस शब्द खेल से बहुत प्रभावित थे। वे पंत के शब्द शिल्पी रूप से मोहाविष्ट भी थे। उस दौर में उन्होंने 'कृति' का पंत पर एक महत्वपूर्ण विशेषांक भी संपादित किया। देखा जाए तो छायावाद के दौर में शब्द से खेलने की जो कला पंत ने ईजाद की वह कालांतर में श्रीकांत वर्मा की कविता का एक लोकप्रिय मुहावरा बना। श्रीकांत वर्मा इस शब्द खेल को 'विट' और 'आयरनी' तक ले गए जहां काव्यार्थ की नई भंगिमा का उन्मेष दिखाई पड़ता है। जिसका सर्वोत्तम इस्तेमाल धूमिल ने अपनी कविता में लोक जीवन के 'ठेठ' और 'भदेस' काव्य संस्कार के साथ किया। अगर पंत ने अपनी कविता में शब्द को कंदुक की तरह कौतुक दिखाया तो श्रीकांत और धूमिल ने शब्द खेल से अपनी कविता में अर्थवान प्रयोग भी दिखाया।

समकालीन कविता में यह शब्द-खेल हालांकि कम नहीं है, बल्कि अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे, चंद्रकांत देवताले, लीलाधर जगूड़ी में शब्द खेल की अदाएं देखी जा सकती हैं। पर शब्द खेल केवल शब्द क्रीड़ा मात्र काव्यानुभूति को तीक्ष्ण और जीवंत करने और शब्द खेल के जरिए अर्थ की एक नई भावभंगिमा प्रकट करने के लिए होता है। श्रीकांत वर्मा और धूमिल ने अपने कविकर्म में शब्द खेल के जरिए काव्य में व्यंग्य और नाटकीयता पैदा की। जरूरत है आज कवियों द्वारा अपने प्रिय शब्दों से नई अर्थवत्ता हासिल करने की।

छायावाद में पंत ने कविता के लिए जो भाषा अर्जित की वह ऐतिहासिक है। एक तरह से वे खड़ी बोली में काव्यभाषा को तैयार करनेवाले वे सबसे बड़े कारीगर हैं। देखा जाए तो पंत की भाषा के जरिए छायावाद की समूची काव्यभाषा निर्मित होती दिखाई देती हैं। पंत छायावाद की भाषा के की-बोर्ड हैं। हालांकि स्वयं निराला ने छायावाद के भीतर पंत के भाषिक की-बोर्ड को छिन्नभिन्न करके छायावाद के दौर में ही कविता की एक नई भाषा गढ़ी। एक ऐसी नायाब भाषा जो कविता के इतिहास में सिर्फ कबीर के पास थीं।

महादेवी ने हालांकि छायावाद के भीतर कोई नई भाषा ईजाद नहीं की बल्कि उनकी काव्य-भाषा पंत और प्रसाद से ही पुष्पित और पल्लवित होती है। पंत की भाषा का जो खिलंदड़ापन है उसे महादेवी ने छोड़कर प्रसाद की राह में अपने विरह गीतों के लिए लयात्मक भाषा विकसित की। अपने मार्मिक गीतों में शब्दों की गूंज और उसकी नीरवता को पकड़ने की सार्थक चेष्टा की। शब्दों के बीच 'नीरवता' क्या है, यह देखने के लिए महादेवी के काव्य से गुजरना बड़ा दिलचस्प है। महादेवी के बाद शब्दों के बीच की नीरवता को अज्ञेय और बाद में कुंवरनारायण, साही ने गहन स्तर पर पकड़ने की सार्थक कोशिश की। अज्ञेय के बहुआयामी व्यक्तित्व का जो मितभाषी आग्रह कविता में मौजूद है वह शब्द की नीरवता से ही पैदा हुआ है। अगर उनकी काव्यभाषा में प्रसाद की गुरु-गंभीरता है तो दूसरी ओर महादेवी की नीरवता भी है। 'असाध्य वीणा' कविता में नीरवता के जितने भी तार हैं वे महादेवी से ही अर्जित किए गए हैं। जो लोग अज्ञेय की काव्यभाषा को नई कविता की काव्यभाषा का पथ मानते हैं, उन्हें प्रसाद और महादेवी की काव्यभाषा के अवदान और वैशिष्ट्य को नए सिरे से समझने की

जरूरत है। सच्चाई यह है कि काव्यभाषा के रागों और असाध्य वीणा के तारों में प्रसाद और महादेवी की समवेत आवाजें और गूंजें हैं। अज्ञेय की काव्यभाषा बुनियादी तौर पर रोमांटिक और अपने मिजाज और रंगत में अंततः छायावादी है। वे छायावादी भाषा को अपने काव्यभाषा में अर्जित करते समय न तो उसे छोड़ पाए और न तोड़ पाए। आधुनिक खड़ी बोली की काव्य भाषा के निर्माण के सिलसिले में इस ऐतिहासिक सच्चाई को आज समझने की जरूरत है। यद्यपि अज्ञेय जीवन भर अपना ओहदा शब्द साधक का बनाए रक्खा पर उनके पास बुनियादी तौर पर निराला जैसी शब्द भंजक महारथी प्रतिभा न थी। तारसप्तक परंपरा का सूत्रपात करते हुए उन्होंने अपने वक्तव्यों में नए शब्द नई भाषा को खोजने की बातें कीं। वह प्रयोगवाद के अन्य कवियों में, दिखाई भी पड़ता है पर स्वयं अज्ञेय की काव्यभाषा की लंबी मंजिलों में कोई नयापन, तोड़-फोड़ दिखाई नहीं देता जबकि उनका गद्य आश्चर्यजनक रूप से गद्य की नई भाषा का सूत्रपात करता है। कविता में नई भाषा अर्जित न कर पाने की सबसे बड़ी वजह यह थी कि वे अपने काव्य संस्कार में बुनियादी रूप से रोमांटिक, एकांतजीवी थे। इसलिए एक रोमांटिक विचारधारा का कवि कभी भी भाषा के रोमांचक दौर से गुजरने का साहस और जोखिम नहीं उठाना चाहता। अज्ञेय ने इसीलिए काव्यभाषा के पारंपरिक, पर-अर्जित स्वरूप में कोई बुनियादी छेड़छाड़ नहीं की बल्कि उसी से अपना उपजीव्य ग्रहण करते रहे। यह बात कई बार अचंभे में डालती है कि कविता में प्रयोगों का इतना बड़ा हिमायती, आधुनिकता का सबसे बड़ा पुरस्कर्ता जब काव्यभाषा के मोर्चे पर आता है तो पीछे हट जाता है। यह काव्य-नियति की विडंबना ही माननी चाहिए कि कविता में मितभाषी शब्दों का इतना बड़ा आग्रही अंततः काव्य-भाषा के मोर्चे पर परंपरा में जकड़ी भाषा की गिरफ्त में फंस गया।

छायावाद के उत्तरवर्ती दौर में जो काम काव्यभाषा को लेकर निराला को करना पड़ा अगर उसका उत्तरदायित्व स्वयं अज्ञेय निभाते तो अज्ञेय की भूमिका निश्चय ही निराला की तरह महान होती। तब शायद उनकी काव्यभाषा वहीं नहीं होती जो आज मौजूद है और उनके काव्यानुभव भी इतने सीमित न होते। जिस कवि की भाषा के रूट्स जितने गहरे, विविध और लोकधर्मी होंगे उतनी ही विशद उसकी काव्य देह की ऊंचाई और बलिष्ठता होगी। आप कल्पना करिए कालिदास के पहले कविता की भाषा क्या रही होगी? स्वयं कबीर के पहले कवियों के भाषिक संस्कार और स्वरूप क्या थे? छायावाद के दौर में निराला के पहले खड़ी बोली की काव्य भाषा के क्या संस्कार और स्वरूप थे जिसे निराला ने शिव के धनुष की तरह उठाकर एक सांस में ही तोड़ दिया। सवाल उठता है जब निराला ने छायावाद के दौर में ही छायावाद की भाषा तोड़ दी तो क्या उन्हें छायावाद की भाषा से मोह नहीं था?

मोह जरूर रहा होगा। क्योंकि निराला ने आरंभ में कविताएं परंपरा से अर्जित काव्यभाषा में ही लिखीं लेकिन 'परिमल तक आते-आते वे इस निर्णय पर पहुंच चुके थे कि हिंदी कविता को न केवल अनुभूति में बल्कि काव्याभिव्यक्ति के सारे माध्यम-औजारों में ऐतिहासिक बदलाव की जरूरत है। इस सिलसिले में उन्होंने जो महत्वपूर्ण बदलाव किए उनमें काव्य भाषा सबसे



महत्वपूर्ण है। निराला ने काव्यभाषा में शायद पहली बार जीवन और समाज के ऐसे शब्दों की पेशकश की जो कविता की दुनिया से बाहर थे या काव्य मिजाज के उपयुक्त नहीं माने जाते थे। उन्होंने भाषा के अभिजात्य मिथ को तोड़कर कविता की भाषा को जनता की भाषा से जोड़ने की पहल की। कविता की आवाज जो केवल विशिष्ट समाज को ही पुकारती थी उसकी जगह निराला ने साधारण समाज, साधारण आदमी, साधारण जीवन को, बोलचाल की भाषा में पकड़ने की कोशिश की। कविता में बोलचाल का यह जो लहजा आज फल-फूलकर काफी विकसित हो चुका है उसे उगाने और बढ़ाने में निराला का योगदान न केवल ऐतिहासिक है बल्कि इस शताब्दी की कविता का निर्णायक क्षण है जिसे भूलकर हिंदी की आधुनिक कविता में काव्यभाषा इतिहास लिखना मुश्किल होगा।

देखा जाए तो निराला की काव्यभाषा का अवदान दो स्तरों पर खासतौर से महत्वपूर्ण है। एक तो यह कि यथार्थवादी कविता के लिए कविता की भाषा किस तरह मानक हो सकती है। इसको प्रकट करने के लिए उन्होंने 'तोड़ती पत्थर', 'भिक्षुक', 'जागो फिर एक बार', 'कुकुरमुत्ता', 'अबे सुनबे गुलाब', 'मंहगू मंहंगा रहा', 'गर्म पकौड़ी', 'झींगुर डट कर बोला', 'मास्को डॉयलाग' जैसी युगांतरकारी कविताएं लिखीं। इन कविताओं में व्यक्त यथार्थ को उजागर करने के लिए जिस पुरुष, उबड़-खाबड़ समाज के घूरे पर फेंके गए गुम-शब्दों की जरूरत थी उन्हें सहेजकर कविता के भावलोक में एक विस्फोट की तरह इस्तेमाल किया। ध्यान दिया जाए तो मुक्त छंद के प्रवाह के लिए एक ऐसी भाषा की जरूरत थी जो कविता में बाकायदा 'डॉयलाग' कर सके। कविता में (डॉयलाग) के लिए एक ऐसी भाषा की जरूरत होती है जो आमने-सामने बैठकर सीधा संवाद करने की क्षमता रखती हो। निराला के लिए जरूरी था कि वे न केवल छायावाद की कोमल भाषा को तोड़कर, या फिर सर्वथा छोड़कर यथार्थवादी कविता के लिए एक पूरी शब्दावली गढ़ते। इसके लिए उन्होंने छायावाद के भीतर और बाहर व्यापक बदलाव के संकेत दिए। कहना न होगा कि यदि निराला न होते तो प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता समेत इधर अर्धशती की कविता में जो व्यापक बदलाव दिखाई दे रहे हैं वे इतने जल्दी संभव न होते। निराला का अन्यतम योगदान यह है कि उन्होंने पहली बार हिंदी कविता में न केवल यथार्थवादी कविता की नींव रखी बल्कि उसे व्यक्त करने के लिए एक अत्यंत उर्वर काव्यभाषा की खोज की। ऐसा करते हुए वे प्रसाद, पंत, महादेवी, अज्ञेय आदि से बहुत आगे निकल जाते हैं। निराला के अवदान को देखते हुए कहा जा सकता है वे सिर्फ उपलब्धियों के कवि नहीं हैं बल्कि आने वाली शताब्दी के भीतर जीने वाले अनंत संभावनाओं के कवि हैं।

काव्यभाषा के दूसरे स्तर पर उनका जो अवदान है वह भी अद्वितीय है। वह परंपरा की भाषा को तोड़ने के बावजूद उसके जीवित शब्द बीजों को बचाए रख सके क्योंकि वे जानते थे सब कुछ तोड़ना बुद्धिमानी नहीं। इसलिए उनकी काव्य-भाषा का दूसरा कालजयी चेहरा 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास', 'शिवजी के नाम पत्र', 'संध्या सुंदरी', 'जूही की कली', जैसी कविताओं में दिखाई पड़ता है। वहां परंपरा की भाषा का निषेध नहीं बल्कि उसका एक नए

रूप में अन्वेषण है। कभी-कभी आश्चर्य भी होता है जो कवि 'तोड़ती पत्थर', 'गर्म पकौड़ी', 'कुकुरमुत्ता' की भाषा में काव्य लिख सकता है वही कवि 'राम की शक्तिपूजा' सरीखी कविताएं पहले लिख चुका है। इस तरह देखा जाए तो निराला की काव्य-भाषा में दो परस्पर विरोधी स्वर, चेहरे, दिखाई पड़ते हैं, जो परस्पर 'विरुद्धों का सामंजस्य' जान पड़ते हैं।

सवाल यह है कि क्या आज की कविता की भाषा के लिए दो विरुद्ध छोरों पर लिखी जाने वाली भाषा की जरूरत है? क्या काव्य भाषा के आभिजात्य से मुक्ति के लिए हजारों साल की अर्जित पारंपरिक भाषा की बहुविध छवियों, ध्वनियों और संस्कारों को तज दिया जाए? आज की कविता की भाषा के सिलसिले में यह सवाल बहुत मौजूद हैं। क्योंकि निराला की काव्यभाषा की विरासत में काव्यभाषा के दोनों स्तर मौजूद हैं। एक ओर परंपरा से अर्जित काव्यभाषा का सांस्कृतिक वैभव है तो दूसरी तरफ-काव्य भाषा के किसी भी तरह के आभिजात्य स्वरूप का सर्वथा अस्वीकार।

आज की कविता के सिलसिले में मुझे लगता है कि इन दोनों छोरों को पकड़कर ही काव्यभाषा की एक नई बुनियाद रक्खी जा सकती है। आखिर समकालीन कविता जिन पंचतत्वों निराला, मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन से निर्मित हुई है उनके काव्यभाषा के रूपों पर गौर करें तो उनमें जो भाषाई विविधता है वहां परंपरा की अर्जित की हुई भाषा के भी चेहरे जगह-जगह दिखाई देते हैं। इन कवियों में काव्य भाषा के अनेक स्तर और स्वर विद्यमान हैं। कम से कम नागार्जुन, शमशेर और त्रिलोचन में भाषाई विविधता साफ तौर पर झलकती है। इन कवियों की काव्यभाषा में नागार्जुन पहले कवि ठहरते हैं जिसमें निराला की काव्यभाषा की परंपरा का कुशल और विविध रूप दिखाई पड़ता है। नागार्जुन की पचास वर्षों में लिखी कविताओं की भाषा का अगर बारीक विश्लेषण किया जाए तो जो नतीजे निकलते हैं उसमें परंपरा के निर्वाह के साथ भाषा की भूमि पर प्रयोग की तोड़-फोड़ बेहिसाब हुई है। निराला ने अपनी काव्यभाषा के जरिए साधारण आदमी को जो जुबान दी उसे और तेज स्वर में नागार्जुन ने भास्वर किया। काव्यभाषा के स्तर पर वे जितने आधुनिक, प्रगतिशील, प्रयोगशील और क्रांतिकारी दीखते हैं उतने ही परंपरावादी, परंपरान्वेषी और परंपरा भंजक कवि दिखते हैं। वे सिर्फ खड़ी बोली के कवि नहीं हैं बल्कि संस्कृत, मैथिली, बांग्ला के भी उतने ही समर्थ कवि हैं। अपनी परंपरा में वे कितने निकट हैं 'देखिए सिंदूर तिलकित भाल' कविता को। ऐसी कविताओं में भाषा की तहों में हिंदी की तत्सम शब्दावली की बहुलता के अलावा मैथिली, बांग्ला और संस्कृत की शब्दावलियों का बेहिचक प्रयोग है, जहां वे पंत की तरह भाषा के पंख खोलकर प्रकृति में बेहिचक उड़ते नजर आते हैं। यहां भाषा का मानकीकरण देखा जा सकता है जिसमें परंपरा से ही अर्जित भाषा का उपयोग है।

दूसरी ओर वे जब 'नेवला', 'टीले पर बैठी बाघिन', 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने', 'शाबास! महान अभिनेत्री', 'जयप्रकाश पर पड़ी लाठियां लोकतंत्र की', 'इंदुजी क्या हुआ आपको', 'आओ रानी हम ढोएंगे पालकी' जैसी क्रांतिकारी और व्यंग्यधर्मी कविताएं लिखते हैं तो भाषा

का रुख बदल जाता है। नागार्जुन तब साधारण जीवन के ठेठ शब्दों से व्यंग्य और नाटकीयता की शक्ति अर्जित करते हैं-

क्या हुआ आपको?  
क्या हुआ आपको?  
सत्ता की मस्ती में  
भूल गई बाप को?  
इंदुजी! इंदुजी! क्या हुआ आपको?  
बेटे को तार दिया बोर दिया बाप को

रानी महारानी आप  
नवाबों की नानी आप  
नफाखोरों सेठों की अपनी सगी माई आप  
काले बाजार की कीचड़ आप, काई आप। (इंदुजी! क्या हुआ आपको)

ऐसी कविताओं में वे भाषा के पूरे वेग को झोंक देते हैं। ये शब्द साधारण समाज के रोजमर्रा अनुभव से उपजे हैं जो बातचीत, संबोधन, व्यंग्य के लहजे में बदल जाते हैं। वे बातचीत के लहजे में तुक बिट का निराला की तरह ही आक्रामण प्रयोग करते हैं। जिसे भाषा की आक्रामकता और सपाट बयानी कहते हैं उसे देखना हो तो नागार्जुन की कविता अपनी इन अदाओं के लिए बेहद लोकप्रिय हैं।

टूटे सींगों वाले सांढो का यह कैसा टक्कर था  
उधर दुधारू गाय अड़ी थी  
इधर सरकसी वक्कर था  
समझ न पाओगे वर्षों तक  
जाने कैसा चक्कर था  
तुम जन कवि हो तुम्हीं बता दो  
खेल नहीं था टक्कर था।

(खिचड़ी विप्लव देखा हमने)

नागार्जुन ऐसी भाषा अर्जित करने के लिए ठेठ देहात से लेकर कस्बों, शहरों की राजनीति, धर्म, व्यापार, जालसाजी, गुंडागर्दी, जेबकतरी, जरायम पेशी, आर्थिक गुलामी की दुनिया के अनुभवों से अपनी भाषा अर्जित करते हैं। ऐसा करते हुए उन्हें कोई शब्द कविता की दुनिया से बाहर का नहीं दिखाई देता। वे सच्चे अर्थों में जनता के, जनता की भाषा में लिखने वाले मूर्तिभंजक क्रांतिकारी और औघड़ शब्दसाधक कवि हैं। नामवर सिंह ने यदि नागार्जुन को व्यंग्य की विदग्धता के लिए कबीर के बाद हिंदी का सबसे बड़ा व्यंग्यकार कहा है तो इसलिए कि उनके पास हमारी शताब्दी के चौतरफा फैले यथार्थ को व्यक्त करने के लिए एक समर्थ, व्यंजक, जो कहीं शिष्ट हास्य भी पैदा करती है, वाली भाषा है। उनकी भाषा का पाट उनकी कविता की

तरह विचित्र और विलक्षण है, तभी तो वे प्रकृति राग से लेकर मानवीय राग की सजल कविताएं रच पाते हैं। गौर करें तो उनके व्यंग्य मिश्रित भाषा के भीतर दुःख और संताप रिसता रहता है। देखिए इस कविता को-

शाबास!  
यह अभिनय तो  
कमाल का रहा आपका  
दुःख का ऐसा मंचन  
दर्शक समुदाय  
पहली बार देख रहा था  
भाव-विमुग्ध गूंगे बेचारे  
श्रद्धालु सरल सामान्य जन  
होली के दिन उमंग में  
गुलाब का टीका लगाने गए थे  
वो आपको  
x      x      x  
आपने कहा  
मेरा दिल दुःखी है  
आसाम का दुःख देखा नहीं जाता  
में नहीं देख सकूंगी।

(शाबास! महान अभिनेत्री)

देखा जाए तो नागार्जुन ने काव्यभाषा का वही रास्ता चुना जो निराला का पाथेय था। उन्होंने कविता के लिए परंपरा से अर्जित भाषा के साथ ही साथ जनता की बोलचाल वाली भाषा का इस्तेमाल किया जिसका उद्गम स्रोत बोलियां हैं। नागार्जुन ने जनपदीय बोलियों के मिश्रण से एक खास तरह की समावेशी जन काव्यभाषा विकसित की। यह देखने में दुर्भाग्यपूर्ण लगता है कि नागार्जुन की परंपरा में कविता लिखने वाले हमारे समय के अधिकांश कवि कविता में बात करते हैं जनता की, क्रांति की, साधारण जीवन के रोजमर्रा अनुभवों की, पर उसकी अभिव्यक्ति के लिए जिस भाषा का इस्तेमाल करते हैं वह होती है-एलीट क्लास को संबोधित करने वाली। आलोक धन्वा जो नागार्जुन की मिट्टी की ही उपज हैं यह देखकर हैरत होती है कि उनकी कविता की भाषा बेहद मांजी हुई है। इस तरह मांज दी गई है कि स्थानीयता, जनपदीयता के सारे रंग गायब हो गए हैं। नागार्जुन जिस तरह दर्रेरा देकर भाषा को लगभग गोली की तरह फायर करते हैं उस तरह की फायरिंग आलोक नहीं कर पाते। उनकी काव्यभाषा में न तो सादगी आ पाती है और न व्यंग्य विदग्धता जो पाठक को अपने आप संप्रेषित कर देती है। 'गोली दागो पोस्टर' और 'जनता का आदमी' कविता की भाषा साधारण होते हुए शिल्प के आतंक से इतना मोहविष्ट है कि पाठक तक वह सीधे संप्रेषित नहीं हो पाती जबकि पतंग,

सफेद रात, चौक, शरद की रातें जैसी कविताओं में भाषाई सहजता अर्थ को पूरी तरह संप्रेषित करती है। ये कविताएं और सार्थक और प्राणवान हो सकती थी अगर आलोक इनमें भोजपुरी इस्तेमाल करते।

आलोक की काव्यभाषा की बुनियादी दिक्कत यह है कि वे चमकदार शब्दों को जानबूझकर कविता में लाते हैं फलतः भाषाई सहजता गायब हो जाती है और कविता का आलोक संप्रेषित होने में दिक्कत महसूस करने लगता है। आलोक अतिरिक्त सतर्कता बरतते हैं फलतः उनकी काव्यभाषा में न विविधता है और न वाणी में वह विदग्धता जो कविता को सीधे प्रक्षेपित करती है।

नागार्जुन की काव्यभाषा परंपरा में हिंदी के दो कवि खासतौर से आकृष्ट करते हैं वे हैं भगवत रावत और गोरख पांडेय। भाषाई विविधता के साथ सादगी का ऐसा सौंदर्यलोक भगवत और गोरख रचते हैं कि पाठक सहज ही आकृष्ट हो उठता है। नागार्जुन की काव्यभाषा का जो लोकपक्ष है उसे विकसित करने में गोरख पांडेय की काव्यभाषा सबसे ज्यादा जीवंत, प्राणवान और लोकधर्मी है। गोरख पांडेय भोजपुरी समाज की बोली-बानी को जितनी गहन मार्मिकता के साथ व्यक्त करते हैं वैसा ठेठ ग्राम्यानुभव इधर की कविता में कम उगाजर हो पाया है।

नागार्जुन की काव्यभाषा को व्यापक प्रतिष्ठा दिलाने वाले कवियों में भगवत रावत साधारण जीवन को व्यक्त करने वाले एक विलक्षण कवि इस मायने में हैं कि वे भाषा को कविता में उसी तरह लाते हैं जैसे मौसम में अचानक बारिश आती है। उनकी भाषा का लहजा बतकही का है। उनकी अनेक महत्वपूर्ण कविताएं जैसे कथा कहती हैं, साधारण आदमी की साधारण जुबान में। इसीलिए उनकी कविता पाठक को ज्यादा आकृष्ट करती है। वे आलोक या राजेश की तरह भाषा को मांजते नहीं बल्कि कविता के भीतर उन्हीं शब्दों को लाते हैं जिनकी जरूरत होती है। उनके 'सच पूछो तो' संग्रह की ज्यादातर कविताएं मित्र-संवाद है। 'अतिथि कथा' कविता में भाषा की आत्मीयता का यह सहज संसार देखिए-

उस दिन/अचानक आ गए कल्लू के जजमान  
ठीक ठिये पर ही जा पहुंचे/जहां/कल्लू और रामा  
करते थे सफाई/पहाड़ी के नीचे वाली कलारी के पास/  
अब ऐसे में क्या करता कल्लू/उसने तुरंत अपनी  
पगड़ी उतार/जजमान के पांवों से लगाई/फिर गले मिले/  
दोनों समधी/देखी रामा ने दूर से/डलिया झाड़ू वहीं रख  
पहुंची पास/घूंघट किया समधी को/पूछा बेटी-जमाई  
की कुसलात/फिर कालारी के पास चट्टान पर बैठे तीनों  
जने/बैठ गए आसपास दोनों घर, दोनों गांव/  
दोनों परिवार।

(अतिथि कथा)

नागार्जुन के बरअक्स अनेक शहराती कवियों को शमशेर की काव्यभाषा बहुत पसंद है। एक तो शमशेर भाषा के मामले में हिंदी के बेहद कंजूस कवि हैं। वे शब्द को काव्य में सिक्के की तरह बचा-बचा के खर्च करते हैं। उन्होंने शुरू से ही अपनी काव्यभाषा में हिंदी के अलावा उर्दू, फारसी, अरबी, अंग्रेजी के शब्दों का बेशुमार प्रयोग किया। फलतः उनकी भाषा का ग्राफ काफी विविध और प्रयोगधर्मी है। उनकी भाषा में चित्रमयता, बिंबधर्मिता के अलावा जो सबसे बड़ी ताकत है वह है-स्पर्श करने की क्षमता। स्पर्श करने की क्षमता वे शब्दों की धन्यात्मकता से विकसित करते हैं। उनकी भाषा में रूप, रस, गंध की इतनी सराबोर दुनिया व्याप्त है कि वह पाठक पर जादू जैसा असर करती है। जाहिर है ऐसी भाषा पाने के लिए शमशेर ने कला और जीवन के बीच लगातार गहरा आत्मसंघर्ष किया है। मेरी दृष्टि में मंगलेश डबराल ही ऐसे कवि हैं जो शमशेर की काव्यभाषा की लय ऐंद्रिकता और स्पर्श करने के जादू को आत्मसात कर पाए हैं-

शायद वहां थोड़ी-सी नमी थी  
या हल्का सा कोई रंग  
शायद सिहरन या उम्मीद  
शायद वहां एक आंसू था  
या एक चुंबन  
याद रखने के लिए  
शायद एक बर्फ थीं  
या छोटा-सा एक हाथ  
या सिर्फ छूने की कोशिश।

ऐसी कोशिश नरेश सक्सेना के यहां भी देखी जा सकती है। काव्य भाषा का ऐसा तराशा हुआ शिल्प-नजारा, जैसे अनाज के दाने पर अक्षर लिखने की कोशिश हो। भाषा की ऐसी बारीकी, ऐसी हुनरमंदी अपनी काव्य भाषा परंपरा में शमशेर के पास थी। पर क्या यह सच्चाई नहीं कि जब कविता में भाषा को हम बेहद तराश देते हैं तो बुनियादी रूप से उसका स्वभाव बदल जाता है अर्थ की लय अपने भीतर से भीतर की ओर ही बंद हो जाती है। नरेश सक्सेना भाषिक तराश की अति कर देते हैं जबकि मंगलेश अति को बरजते हैं। खुद शमशेर ने अपने कवि-कर्म में भाषा के कई प्रयोग किए। मसलन हिंदी की आधुनिक कविता की भाषा में पहली बार उर्दू, अंग्रेजी, अरबी, फारसी के शब्दों की झड़ियां लगा दी जिससे खड़ी बोली की कविता में एक नई रंगत पैदा हुई। शमशेर के इस भाषिक प्रयोग से हिंदी में पहली बार ऐतिहासिक कार्य हिंदी और उर्दू के मेल-मिलाप का हुआ बल्कि दोनों के बीच राजनैतिक और सांप्रदायिक कारणों से जो दूरियां पैदा कर दी गई थी उसे शमशेर ने अकेले बिलकुल पास किया। हिंदी-उर्दू के बीच खड़ी की गई नकली दीवार को जैसे ढहा दिया हो। दूसरे उन्होंने भाषाओं के साझे मिक्चर से एक ऐसी नायाब दिलकश भाषा रची जो पाठक के दिल की गहराइयों में उतर कर

छूती है। शमशेर की कविता की रूह में उर्दू की सचेतनता न केवल बसी हुई है बल्कि वह कवि को हमेशा बेचैन रखती है। शमशेर की शायरी, इस बेचैनी से बचने का एक अंतिम रास्ता है। हिंदी के कुछ शुद्ध पाठकों को उर्दू कम भाती है। डॉ. लोहिया ने कहा था उर्दू जरा सांवली है और हिंदी गोरी, पर सौंदर्य के मामले में उर्दू के सांवलेपन में गजब का सौंदर्य है। हिंदी बड़ी बहन है, उर्दू छोटी बहन है। बड़ी बहन को छोटी बहन का नाज-नखरा उठाना ही पड़ता है। यह हिंदी का दुर्भाग्य है कि हमारे यहां कोई दूसरा शमशेर नहीं है जो हिंदी कविता में उर्दू का नाज-नखरा उठाए। हां इस लिहाज से सुदीप बनर्जी, असद जैदी जैसे विरल कवि जरूर रचनारत रहे हैं जो अपने कवि-कर्म में हिंदी उर्दू के नकली भेद को छोड़कर हिंदी और उर्दू के मिजाज में रची-बसी एक ऐसी धारदार काव्यभाषा निर्मित करते दिखाई देते हैं, जिसकी आज हिंदी कविता को ऐतिहासिक जरूरत है।

इधर के कवियों में लीलाधर मंडलोई इस लिहाज से उल्लेखनीय कवि हैं जो हिंदी के साथ न केवल आदिवासी जवानों को, बल्कि उर्दू के आमफहम शब्दों को बेहिचक अपनी कविता में जगह दे रहे हैं। देखा जाए तो शमशेर की काव्यभाषा के विकास की असली परंपरा यही है। इस परंपरा को आज लगातार विकसित करने की जरूरत है। इससे न केवल दो भाषाओं का आपसी प्रेम बढ़ेगा बल्कि दोनों की आंतरिक समृद्धि में बेहिसाब इजाफा होगा क्योंकि शमशेर की भाषाई विरासत यही है।

प्रगतिशील परंपरा के कवियों में त्रिलोचन की काव्यभाषा और उनकी उपस्थिति शायद हिंदी के जातीय चेतना की काव्यभाषा को समझने में हमारी सबसे अधिक मदद कर सकती है। भाषाई किमियागिरी और शब्दों को चार्ज करने की होड़ में भिड़ी आज की काव्यभाषा को हिंदी के मूल स्वभाव को समझने की भी जरूरत है। हिंदी का मूल स्वभाव यह भी है, जो उसकी जातीय पहचान भी है कि वह किसी भी तरह के 'शोमैन शिप' और कृत्रिमता के विरुद्ध प्रतिवाद करने वाली भाषा है। वह जीवन संग्राम की भाषा है ऐसा निराला ने कहा था तो शायद इसीलिए कि यह मेहनती गिरमिटिया मजूरों, पसीने से लथपथ किसानों के साथ, हिंदुस्तान के बहुसंख्यक उन सामाजिक वंचितों की भाषा है जिसे भारतीय जनमानस कहा जाता है। यह शोषकों, पूंजीपतियों, साम्राज्यवादियों, अत्याचारियों, विलायती पुत्रों की भाषा नहीं है। इसके स्वभाव में समरसता और सर्वजनीनता है। दुर्भाग्यवश आज अनेक शहरी मिजाज के कवि हिंदी को 'एलीट क्लास' की भाषा बना देने के लिए तुले हैं। ऐसे कवियों ने हिंदी को उसके नाभिनाल से काटकर उसे ब्रितानी नस्लवादी भाषा की कोख में प्रत्यारोपित करना चाहते हैं। ऐसे कवियों का वाक्य और भाषायी विन्यास न केवल अंग्रेजी वाक्य विन्यास का बना बनाया सांचा लगता है बल्कि कई बार लगता है कि ये कवि मूलतः अंग्रेजी में लिखते हैं फिर हिंदी कवि होने के लिए हिंदी अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। ऐसे कवियों ने हिंदी को जनपदीय बोलियों, रंगों, ध्वनियों, रिवाजों, आचारों-व्यवहारों से अलग-थलग करके हिंदी की ऐसी हालत बना डाली है जैसे स्वस्थ आदमी को अचानक फालिज मार जाता है।

ऐसी विकट स्थिति में त्रिलोचन की काव्यभाषा और भाषिक रुचियां हमारी मदद कर सकती हैं। नागार्जुन के बाद त्रिलोचन ही आज हिंदी में भाषायी समृद्धि के सबसे बड़े कवि हैं। इन दोनों बड़े कवियों के भाषिक अवदान को देखते हुए यह कहने की इच्छा होती है कि नागार्जुन खड़ी बोली के बजाय मूलतः मैथिली के कवि हैं और त्रिलोचन अवधी-भोजपुरी के। इन दोनों ने खड़ी बोली में अपने को अनूदित किया है। जैसे हमारे समय में अनेक अधेड़ और युवा कवि नागार्जुन, त्रिलोचन के बजाय ब्रेख्त और मार्खेज के भाषाई विन्यास का हिंदी में अनुवाद कर रहे हैं। वे ब्रेख्त के भाषायी 'विट' पर रीझते हैं पर नागार्जुन के आयरनिक सटायर की अनदेखी कर देते हैं। यह भाषायी गुलामी क्या 'ग्लोबल विलेज' की सांस्कृतिक परिकल्पना के दौर में आज भुला दी जाएगी? अपनी देशजता, अपनी स्थानीयता, अपने रूप, रस, गंध, स्पर्श से लिपटे भाषाई सौंदर्य को भूलकर क्या हम सचमुच हिंदी काव्य रच सकते हैं? जैसे कि व्यास, वाल्मीकि, कालिदास ने संस्कृत काव्य रचा। जैसे मैथिली में विद्यापति रचते हैं। जैसे तुलसीदास और जायसी अवधी में वैश्विक काव्य रचने की सामर्थ्य दिखा पाते हैं। मीराबाई और महादेवी अपनी जुबानों में गाती हुई आज भी सुनाई पड़ती हैं। सातवें दशक में धूमिल इसीलिए कविता की दुनिया में धूमकेतु की तरह अचानक छा गए क्योंकि उनके पास किसान जीवन के सुख-दुःख की एक उत्तेजक काव्य भाषा थी। उनकी काव्यभाषा में हिंदी समाज का ठेठ भदेसपन भी था। इस भदेसपन को आज हम भूल गए हैं। आखिर इन सब लोकभाषायी आवाजों को भूलकर हम कैसे हिंदी में बेहतर कविता लिख सकते हैं? इस मुद्दे पर आज पहले से ज्यादा चौकन्ना होकर विचार करने की जरूरत है।

गौर करने की बात है कि भाषा में जटिलता वहीं आती है जहां व्यक्तिवाद है। क्योंकि वहां व्यक्तिगत मामले ज्यादा डील होते हैं। फलतः कविता की भाषा सीधी न होकर वक्र होती है। कई बार वह एक ही कील पर चक्कर काटती है। नई कविता के उदाहरण से यह मुद्दा साफ हो जाता है कि भाषा दरअसल विचारों की वाहक होती है। जब विचार ही साफ नहीं है तो भाषा कैसे साफ होगी। हालांकि नई कविता का दूसरा दौर ज्यादा पारदर्शी है जिसमें शमशेर की उपस्थिति ने भाषा के स्वरूप को वहीं नहीं रहने दिया जो अज्ञेय ने खड़ा किया था। यहां मुक्तिबोध की काव्यभाषा का जिक्र जरूरी जान पड़ता है जो नई कविता के दूसरे धुवांत हैं, जिन्होंने सबसे पहले नई कविता के भीतर 'जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि' को तोड़कर यथार्थवाद की नींव रखी थी। उनकी भाषा पर गौर करें तो देखने में वह भी जटिल दिखती है। पर मुक्तिबोध जटिल भावबोध की जगह जटिल विचारबोध के कवि हैं। क्योंकि उनके सामने जीवन और समाज के प्रश्न आसान नहीं थे। उनकी भाषायी जटिलता दो कारणों से दिखाई देती है। एक तो नई कविता के भीतर समाज, राजनीति के जिन जटिल प्रश्नों से वे जूझ रहे थे, उसे व्यक्त करने के लिए उसी तरह की सूक्ष्मता की जरूरत थी।

मुक्तिबोध जिन बिंबों, प्रतीकों का इस्तेमाल कर रहे थे वे 'भयानक खबर' की तरह हैं। जो चीज भयानक हो उसे जटिल मानकर हम छोड़ देते हैं, पर वह दरअसल भाषायी जटिलता



नहीं बल्कि वह भयानक विराट दुर्घुर्ष काव्य क्षितिज है जो हिंदी में पहली बार प्रकट हुआ था। जब कविता में जीवन के प्रश्न जटिल और कठिन होंगे तो उसकी अभिव्यक्ति आसान लगने वाली भाषा में कैसे होगी? इसलिए मुक्तिबोध की कविताओं की पाठ प्रक्रिया औरों से अलग है। उनकी भाषा ध्वनिहीन है और प्रायः रंगहीन भी। इसलिए उसमें प्रवेश करते वक्त पहले हमें उनकी भाषा से ही जूझना पड़ता है। उनकी भाषा कविता में उस निर्मम दीवार की तरह है जो ध्वनिहीन है। पहले उनके प्रतीकों और बिंबों को खोलकर देखना पड़ता है फिर भाषा अपने साथ हमें ले जाती है जहां कविता का मर्म छिपा हुआ है। ‘अंधेरे में’, ‘औरांग उटांग’, ‘चकमक की चिनगारियां’, ‘ब्रह्मराक्षस’ जैसी कविताओं की भाषा का पूरा गठन रूपकात्मक है। इसलिए भी उनकी भाषा जटिल लगती है। दूसरी बात यह भी है कि मुक्तिबोध मराठी से हिंदी में आए थे। इसलिए उनकी कविताओं में भाषा की बनावट मराठी काव्य से निर्मित हुई थी। इस तरह मराठी काव्यभाषा से अपरिचित पाठकों के लिए मुक्तिबोध की भाषा जटिल लगती है पर बुनियादी रूप से वह कवि के विचारों की तरह साफ और बेलाग है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि मुक्तिबोध की काव्य-परंपरा में आगे फिर किसी कवि ने कविता लिखने का साहस नहीं किया, ऐसा क्यों हुआ इसको लेकर कभी चर्चा भी नहीं हुई लेकिन यह मुद्दा तब तक जीवित रहेगा जब तक यथार्थवादी कविता जीवित है। आने वाली सदी में यह सवाल मुंह बाएं खड़ा मिलेगा कि हमने मुक्तिबोध से क्या सीखा? सिवाय अपवादस्वरूप दिनेश जुगरान जैसे कवि का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने मुक्तिबोध की काव्य-परंपरा को अनुभूति और भाषिक-स्तर साधने की अथक चेष्टा की है। उनकी काव्य-भाषा की बनावट पर गौर करते हुए लगता है कि उन्होंने समकालीन काव्य-भाषा के चालू मुहावरे को छोड़कर मुक्तिबोध की तरह अपनी भाषा की राह खुद खोजने और बनाने की कोशिश की है।

नयी कविता के बरअक्स साठोत्तरी कवियों की काव्यभाषा समकालीन काव्यभाषा के संदर्भ में बेहद मौजू है। खास तौर से रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह की काव्यभाषा की बनावट और उसकी ताकत पर आज विचार करने की जरूरत है क्योंकि मौजूदा दौर के कई कवियों की भाषा ताकत इन्हीं कवियों से गर्वन होती है। अब्बल तो ये सभी कवि मध्यवर्ग के प्रतिनिधि हैं। आजादी के बाद तेजी से इस देश में मध्यवर्ग की आवाज मुखर हुई। ये कवि उस मध्यवर्ग के प्रतिनिधि स्वर हैं जो आजादी के मोहभंग के शिकार हुए थे। जाहिर है ये सभी लोग मध्यवर्गीय युवा थे। रघुवीर सहाय बुनियादी रूप से नागर मध्यवर्गीय संवेदना और चेतना के कवि हैं जबकि श्रीकांत का आरंभिक स्वर कस्बाई होने के बावजूद बाद में नागर मध्यवर्गीय समाज और जीवन की अभिव्यक्ति करने लगा। केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर बुनियादी रूप से ग्रामीण निम्न मध्यवर्गीय समाज के युवा-प्रतिनिधि स्वर हैं। हालांकि केदार की तरह सर्वेश्वर का उतना विकास नहीं हुआ। चूंकि रघुवीर सहाय श्रीकांत और सर्वेश्वर विचारों से सोशलिस्ट थे अतः इन तीनों की काव्य भाषा पर डॉ. लोहिया की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। रघुवीर सहाय ने विडंबना और विसंगति से उपजी संवेदना के लिए करुणा

की भाषा रची। जबकि श्रीकांत ने लोहिया की वाणी से आक्रामकता और दो-टूकपन हासिल की। सर्वेश्वर ने भी दो-टूकपन से अपनी कविता की भाषा को सपाटबयानी की तरफ मोड़ा। इन तीनों कवियों ने मध्यवर्ग की टूटती जिंदगी के यथार्थ को वाणी दी। इन कवियों ने नई कविता की गुरु-गंभीरता की भाषा को तोड़कर आमफहम भाषा रचने की सार्थक कोशिश की। इनकी भाषा में बोलचाल का जो मुहावरा विकसित हुआ वह नागार्जुन से अलग है क्योंकि बोल-चाल के ये सारे मुहावरे पत्रकारिता के राजनीति सरोकारों से विकसित हुए थे। संयोग से ये तीनों पत्रकारिता के पेशे से जुड़े थे। रघुवीर सहाय की काव्यभाषा के बारे में बाकायदा ऐलान किया गया है वह शुद्ध अखबारी है जबकि यह बात उनकी काव्यभाषा के सिलसिले में कमजोरी की द्योतक लगती है। अगर अखबार की भाषा से ही कविता लिखना संभव होता तो हिंदी के सारे पत्रकार अब तक बाकायदा कवि हो जाते जबकि वास्तविकता यह है कि रघुवीर सहाय ने विडंबनामूलक स्थितियों को उजागर करने के लिए कस्बाई भाषा ही रची है जिसका लहजा बोलचाल के निकट होकर कस्बों, शहरों के गली-मुहल्लों में बोला जाता है। उन्होंने भारतीय राजनीति पर जो व्यंग्य किया है वह दरअसल उनके सोशलिस्ट राजनीति अनुभवों से उपजी भाषा का आविष्कार है। यह कहना रघुवीर सहाय की भाषा के प्रति ज्यादाती होगी कि उनकी भाषा अखबारी हैं। पर यह देखकर आश्चर्य होता है कि रघुवीर सहाय की काव्यभाषा हमेशा एक जैसी दिखाई देती है। उसका पाट उनके समकालीन श्रीकांत वर्मा की तरह व्यापक और विविध नहीं है।

श्रीकांत वर्मा सन् साठ के आसपास जब रोमांटिक भावभूमि को छोड़कर समाज और जीवन के खुरदुरे यथार्थ को व्यक्त करने के लिए बेचैन थे उस समय उन्हें उतनी ही नंगी, बेलौस और आक्रामक भाषा की जरूरत थी। कहना न होगा कि सन् 61 तक आते-आते श्रीकांत ने वह भाषा पा ली जिसकी उन्हें दरकार थी। उन्होंने नई कविता की शिष्ट, शालीन और अभिजन समाज को वाणी देने वाली भाषा को अपनी काव्यभूमि से जबरिया हटाकर एक युवक की वाणी को दो-टूक बनाने वाली भाषा गढ़ी। गौर किया जाए तो श्रीकांत वर्मा की भाषा में जो दो-टूकपन, आक्रामकता और नेकेडनेस आई वह लोहिया की वाणी और विचार से पैदा हुई। कविता के लिए उन्होंने लोहिया की वाणी से दो चीजें लीं : दो टूकपन और आक्रामकता। आगे चलकर उन्होंने इसी दो-टूकपन और आक्रामकता से व्यंग्य और नाटकीयता पैदा की। अपनी इस भाषा को पाने के लिए श्रीकांत ने वर्षों तक आत्मसंघर्ष किया। उनके समकालीनों में किसी के पास वह काव्यभाषा नहीं थी जिसको पाने के लिए श्रीकांत बेचैन थे। उस दौर में जिन कविताओं के जरिए श्रीकांत ने अपनी कविता में जबरदस्त भाषिक तोड़-फोड़ की उनमें 'नकली कवियों की वसुंधरा', 'मायादर्पण', 'दिनचर्या', 'जीवनबीमा', 'प्रेसवक्तव्य', 'समाधि-लेख', 'दो-टूक रास्ता', 'बुखार में कविता', 'अंतिम वक्तव्य', 'एक स्वदेशी का प्रतिशोध', 'एक स्त्री का कायाकल्प', 'ढंग' जैसी कविताएं खास तौर से उल्लेखनीय हैं। उस समय नई कविता की भाषा को श्रीकांत वर्मा उसी तरह बदल देने के लिए बेचैन दीखते हैं जैसे निराला छायावाद के

दौर में एक नई भाषा रचने के लिए बेताब थे-

बरस रहा है अंधकार .....मगर उल्लू के पट्टे  
स्त्रियां रिझाऊं कविताएं लिख रहे हैं  
टोकरी के नीचे छिपे मुर्गों के मसीहा कवि

x x x x

बांग दे रहे हैं : सुबह हुई  
धन्य धन्य कवियों की

लिपटी वसुंधरा। (नकली कवियों की वसुंधरा)

उसी दौर में श्रीकांत वर्मा ने सैकड़ों ऐसे शब्दों का इस्तेमाल कविता में किया जो कविता के बाहर पड़े थे-

देशभक्त कवियों की कविताएं (क्षमा करें महिलाएं)  
मैं अपने कमरे में खड़ा हूँ नग्न (प्रेसवक्तव्य)

चूंकि श्रीकांत क्षोभ, असंतुलन, और अस्वीकार के कवि हैं इसलिए उन्हें अपनी नाराजगी को व्यक्त करने के लिए हमेशा एक आक्रामकता बेधक और दो-टूक भाषा की दरकार थी-

मुझको उधाड़कर/चूतड़ पर बेंत मार  
चेहरे पर लिख दो-यह गधा है  
तब भी जो जहां /है वहीं खड़ा है

अपनी बेहयाई को संवारता हुआ चौदह पैसे की कंघी से। (जलसाघर)

कहना न होगा कि श्रीकांत ने अपनी कविता की भाषा को उसी तरह तोड़ा बल्कि बदला और ढहा दिया जैसे अपनी कविता को, जीवन को। इसे तोड़ने और ढाहने में उन्हें मोह नहीं होता। नई कविता के दौर वे अपने समकालीनों के बीच पहले ऐसे कवि थे जिन्होंने अपनी कविता की भाषा को काव्य विकास के साथ दो बार तोड़ा। एक बार 'माया-दर्पण' में दूसरी बार 'मगध' में। आधुनिक कविता में यह दृष्टांत सिर्फ निराला से दिया जा सकता है जिन्होंने अपनी काव्य भाषा को छायावाद के तौर में ही तोड़ दिया था, दूसरी बार नए पत्ते लिखकर। कविता की भाषा के सिलसिले में श्रीकांत का यह अवदान ऐतिहासिक है, जिसका सातवें दशक की कविता में धूमिल की पीढ़ी ने विकास किया। मेरा ख्याल है कि श्रीकांत की भाषा का यह अवदान हिंदी कविता में ऐतिहासिक है भाषा के जितने विषम स्वर उनकी काव्य यात्रा में मौजूद हैं उतने उनके किसी समकालीन कवि में दिखाई नहीं पड़ते हैं।

इस परिदृश्य में अकविता का ख्याल इसलिए आ रहा है कि इस आंदोलन ने हिंदी की सामाजिकता का चाहे जितना अहित किया हो किंतु भाषा के स्तर पर हिंदी कविता में पहली बार सेक्स को लेकर जो मनोग्रंथियां पहले से बद्धमूल थी वह एक झटके में टूट गयी। इसे तोड़ने में अकवियों की सेक्स शब्दावली पर गौर करने की जरूरत है। जाहिर है अकवियों की भाषा का असर नयी कविता के दूसरे दौर में अन्य कवियों पर भी पड़ा। श्रीकांत वर्मा जो खुद

अकविता के विरोधी थे, उनकी भी काव्य भाषा सेक्स की वर्जनाओं को तोड़ती दिखती है। अकवियों में सबसे प्रतिभाशाली कवि राजकमल चौधरी की काव्यभाषा में सेक्सुअल कौंध शुरू से अंत तक मौजूद है। उनकी भाषा का असर धूमिल की काव्य-चेतना पर भी देखा जा सकता है। लेकिन अकविता कुल मिलाकर समाज-निरपेक्ष कविता है जो अराजकता, असमंजस से भरी पड़ी है। इसलिए उसकी भाषा में भी अराजकता के विविध रूप देखे जा सकते हैं। खास तौर से काम-कुंठाओं के वीभत्स चेहरे पाठकीय रुचि संस्कार को विकृत करते हैं। जाहिर है ऐसी काव्यभाषा कविता के लिए आदर्श नहीं हो सकती। इसलिए सहज ही आठवें दशक तक आते-आते अकविता की भाषा स्वतः ही इतिहास के कूड़ेदान में चली गई। इसलिए यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होता है कि अकविता की शब्दावलियां सामाजिक कर्म की कविता के लिए अनुपयोगी थी।

इधर की कविता की काव्यभाषा में बदलाव का सिलसिला आठवें दशक से आरंभ होता है। जब कविता की चार पीढ़ियां एक साथ काव्य क्षितिज पर सक्रिय हुईं। कविता में काव्यभाषा की जो चौरस समृद्धि दिखाई पड़ती है वह स्पष्ट तौर पर लोकजीवन की कविताओं के कारण प्रकट होती है। छायावाद के दौर में काव्यभाषा का जो मार्ग निराला ने प्रशस्त किया उसको नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह जैसे कवियों ने और चौड़ा, विस्तीर्ण और अनेकमार्गी बनाया।

आठवें दशक की मुख्यधारा के जो चार प्रमुख कवि अरुण कमल, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी और ज्ञानेंद्रपति हैं, इन कवियों की काव्यभाषा की निर्मिति और विकास मुख्यतः प्रगतिशील धारा की काव्यभाषा से संभव हुई है। इन कवियों में भाषा का सबसे अधिक उर्वर प्रदेश अरुण कमल में दिखाई देता है। अरुण कमल ने अपनी काव्यभाषा का निर्माण दो छोरों से किया है। एक ओर वे लोक-परंपराओं, लोक-भाषाओं की ओर गए हैं जहां भोजपुरी की जरखेज जमीन भरी पड़ी है, दूसरी तरफ वे निराला, नागार्जन, भिखारी ठाकुर, केदारनाथ सिंह जैसे देशज कवियों की जुबान से अपनी काव्यभाषा को समृद्ध किया है। उन्होंने भोजपुरी समाज की बोली-बानी को जिस तरह कविता की भाषा में समोया है वह उनके काव्य को द्विगुणित कर देती है-

यह वो समय है जब  
कट चुकी है खेत से फसल  
और नया बोनो का दिन नहीं  
खेत पड़े हैं उधारे  
अन्यमनस्क है मिट्टी सहसा धूप में पड़कर  
हर थोड़ी दूर मेड़ों की छांह  
चमकती है कटी खूंटियां  
यह वो समय है जब

शेष हो चुका है पुराना  
और नया आने को शेष है।

(यह वो समय)

x x x  
फूटने के बाद भी मिट्टी की सुराही  
जाड़े में बोरसी बन जाती है  
वैसे ही मैं भी तो काम आ सकता हूँ

अन्न उगा न सकूँ तो क्या  
सूखते धान के पास बैठ कौआ तो हांकूंगा  
पेड़ कटने पर बचा हुआ थम्भ  
किसी थके बैल या गाभिन गाय का  
खूंट बन जाएगा।

(निवृत्त)

अरुण कमल भोजपुरी लोकजीवन के आम बोलचाल के शब्दों का इस तरह चुनते हैं जैसे कोई बच्चा स्कूल जाते वक्त रास्ते में रुक-रुककर बेहया के फूल चुनता है। उनके 'नए इलाके में' संग्रह की कविताएं भाषा में उर्वर प्रदेश की खोज लगती है। इस खोज को मैं समकालीन काव्यभाषा का ऐतिहासिक मोड़ मानता हूँ। खड़ी बोली का रास्ता अपनी लोकभाषाओं की ओर मुड़ चुका है। इस दिशा में इधर तेजी से दिनेश कुमार शुक्ल, लीलाधर मंडलोई, स्वप्निल श्रीवास्तव, अष्टभुजा शुक्ल जैसे कवियों ने कविता में लोकभाषा को संभव करने की सार्थक कोशिश जारी रखी है। यहां अलग से दिनेश कुमार शुक्ल का उल्लेख जरूरी जान पड़ता है जिन्होंने अपनी काव्यभाषा की खोज, वैदिक काल के संस्कृत से लेकर अवध की मिट्टी में रचे-बसे लोक के विविध रूपों से संभव किया है। सहज ही उनकी काव्यभाषा में वाचिक परंपरा की काव्यभाषा की अनुगूंजे सुनाई पड़ती हैं-

सब कुछ था/ बस अग्नि नहीं थी  
राजा की रसोई में/ सारे पुरोहित यजमान  
आशंकित आतंकित/बेचैन परेशान  
अग्नि कहां चली गई?  
राजा दरबारी, सब परेशान हैरान,  
हतप्रभ थे गुणीजन/निष्प्रभ था सार विज्ञान  
उनको/जरा भी नहीं था अनुमान  
शताब्दियों से उन्हीं के आसपास  
भूख बनकर दहक रही थी अग्नि  
लाखों उदर कंदराओं में  
राजा और दरबारियों के बंद थे कान

गरजती चली आ रही थी  
उन्हीं को घेरती दसों दिशाओं से  
सचमुच चली आ रही थी अब  
पतित पावन अग्नि।

(अग्नि)

मंगलेश की काव्यभाषा बनावट से लेकर लहजे तक शमशेर से प्रभावित दिखती है जिसका उदाहरण पहले दिया जा चुका है। पर शमशेर की जो शारीरिक भाषा है उसे मंगलेश ने छोड़कर रघुवीर सहाय की विडंबना और विसंगतिबोध से तैयार हुई करुणा की भाषा को पकड़ने की कोशिश की है। आज शमशेर की शरीरी भाषा जिस एक कवि में दिखाई देती है वे हैं-अशोक वाजपेयी। अशोक वाजपेयी ने अपनी काव्यभाषा में शरीर के सर्वांग को मांसलता की हद तक जाकर व्यक्त करने की कोशिश की है जिसमें सूक्ष्मता के साथ तरलता और रागमयी गर्माहट देखी जा सकती है। अशोक में यह रागमयी गर्माहट उनके आरंभिक कवि-कर्म में भी देखी जा सकती है। अपनी कविता के दूसरे दौर में वे शरीर की भाषा को खोजने वाले लगभग विरल कवि हैं। उन्होंने अपनी काव्यभाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी बेहिचक प्रयोग किया है। जाहिर है जो लोग संस्कृत से परहेज करने लगे हैं उन्हें संस्कृत भाषा की परंपरा का हिंदी में नया उद्भव रास न आए, पर सच्चाई यह है कि हिंदी का विकास बिना संस्कृत के अधूरा है। रघुवीर सहाय की परंपरा में आज अनेक ऐसे स्वनामधन्य कवि हैं जो संस्कृत भाषा को कुजात की तरह दूर करते हैं जबकि संस्कृत को कुजात ठहराना सच्ची भारतीयता का निषेध है।

राजेश जोशी की काव्यभाषा इस लिहाज से स्थानीयता का प्रतिबिंब लगती है। क्योंकि उन्होंने सहज ही त्रिलोचन की काव्यभाषा की परंपरा को मध्यप्रदेश की बोलियों से जोड़ने की कोशिश की है। राजेश की कविता में भोपाल के गली-मुहल्लों में बोली जानेवाली उर्दू और भोपाली हिंदी का ठेठपन बोलता है। त्रिलोचन जिस तरह अवध अंचल की जुबान से गहरा प्रेम करते हैं उसी तरह राजेश मध्य प्रदेश की लोकभाषाओं से। राजेश में आम बोलचाल के शब्दों को लेकर जो खेलने की आदत है वह भी खासी दिलचस्प है। उससे वे कई बार भाषा का एक नया मुहावरा अर्जित करते हैं। उनकी 'सहायक क्रिया' कविता उनकी भाषा के प्रति हमदर्दी का एक बेहतर सबूत है-

हमारी भाषा की कुछ बनक ही ऐसी है  
कि बिना सहायक क्रिया के उसका का लगभग नहीं चलता  
अक्षरों और मात्राओं के हिसाब से वह बहुत छोटी इकाई है  
बहुत छोटी हैं उसकी आवाज  
लेकिन फिर सुनाई देती है वह सबसे ज्यादा

कभी-कभी वक्ता के मंतव्यों की व्यंजना भी छिपी रहती  
है उसमें/शासक अपने आदेश में वृत्तिक सहायक

क्रिया का इस्तेमाल करते हैं अकसर  
संशय की गुंजाइश कम हो जाती है वाक्य में उसके आ जाने से  
वह जितनी चुपचुप-सी लगती है उतनी ही जिद्दी भी है  
वह चाहे तो गड़बडा सकती है पूरे वाक्य को अकेले। (सहायक क्रिया)

हिंदी की यह खामोशी और खामोशी के भीतर छिपे उसके जिद्दी स्वभाव को पकड़ने के लिए लोकभाषाओं की खोज लगातार करनी होगी। इस कार्य के लिए मध्य प्रदेश के आदिवासी समाज की आवाज को वाणी देने में सातवें दशक के विनोद कुमार शुक्ल और चंद्रकांत देवताले जैसे कवियों का उल्लेख जरूरी जान पड़ता है। इन दोनों कवियों ने छत्तीसगढ़ के आदिवासी लोक-जीवन की बोली से अपनी काव्यभाषा को जीवंत और सरस बनाया है। खास तौर से आदिवासी बोलियों से इन दोनों कवियों ने जो हमदर्दी पैदा की है वह समकालीन हिंदी कविता की दुर्लभ उपलब्धि है।

समकालीन कवियों में ज्ञानेंद्रपति की काव्यभाषा पहले भोजपुरी देशजता के नाते आकृष्ट करती रही है। बिहार के आदिवासी और वनांचल जीवन के अनुभवों से संपृक्त ज्ञानेंद्रपति ने तब अरुण कमल के पहले भोजपुरी बोली के ठेठ रंगों और ध्वनियों को अपनी काव्यभाषा में जीवित किया था। अपने कवि कर्म के दूसरे दौर में वे अब भोजपुरी के साथ संस्कृत के विलुप्त होते शब्दों को खोजने में व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। हालांकि कई बार वे कविता में ऐसे शब्दों को भी लाते हैं जो लोक-व्यवहार में नहीं हैं फिर भी उससे कविता की भाषा का द्वार खुलता दिखाई पड़ता है। उनके काव्य संग्रह 'गंगा तट' की कविताओं से गुजरते हुए भाषा का समृद्ध खजाना खुलता दिखाई पड़ता है-

वह खजुही कुतिया भी  
इस बरस मां बनी है  
दूधिया थन हो रहे गुलाबी  
लद-बद तर उपर होड़ मचाते पिल्लों के चुस्से कुछ और

निहोरे भरी आंखों से ताकती है  
एकटक निहारती है  
वह कुतिया-मानवी नहीं, लेकिन मानवीय  
एक मां-वक्ष आंचल की तरह फैला  
उन आंखों में मेरे आगे  
उसे रचना है अपने गदबद छौनों के लिए दूध  
और शाम धिर रही है  
शीतकाल की तुरत ही संवलाने वाली शाम। (खजुही कुतिया)

कहना चाहिए ज्ञानेंद्रपति ने अपनी काव्यभाषा के जरिए अरुण कमल की तरह परंपरा

से अर्जित भाषा के साथ भोजपुरी समाज के लोकजीवन की जुबान को एक समर्थ वाणी दी है। ज्ञानेंद्रपति के बरअक्स उदय प्रकाश की काव्य भाषा के छोर मध्य प्रदेश के लोकजीवन से लेकर महानगर तक के परिवेश में फैले हुए है। 'सुनो कारीगर' में लोकजीवन की भाषा की गहरी मिठास देखी जा सकती है जिसमें ताजगी और उष्मा दोनों मौजूद है। पर तीसरे काव्य-संग्रह 'रात में हारमोनियम' की भाषा शुद्ध महानगरीय परिवेश में बदल गई। उदय प्रकाश महानगरीय जीवन के यथार्थ को पाने के लिए पत्रकारिता की भाषा में उतर गए। काव्यभाषा में यह बदलाव कविता में गद्य का प्रत्यारोपण है। पर इस संग्रह में भी उदय प्रकाश ने लोकजीवन की आत्मीय भाषा को छोड़ा नहीं। ऐसी जगहों पर उनकी काव्यभाषा ज्यादा गति, लय में प्रवाहमान है-

आम दशहरी यह

बंद है इसमें बैशाख की लू भरी दोपहर

की थकान और तपिश में

छाँह का एक छोटा-सा घना अँधेरा

दशहरी आम के भीतर भिजा हुआ है गांव के सबसे मीठे कुएं का पानी

कन्ना दी और दिता बुआ के घड़े का

सबसे ठंडा पानी/चुराती है जड़ें जिसे/

धरती के अँधेरे में से रेंगकर/ रात-रातभर

दिनभर... ठेले पर रखी टोकरी

और पुआल के बीच/ पक रहा है दशहरी

दशहरी में उतर रहा है असाढ़ के बादलों और हवाओं का/ रस

शहद की फुहारों से/ स्वादिष्ट/कपास भीग रहा है। (दशहरी आम)

कहना चाहिए उदय प्रकाश की काव्यभाषा की असली जमीन यहीं है। यदि वे इसे और उर्वर कर सकें तो मैं समझता हूं उनकी काव्यभाषा महानगरीय परिवेश के बजाय लोकजीवन से ज्यादा ऊर्जा ग्रहण कर सकती है।

जाहिर है हिंदी में जातीय काव्यभाषा का रास्ता इन्हीं रास्तों से होकर गुजरेगा, जिसे व्यापक स्तर पर और विकसित करने की जरूरत है। आज हिंदी की कविता को उन सब बोलियों की जरूरत है जो इस देश के साधारण आदमियों द्वारा घर से लेकर बाजार तक बोली जाती है। हिंदी, भोजपुरी, अवधी के अलावा हरियाणवी, बुंदेलखंडी, मालवी, आदिवासी, राजस्थानी, वैसवाड़ी, बघेली, मैथिली, ओड़िया, पंजाबी, बांग्ला, मराठी, उर्दू, बंबइया, कलकतिया, मद्रासी, बोलियों भाषाओं के उन शब्दों को बेशुमार ढंग से अपनाने की जरूरत है तो हमारे जन-जीवन में व्याप्त हैं। तभी हम हिंदी की समकालीन कविता में भाषा के विविध स्वर और छवियां रच सकते हैं।

समकालीन कविता की काव्यभाषा में यह देखकर गहरी चिंता होती है कि ऐसे तमाम कवि



आज समूह में रचनारत हैं जो अनुभूति से लेकर अभिव्यक्ति के सारे रास्ते तक एकरस और समवेत गान लगते हैं। ऐसे कवियों ने लोकभाषाओं की रसवाहिनियों से कविता की रसमय भाषा को काट दिया है। फलतः उनकी भाषा में मध्यवर्गीय जीवन की जड़ताएं एक सिरे से दूसरे सिरे तक व्याप्त दिखाई देती हैं। इधर थोक मात्रा में जो गद्य कविताएं जिस निर्जीव भाषा में लिखी जा रही हैं उसे देखकर लगता है कि कविता से जीवन की भाषा की विदाई हो गई है। दिक्कत की बात यह है कि आज निर्जीव भाषा में काव्य रचने का दंभ भरनेवाली शक्तियां बहुत संगठित होकर लोकजीवन की भाषाओं वाली विविध वर्णी काव्यभाषा को 'आंचलिक' कहकर हतोत्साहित करने में लगी हैं। क्या यह कम दुर्भाग्यपूर्ण नहीं है कि नौवें दशक के अधिकांश युवा कवियों में एकांत श्रीवास्तव, बद्रीनारायण, प्रज्ञा रावत, निलय उपाध्याय, बोधिसत्व को छोड़कर भाषा के स्तर पर अपना नया परिचय शेष कवि नहीं दे पा रहे हैं तो मानना चाहिए नए कवियों के विचार सरणि में जरूर शिष्ट वर्ग के प्रति तीव्र लगाव है जो भाषा की तथा कथित शिष्टता को तोड़कर साधारण समाज की साधारण बोलचाल की भाषा-शैली में काव्य रचने से लगातार कतरा रहे हैं। ऐसा लगता है कि लोग साधारण बोलचाल की भाषा-शैली में काव्य रचने को अशिष्ट कर्म मानते हैं? चूंकि भाषा विचार से ही पैदा होती है इसलिए ऐसे कवियों को अपनी छिपी मध्यवर्गीय कुंठाओं को छोड़कर हिंदी कविता को 'बहता नीर' बनाना होगा। यह बदलाव काव्य भाषा में विविध प्रयोगों से ही संभव है। तभी हम काव्य में हिंदी की जातीय चेतना रच सकते हैं। कविता में जातीय चेतना को जागृत करने के लिए कवि को अपने कवि-कर्म में कठिन अध्यवसाय से गुजरना होगा उसे भाषा की खोज जीवन बोध से हासिल करनी होगी।



## सृजन और विभावन का द्वैताद्वैत

रेवतीरमण

‘आलोचना भी रचना है’ और ‘रचना भी आलोचना है’, बावजूद इसके रचना और आलोचना का पूर्वा पर संबंध अविचारित रमणीय नहीं है। जब कभी आलोचना आगे चलने लगती है, रचना का विकास बाधित होने लगता है। यह विडंबना है और आज एक सामान्य स्थिति। बड़े से बड़े आलोचक की रूचि के अनुरूप रचना केवल एक अनुपयोगी उत्पादन ही हो सकती है। वर्चस्व विचारधारा का हो या व्यक्ति का, सत्ता का हो या संस्थान का रचनाकार और आलोचक को चाहे-अनचाहे उससे टकराना ही पड़ता है। दोनों की गति स्वाधीनचेता की गति है। वाद-विवाद के बिना संवाद संभव नहीं है। हिंदी में संप्रति, ऐसे रचनाकार दुर्लभ हैं, जो विभावन-व्यापार से विमुख हों।

याद आते हैं, प्रो. विजयदेव नारायण साही, जिनका एक विख्यात अपूर्ण आलेख है- ‘लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस’। उसमें साहीजी एक जगह लिखते हैं- ‘डॉ. रामविलास शर्मा की ‘गोदान’ पर आलोचना पढ़ते समय मैंने कहीं पढ़ा है कि होरी नामक किसान तो पराजित होकर खप गया, लेकिन साहित्य की अगली पीढ़ी का मनुष्य होरी के पुत्र और मेहता नामक फिलॉसफर के सम्मिश्रण से निर्मित होगा।... उसके बाद जो नई पीढ़ी आई है, कविता में, गद्य में उसके सब सदस्य प्रोफेसर मेहता द्वारा शिक्षित होरी के मानस पुत्र हैं। अपराजेय विवशता द्वारा पराजित पिता के दार्शनिक पुत्र? अब रह गई किसान की बात तो जरा-सा सोचिए, ऊपरी आधुनिक की जिल्द के नीचे हममें से कौन किसान नहीं है?... हिंदी के किस कवि में किसान की गंध नहीं आती? मैथिली शरण गुप्त से लेकर सर्वेश्वर तक?’ (नई कविता, संयुक्तांक)

शब्दावली बदलकर पूछ सकते हैं कि आधुनिक युग का कौन वह लेखक है जो आलोचक भी नहीं है? या कौन वह आलोचक है जो रचनाकार भी नहीं है? यदि रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, आदि आलोचक रचनाकार हैं तो प्रसाद, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध जैसे रचनाकार भी आलोचक हैं। दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, जानकी वल्लभ शास्त्री, नागार्जुन, शमशेर जैसे कवियों ने क्या कम महत्वपूर्ण आलोचना कार्य किए हैं? हिंदी

में काव्य-सृजन, काव्यानुशासन के समृद्ध व्यक्ति-विवेक की गवाही देता है। रही पहचान की प्राथमिकता की बात तो रचनाकार आलोचकों की सूची आलोचक रचनाकारों की तुलना में काफी लंबी होगी। प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, मुक्तिबोध, विजयदेव नारायण साही, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, कुंवरनारायण, केदारनाथ सिंह, रमेशचंद्र शाह, मलयज, परमानंद श्रीवास्तव, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, विष्णु खरे, विजय कुमार, उदय प्रकाश और अरुण कमल का आलोचनात्मक लेखन अर्थसघन है। इनके साथ अशोक वाजपेयी, राजेश जोशी और ज्ञानरंजन का नाम भी जोड़ दें तो रचनाकारों की आलोचना का एक आकर्षक परिदृश्य बनता है।

याद करें तो प्रेमचंद ही वह चिंतक हैं जिन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ (लेखनऊ, 1936) के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता की थी और कहा था कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' यह नाम भी मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह स्वभाव न होता तो शायद वह साहित्यकार ही न होता।' (साहित्य का उद्देश्य, पृ.-17)

प्रेमचंद हिंदी के सबसे बड़े कथाकार थे। उन्हें कोई आलोचक नहीं कहता किंतु उनकी अपनी एक सौंदर्याभिरुचि थी, प्रखर आलोचना-दृष्टि थी। यह बात उनके सर्जनात्मक लेखन से भी सिद्ध होती है। रीतिवादी सौंदर्याभिरुचि से संघर्ष-समर में उनका योगदान आचार्य शुक्ल से कम नहीं है। प्रेमचंद ने कहा था- 'हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाए, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाए।' प्रेमचंद आदर्शवादी ही थे, यथार्थोन्मुख लेखन के बावजूद। उनकी मान्यता थी कि 'समता और बंधुत्व, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरंभ से ही आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। प्रेमचंद एक आलोचक के रूप में सौंदर्य के मूल्यांकन की कसौटी बदलना चाहते थे। सौंदर्य को शुक्लजी 'विलक्षण' मानने से इनकार करते हैं जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुंदर वस्तु में पृथक सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं।' शुक्लजी का प्रकृति-प्रेम सर्वविदित है। प्रेमचंद कहते हैं- 'हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, उषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुंदर सुगंधित भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियां बोलने वाली चिड़ियां देखी हैं, कल-कल निनादिनी नदियां देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं- यही सौंदर्य है।' उनका रचनात्मक लेखन अपने समय और समाज का गतिशील बिंब प्रस्तुत करता है तो जाहिर है, उसमें एक बड़ी भूमिका उनकी आलोचना-दृष्टि की है।

प्रसाद प्रेमचंद के समकालीन थे किंतु उनकी इतिहास-दृष्टि उनमें अलग थी। अतीत और इतिहास को लेकर दो दृष्टियों की टकराहट ने उस दौर के लेखक को विशिष्ट बना दिया है। 'काव्य, कला तथा अन्य निबंध' प्रसाद के आलोचना-कर्म की कीर्ति-पताका है। छायावाद, रहस्यवाद के प्रसंग में उनके विचार शुक्लजी से अलग हैं। वे एक सुलझे हुए समर्थ नाटककार भी थे, तो नाटक और रंगमंच की उनकी अपनी एक स्पष्ट धारणा भी थी। रंगमंच के लिए नाटक की जगह उन्होंने नाटक के उपयुक्त रंगमंच का विचार सामने रखा। प्रसाद ने 'यथार्थवाद को लघुता पर साहित्यिक दृष्टिपात' के रूप में परिभाषित किया जो आज भी प्रासंगिक है।

प्रसाद की अपेक्षा निराला की आधुनिकता अगले दौर में अधिक ग्राह्य समझी गई तो इस वजह से भी उनकी आलोचना-दृष्टि अधिक समाजोन्मुख रही। 'रवीन्द्र कविता कानन' और 'पंत और पल्लव' में उनकी आलोचना का तेज और ताप महसूस करने योग्य है। 'मेरे गीत और कला' में निराला ने प्रगति का सौंदर्यशास्त्र प्रस्तुत किया। उनका यह लेख शुक्लजी के 'कविता क्या है' निबंध के बाद दूसरा सैद्धांतिक महत्व का लेख है, जिसके आधार पर डॉ. नामवर सिंह ने 'कविता के आवयविक सिद्धांत' की चर्चा की है। पंतजी की 'पल्लव' की भूमिका (प्रवेश) के समानांतर हम निराला की 'परिमल' की भूमिका को याद करते हैं, जिसमें उन्होंने मुक्तछंद पर व्यापक विमर्श प्रस्तुत किया है। 'पल्लव' के 'प्रवेश' को दिनकरजी ने 'छायावाद का घोषणापत्र' कहा था। इसके अलावा पंतजी की 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' और 'छायावाद : एक पुनर्मूल्यांकन' जैसी कृतियां हिंदी आलोचना के इतिहास की अविस्मरणीय कृतियां हैं। उनकी कविता-पुस्तकों की भूमिकाएं भी पंतजी की आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि का पता देती हैं।

राष्ट्रकवि के रूप में मैथिलीशरण गुप्त के उत्तराधिकारी दिनकरजी कवि से कम बड़े आलोचक नहीं थे। उनकी एक अलग शैली थी। उनकी आलोचना कहानी की तरह पठनीय होती थी। 'काव्य की भूमिका', 'पंत प्रसाद और मैथिलीशरण', 'अर्धनारीश्वर' के अतिरिक्त 'चक्रवाल' की भूमिका में व्यक्त उनके विचार इतिहास और आलोचना के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। दिनकरजी की एक विलक्षण कृति है- 'शुद्ध कविता की खोज'। उसमें उन्होंने काव्य और काव्यालोचन-संबंधी पश्चिमी चिंतन की खिड़कियां और दरवाजे खोलने में सफलता प्राप्त की है। 'संस्कृति के चार अध्याय' संस्कृति समीक्षा की एक बड़ी उपलब्धि है जो दहाड़ने वाले कवि के गंभीर स्वाध्याय के साक्ष्य प्रस्तुत करती है। दिनकर जी हिंदी रीति काव्य के एक बड़े आलोचक हैं।

अज्ञेय का कवि-कथाकार होना हिंदी के आधुनिक साहित्य इतिहास में युगांतर लाने की महत्वाकांक्षा के साथ घटित हुआ। उन्हें पहली बार साही ने प्रसाद में जोड़कर देखा। प्रसाद के यहां अनुभूति दर्शन बन जाती है जबकि अज्ञेय के यहां दर्शन अनुभूति बन जाता है। इससे दोनों की विभाजन-दृष्टि और शैली का अंतर समझा जा सकता है। अज्ञेय का कवि-कथाकार होना आधुनिक साहित्य इतिहास की एक युगांतरकारी घटना है। उनका रचनात्मक लेखन एक अवधारणा के साथ है। अज्ञेय की मानें तो 'अंततोगत्वा समालोचक को कहीं न कहीं मूल्यों का विचार करना ही पड़ता है-कृति का मूल्यांकन वह न भी करे तो भी स्वयं उसके रसास्वादन की प्रक्रिया में उसके स्वीकृत मूल्यों या प्रतिमानों का विशेष महत्त्व होता है। समालोचक क्या पाता है, यदि अनिवार्यतः इस बात पर निर्भर करता है कि वह क्या लेकर चलता है और मूल्यांकन प्रत्यक्ष या परोक्ष बिना मूल्यों या प्रतिमानों के नहीं हो सकता।'

'आत्मनेपद' में अज्ञेय की आलोचना-दृष्टि अंतर्वस्तु विमुख न होने पर भी रूप-अरूप में अभेद पर टिकी है। उनकी समझ में 'क्या कहा गया है' से अधिक अर्थ सघन है- 'कैसे कहा गया है।' 'कहां है द्वारका' के एक निबंध 'खग भाषा' में उन्होंने लिखा है- 'निस्संदेह, वाक् से

परे संवाद का और ज्ञानार्जन का कोई अकलंक साधन भी होना चाहिए, लेकिन उस तक पहुंचने के लिए, उसका अनुमान भी करने के लिए एक अनिवार्य सीढ़ी है। जिस तरह चित्रकार अरूप तक पहुंचने के लिए वर्षों तक रूपाकार की साधना करता है, उसी तरह शायद कवि को भी परम काव्य तक पहुंचने के लिए वर्षों तक भाषा और छंद की मर्यादाओं की साधना करनी पड़ती है। शायद यह भी कह सकते हैं कि कुछ भी छोड़ देने के लिए उसकी सीमाओं को जानना होता है और सीमाएं जानने का उपाय तो यही है कि उसकी चरम संभावनाओं का आविष्कार कर लिया जाए।' (कहां है द्वारका, पृ.-41) इसमें 'भाषा और छंद की मर्यादाओं की साधना' विशेष है। कविता में 'उपमानों के मैले हो जाने' और 'प्रतीकों के देवता के कूच कर जाने' की चिंता करने वाले अज्ञेय का रूपवादी रुझान प्रकट है किंतु वे कलावादी नहीं हैं। उन्होंने जैसे रचना में कथ्य और कला के स्तर में पुनर्नवता का उत्साह बढ़ाया है, आलोचना में भी अनुचित बहिर्मुखता की सीमाएं बतायी हैं। फिर भी, कई बार लगता है कि अज्ञेय की आलोचना अपने कृतित्व के बचाव में की गयी एक जवाबी कार्यवाही है।

अज्ञेय के विलोम के रूप में मुक्तिबोध को देखना अतिवादी आग्रह है। किंतु वस्तुतः ऐसा है नहीं। दोनों 'परम अनिवार आत्मसंभवा अभिव्यक्ति' के आकांक्षी हैं। वस्तुनिष्ठ समीकरण उनके अलग-अलग हो सकते हैं। 'नए साहित्य का सौंदर्य शास्त्र' 'नयी कविता का आत्म-संघर्ष' और एक साहित्य की डायरी' जैसी कृतियों में मुक्तिबोध की आलोचना स्वानुभूत यथार्थ का सम्मान करती है। वह निष्कर्षात्मक न होकर रचना-प्रक्रिया और अभिव्यक्ति-पद्धति में रुचि रखती है। मुक्तिबोध कविता को 'एक सांस्कृतिक प्रक्रिया' मानते हैं, इसलिए कि 'लेखक जाने-अनजाने अपने अंतःकरण में संचित भावावेगों के साथ जीवन मूल्य भी प्रकट कर रहा है। गूँज की एक अनुगूँज के रूप में। वह इस अर्थ में भी एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है कि लेखन, शिक्षा, संस्कार और परंपरा से और परिमार्जित जो भाव समुदाय है, उन्हें निज-विशिष्ट भूमि से ऊपर उठाकर सर्व-सामान्य भूमि पर स्थापित करते हुए सर्व-विशिष्ट बना रहा है।' (समीक्षा की समस्याएं, पृ.-13)

रचना-प्रक्रिया मुक्तिबोध का एक प्रिय विषय है, अज्ञेय का भी। इसकी संश्लिष्टता को दोनों ने विमर्श की चुनौती के रूप में स्वीकार किया है। मुक्तिबोध लिखते हैं-'भावों की प्रवहमान संगति की संस्थापना के लिए जब आभ्यंतर भाव-संपादन होने लगता है, तब एक विलक्षण बात होती है- वह है सृजन।' मूल प्रकृति के तल से आभ्यंतर वास्तव में कुछ विशेष उद्देश्यों या प्रतिक्रियाओं द्वारा परिचालित होकर जब भाव-संपादन पूर्ण हो जाता है, तब उसमें एक नया तत्व आ जाता है-एक ऐसा तत्व जो कदाचित् प्रारंभ में कथ्य नहीं था, किंतु जो भावों प्रवहमान संगति की संस्थापना पूर्ण होते ही उसके भीतर उद्घाटित हो गया। इसीलिए कविता पूरी होने पर कवि को यह प्रतीत होता है कि वह कविता में कुछ ऐसा विशेष कह गया है अथवा उद्घाटित कर गया है, जो प्रारंभ से उसका कथ्य था ही नहीं।'

रचना के सम्यक् मूल्यांकन-हेतु मुक्तिबोध 'कृति से आलोचना का आत्म-निरपेक्ष आत्मीय

संबंध' अनिवार्य मानते हैं। इसलिए कि किसी काव्य प्रवृत्ति के आधारभूत मानव जीवन से जब तक समीक्षक एक साथ आत्म-निरपेक्ष आत्म-संबंध स्थापित नहीं करता, तब तक समीक्षक उन समग्र तथ्यों को अपने निजी विशिष्ट रूप में उपस्थित ही नहीं कर सकता।' मुक्तिबोध आलोचक के दायित्व को गंभीर मानते हैं। उनकी दृष्टि में एक आलोचक का प्रथम कर्तव्य है- 'किसी कलाकृति के अंतःतत्त्वों को उसके प्राणतत्त्वों को, भावना-कल्पना को हृदयंगम करे और एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित अंतर्धारा की गति को और उसकी अंतिम परणिति को सहानुभूतिपूर्वक अच्छी तरह समझे और तदुपरांत उसका विश्लेषण करे।' (समीक्षा की समस्याएं, पृ.-19) प्रायः प्रत्येक कलाकृति के भीतर कुछ गतिमान तत्व रहते हैं, जिनके अर्थ व्यापक होते हैं। उन तत्त्वों के अंतःसंबंध, उनके समुच्चय की विशेष गठन की उपेक्षा करके आलोचक अपने दायित्व से विमुख ही होता है।

'कलाकृति की समग्रता को समझे बिना कलाकार के व्यक्तित्व और उसकी जीवन-भूमि तक पहुंचना संभव नहीं है। मुक्तिबोध एक समीक्षक में 'प्रगाढ़ जीवनानुभूति' की अपेक्षा रखते हैं, वैविध्यपूर्ण प्रगाढ़ अनुभव-संपन्नता तथा मार्मिक जीवन-विवेक। याद रहे, मुक्तिबोध प्रगतिशील भावधारा का प्रतिनिधित्व करते हुए भी, अपने समय के कवियों द्वारा स्वानुभूति के अनादर की चिंता की। 'एक साहित्यिक की डायरी' में उन्होंने 'कला के तीन क्षणों' पर जो विचार किया है वह टी.एस. एलियट के 'श्री वायसेस ऑफ पोएट्री' से तुलनीय है। उसके मूल में 'इमोशंस रि कॉलेक्टेड इन ट्रैक्विलिटी' (वर्डस्वर्थ) का विचार हो सकता है। मुक्तिबोध की विशिष्टता उनके फैंटेसी संबंधी विमर्श में भी लक्षित होती है। उनके विचार से कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है-इस अनुभव का अपने दुखते-कसकते हुए मूल्यों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना, मानो वह फैंटेसी अपनी आंखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है उस फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और इस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता। शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है, वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। प्रवाह में फैंटेसी अनवरत रूप में विकसित परिवर्तित होती हुई आगे बढ़ती है। इस प्रकार वह फैंटेसी अपने मूल रूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है।' (मुक्तिबोध-रचनावली-चार, पृ.-85)

अपने मूल रूप को छोड़कर फैंटेसी इतनी दूर चली जाती है कि कहना कठिन हो जाता है कि फैंटेसी का नया रूप अपने मूल रूप की ही प्रतिकृति है। फैंटेसी को शब्द-बद्ध करने की प्रक्रिया के दौरान जो-जो सृजन होता है-जिसके कारण कृति क्रमशः विकसित होती जाती है-वही कला का तीसरा और अंतिम क्षण है। कलाकार को कला के तीनों क्षणों में, भिन्न रूपों में, अलग-अलग प्रकार की सौंदर्य-प्रतीतियां होती रहती हैं। असल में ये सौंदर्य-प्रतीतियां महत्त्व प्रतीतियां हैं, भावनामय अर्थानुभव हैं', पाठक या श्रोता अपने ढंग से ये अर्थ-प्रतीतियां करता है और कलाकार अपने ढंग से।' (मुक्तिबोध रचनावली -चार, पृ.-87) 'कामायनी: एक

‘पुनर्विचार’ में मुक्तिबोध ने ‘कामायनी’ को एक विशाल फैंटेसी के रूप में मूल्यांकन का आधार बनाया है। उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में शमशेर और त्रिलोचन से संबद्ध समीक्षाओं की श्रेष्ठता आज भी बनी हुई है।

विजय देव नारायण साही की आरंभिक कविताएं तीसरा सप्तक में संकलित हैं, बाद में उनके ‘मछलीघर’ और ‘साखी’ जैसे काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। वे एक अच्छे कवि हैं, उनकी कुछ कहानियां और नाटक भी प्रकाशित हैं। उनकी रचनात्मक प्रतिभा निःसंशय है किंतु साही के कुछ विचारोत्तेजक लेख भी हैं जैसे- ‘लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस’; ‘मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति’, ‘शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट’ और ‘धर्मनिरपेक्षता की खोज में’, जिनमें उनकी आलोचना-दृष्टि और इतिहास-दृष्टि लोकतांत्रिक समाजवाद का आधार ग्रहण करती है। साही मानते हैं कि धर्मनिरपेक्षता एक गतिशील प्रक्रिया है। कोई बनी-बनायी या बाहर से उधार ली हुई अवधारणा नहीं है, जिसको हम आँख मूँदकर हर जगह लागू कर दें। यह प्रक्रिया अभी भी दो ध्रुवों के बीच चक्कर काटती है। धार्मिक तत्ववाद के सहारे समन्वय नहीं हो पाया और प्रत्यक्षवाद सतह पर तैरता है।’ (साहित्य क्यों?, पृ.-106) धर्मनिरपेक्षता से मिलती-जुलती स्थिति है भारतीयता की। ‘विविधता के बीच से सबको जोड़ने वाले नए संस्कारों की खोज और निर्माण, दरिद्रता और कंगाली से संपन्नता की ओर जाना, और साथ-साथ गैरबराबरी को मिटाकर अधिक से अधिक समता को स्थापित करना। इन बदलावों के लिए सतत संघर्ष ही वास्तविक भारतीयता है क्योंकि वह समाज को घने रिश्तों के साथ जोड़ती है।’ (साहित्य क्यों, पृ.-111)

साही एक स्वाधीनचेता सर्जक हैं। उन्होंने अपने भाषणों में अकसर रामविलास शर्मा और नामवर सिंह की मान्यताओं का खंडन किया और ‘जायसी’ पर एक अधूरी ही सही मार्मिक आलोचना-पुस्तक लिखी। उनका अज्ञेय से भी मतभेद था। ‘तारसप्तक’ के प्रकाशन के मूल में साही की मान्यता है कि ‘इस देश के साहित्य में मुख्य रूप से कलावाद और कम्युनिज्म को प्रतिष्ठित करने की साजिश थी ताकि सांस्कृतिक स्तर पर जो तेज समाजवादियों ने इकट्ठा किया था, वह खत्म हो जाय।’ उनके चिंतन में राजनीति और साहित्य का अंतःसंबंध भी था। उन्होंने मार्क्सवाद से वैसी ही असहमति व्यक्त की जैसी अमूमन समाजवादियों की होती थी। डॉ. राममनोहर लोहिया, आचार्य नरेंद्रदेव आदि की विचार-प्रक्रिया को साही आगे बढ़ाते हैं। इनका मार्क्सवाद से विरोध वस्तुतः भारत के मार्क्सवादियों से विरोध रहा। साही लिखते हैं- ‘मार्क्सवाद साहित्य और कला को वर्ग-संघर्ष में केवल प्रचार और शिक्षा का अस्त्र मात्र नहीं मानता, बल्कि वह उसे किसी वर्ग की कलात्मक, सौंदर्यवान और मानवोचित प्रवृत्तियों की सांस्कृतिक और मानसिक प्रगति का चरम प्रतिफल भी मानता है, जिसके कारण मनुष्य के इतिहास में किसी वर्ग अथवा वर्गहीन समाज का मूल्य है।’ उनकी राय में राजनीति से साहित्य को अलग रखने का नारा लगाने वाले आज के मध्यवर्गीय कलाकार प्रतिक्रियावादी हैं, उसी तरह राजनीति की तानाशाही में कैद करके समस्त साहित्य को पार्टी का अस्त्र मात्र घोषित करने

वाले भी कला के दुश्मन हैं।' साही ने एक उत्तम बात कही है, वह यह कि सिद्धांतों के बल पर हम संप्रदाय स्थापित कर सकते हैं, परंतु मूल्यों के आधार पर हम संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। लोकतांत्रिक समाजवाद इस ऐतिहासिक अनुभव को भुलाकर उत्कृष्ट साहित्य की रचना नहीं कर सकता।'

साही 'तीसरा सप्तक' के कवि हैं और रघुवीर सहाय 'दूसरा सप्तक' के किंतु विचारधारा दोनों की एक जैसी है। रघुवीर सहाय कविता को 'प्रार्थना' मानते हैं लेकिन प्रार्थी की विनम्रता साही में है, विशेषतः कविता में। रघुवीर सहाय के ही शब्दों में कविता मेरे लिए प्रार्थना है। मेरे शब्दों के पीछे सचमुच के लोग हैं। जीवित अनुभवों की यह दुनिया मेरी निजी दुनिया है।' (सं. अशोक वाजपेयी, साहित्य विनोद, पृ.-171)

*'कविता के संसार में कोई बड़ा परिवर्तन समाज के संसार में उतने ही बड़े प्रयत्न के बिना संभव नहीं है।' (लिखने का कारण, पृ.-38)*

अन्यत्र, उन्होंने लिखा है- 'मैं कवि हूँ राजनीति में हिस्सा लेता हूँ। मैं राजनीति में हिस्सा लेता हूँ इसीलिए कविता करता हूँ- जैसे ही यह कहूँगा, मेरी मृत्यु निश्चित है।' रघुवीर सहाय नागार्जुन की तरह ही एक राजनीतिक कवि हैं। उनकी प्रत्येक रचना सत्ता के खिलाफ होती है। इसीलिए होती है कि सत्ता का सारा अभिप्राय आदमी के पास उसका हक जितनी आजादी का है, उससे कम आजादी रखने का होता है।' रघुवीर सहाय तानाशाही के खिलाफ हैं, वह चाहे जिस क्षेत्र में हो, जीवन और ज्ञान के क्षेत्रों में उन्होंने समता, बंधुत्व और स्वाधीनता का पक्ष व्यापक रूप में प्रस्तुत किया। अज्ञेय की मानें तो 'नए हिंदी गद्य लेखकों में जिन्हें वास्तव में मार्डन कहा जाता है, उनमें रघुवीर सहाय अन्यतम हैं।' रघुवीर सहाय कलावाद के विरोधी हैं। उनकी बड़ी प्रसिद्ध पंक्ति है- जहां बहुत कला होगी, वहां परिवर्तन नहीं होगा।'

कवि-आलोचक सभी हैं, किंतु कथाकार आलोचक निर्मल वर्मा, उदय प्रकाश, विजय मोहन सिंह और बलराम ही प्रमुख हैं। इनमें निर्मल वर्मा की चिंतक की छवि है। उनकी आलोचनाओं में एक सभ्यताक्रांत ऊबे हुए सुखी मनुष्य की संवेदन सिक्त छटपटाहट व्यंजित होती है। शब्द और स्मृति', 'कला का जोखिम', 'ढलान से उतरते हुए' जैसी कृतियों में उनकी सर्जनात्मक समीक्षा के दर्शन होते हैं। रचना उनके लिए किसी के सामने कुछ प्रमाणित करने का कौशल नहीं है, बल्कि वह खुद के विश्वासों के आस-पास चक्कर काटना है। उन्होंने मार्क्सवाद की सीमाएं निर्धारित की हैं, तो रचना और आलोचना की अलग-अलग कठघरों में बांटकर देखने की प्रवृत्ति का निषेध भी किया है। 'ऐसा विभाजन एक तरफ आलोचना को निर्जीव और पंगु बनाता है, दूसरी तरफ सृजन को महज ऐस्थेटिक सौंदर्य का साधन-मात्र।' वे कला की स्वायत्तता के पक्ष में हैं। समाज और संतप्त के प्रति सहानुभूति के बावजूद उनका लेखन कलात्मक हैं, उनके विचार स्वाधीन हैं। उन्होंने लिखा भी है- 'कला का रहस्य उसकी स्वायत्तता में ही छिपा रहता है और उसकी अभिव्यक्ति रूप में, और यही वह अकेली संभावना है, जो कलाकार को अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रतिबद्ध बनाती है।' निर्मल की दृष्टि में कला की सामाजिक



उपयोगिता का सवाल महत्वहीन है। यद्यपि पूंजीवादी देशों में कलाकारों द्वारा कला को पेशे की सतह पर उतार देना भी उन्हें उचित प्रतीत नहीं होता। वे कला का सामना करते हुए एक दुनिया का सामना करने का तर्क देते हैं। एक ऐसी दुनिया जो हमारी रोजमर्रा की दुनिया से मिलती-जुलती होने पर भी हू-ब-हू वैसी नहीं होती जिसमें हमारी चेतन जिंदगी के अंश होते हैं, जीती-जागती दुनिया से अलग। यह स्वप्न और यथार्थ जाने-अनजाने दोनों के बीच कहीं झूलती हुई उस कला की उपेक्षा हमें ज्यादा तंग करती है जो पूरी तरह शुद्ध है और जिसने अपने को बाकी दुनिया से काट रखा है। अन्यत्र उनकी उक्ति है साहित्य में प्रश्न अनुभव के विषय का नहीं, बल्कि उस रूप और रास्ते का है, जिसके द्वारा वह अनुभव एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना में परिलक्षित होता है।

निर्मल के मत में 'शब्द न यंत्र हैं, न माध्यम, न तर्क-पद्धति। वह सिर्फ है-और उसका होना ही तीव्र ढंग से आलोचनात्मक हो जाता है।' भाषा जिस चीज को व्यक्त करती है, स्वयं वह चीज भी है, जिस लक्ष्य का माध्यम है, खुद वह लक्ष्य भी है। अतः अंतिम रूप में हर कला की लड़ाई अपने से लड़ाई है, अपना आत्म-मंथन है। वह आत्म-मंथन ही सृजन-कर्म को आलोचनात्मक बनाता है। विश्व प्रसिद्ध कथाकार लेव तालस्तोय की अपेक्षा दोस्तोवस्की इस तर्क से ही निर्मल वर्मा को बेहतर लगते हैं। निर्मल वर्मा की रेणु और मुक्तिबोध से संबद्ध समीक्षाओं से भी कला की स्वायत्तता के विचार को बल मिलता है।

निर्मल से अधिक आधुनिकतावादी रचनात्मक और आलोचक हैं श्रीकांत वर्मा। 'जिरह' उनकी आलोचना-पुस्तक है, जिसके नाम से ही तार्किकता का आभास मिल जाता है। मार्क्सवादी चिंतकों में श्रीकांत वर्मा जार्ज लुकाच की विवेचन-क्षमता के प्रशंसक हैं। 'जार्ज लुकाच का मार्क्सवाद वस्तुतः मार्क्स के बाद नहीं, बल्कि मार्क्स के समानांतर चलने वाला मार्क्सवाद था।' जहां तक समाजवादी यथार्थवादी का बिल्ला लगाए कतारबद्ध लेखकों का प्रश्न था, स्तालिन के फरमान और जदानोव की आतंक भरी वकालत के बावजूद, जार्ज लुकाच ने उनके रोब में आने से इनकार कर दिया। गोर्की, शोलोखोव, मेकरेंको, एलेक्सी तालस्तोय, त्रिनोव, फेदिन, अन्ना सैंघर्स और तिबोर डेरी जैसे कुछ समाजवादी लेखकों की कृतियों को अपवाद मानते हुए उन्होंने श्रीकांत को अप्रासंगिक करार दिया। 'अपार और उदग्र अनुकूलन के माहौल में 'इनकार का साहस' आलोचना के अंदर 'विकल्प का अवकाश है। इसे आलोचक की मत्सरी वृत्ति कहकर रचनाकार आत्म-प्रवंचना ही करता है।

श्रीकांत वर्मा की गद्य-शैली अलग है। वे भी 'कला की स्वायत्तता' के पक्ष में हैं, किंतु अधिक रचनात्मक रूप में। कविता और राजनीति दोनों में सक्रिय श्रीकांत वर्मा की मान्यता है कि कविता कर्तव्यवश कुछ नहीं करती, स्वभाववश बहुत कुछ करती है। 'आलोचक सही निष्कर्ष तक पहुंच सकता है-शर्त यही है कि कविता के प्रश्नों को वह कविता के ही प्रश्नों के रूप देखें। वे कविता के संसार को विवाद से परे घोषित करते हैं। उनकी भाषा में तनाव है, एक अलग तरह की ताकत है। 'कविता की प्रक्रिया' उनके यहां जीवन जीने की प्रक्रिया है, बहरहाल।

‘तीसरा सप्तक’ के एक अन्य कवि कुंवरनारायण को डॉ. नामवर सिंह ने एक अलग तरह का ‘डेमोक्रेटिक या उदार आलोचक’ कहा है। रचना हो या आलोचना, कुंवरनारायण में एक खास तरह का ‘ह्यूमन कन्सर्न’ है। प्रसंगवश, डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक ‘आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना’ की समीक्षा करते हुए कुंवरनारायण लिखते हैं- ‘इसमें अध्यात्मवादी तथा परोक्षवादी दर्शन, सामंती साहित्य, रूढ़िवाद, कलावाद और व्यक्तिवाद को अस्वीकार कर मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नए साहित्य के सृजन की प्रेरणा ही गई है। यह आचार्य शुक्ल की स्थापनाओं का प्रामाणिक विश्लेषण तथा जनवादी साहित्यलोचन का सही दस्तावेज है।’ उनकी एक व्यावहारिक समीक्षा निर्मल वर्मा की ‘लाल टीन की छत’ पर है। इसमें उनकी भाषा की प्रशंसा की गई है- ‘जो चीज उनके लेखन को दमदार बनाती है, वह विशेष रूप से उनकी भाषा रही है और शायद इसी का आग्रह है कि जो उन्हें अपने अनुभवों की दुनिया में खुला नहीं छोड़ती उन्हें कुछ खास तरह के ही अनुभवों का चुनाव करने के लिए बाध्य करती है। वह भाषा जहां अपने आप में एक खूबसूरत अनुभव है, वहीं एक खूबसूरत पर्दादारी भी है जो अकसर किसी सत्य को उद्घाटित करने से ज्यादा छिपाती है। इसे ही आप अगर संपूर्ण कला नहीं मानते तो संभव है आपको निर्मल की कला से थोड़ी परेशानी हो।

पर्दादारी ‘प्रकट विकट’ का विलोम हो तो रचना में व्यक्ति-व्यंजकता समृद्ध होती है। कुंवरनारायण कलाकार की वैयक्तिकता को महत्व देते हैं। उनके मत में ‘समाज या राज्य के नियम इस सीमा तक मान्य नहीं हो सकते कि व्यक्ति की उचित स्वतंत्रता में बाधक हो जाएं।’ अपनी कविता-पुस्तक ‘परिवेश : हम तुम’ की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि ‘वे सामाजिक मूल्य कोई माने नहीं रखते जो समाज के नाम पर व्यक्ति के अधिकांश सृजन और सांस्कृतिक स्रोतों को कुंठित कर दें, क्योंकि कवि की वैयक्तिकता का वह अनिवार्य माध्यम है जिसके द्वारा जीवन कला में परिणत होता है।’ कुंवरनारायण रचनाकार की आलोचना को अधिक सार्थक मानते हैं। ‘रचनाकार द्वारा की गई समीक्षा इस माने में विशुद्ध साहित्य-शास्त्री की समीक्षा से भिन्न होगी कि उसमें रचनात्मक दृष्टि का बचाव प्रमुख होगा।’

‘तीसरा सप्तक’ के कवियों में सबसे प्रखर आलोचना-दृष्टि विजयदेवनारायण साही की थी। उनकी भाषा तार्किक थी, विचारधारा भी व्यवस्थित कही जा सकती है। कुंवरनारायण में प्रश्नाकुलता है, दार्शनिकता है। केदारनाथ सिंह की आलोचना में एक खास तरह का संतुलन है। ‘कल्पना और छायावाद’ तथा आधुनिक हिंदी कविता में बिंब-विधान’ जैसे जो उनके शोध-प्रबंध हैं, उनका अकादमिक महत्व असंदिग्ध है लेकिन ‘मेरे समय के शब्द’ और ‘कब्रिस्तान में पंचायत’ में उनकी अप्रिप्त गद्य-शैली से साक्षात्कार होता है। उन्होंने पश्चिमी साहित्य का भी गहरा अध्ययन किया है। ‘पाश्चात्य आधुनिकता के कुछ रंग’ के अंतर्गत एजरा पाउंड, रिल्के, रेनेसां और समकालीन अंग्रेजी कविता से संबद्ध केदारनाथ सिंह के निबंधों का ज्ञान-पक्ष तो अर्थसघन है ही, गद्य-शिल्प बेजोड़ है। उन्होंने रिल्के पर जो लेख लिखा है, उसका वही महत्व है जो विजेंद्र के लोर्का से संबद्ध आलेख का है। रिल्के की कविता उन्हें झकझोरती नहीं, न

अधिसंख्य कविताओं की तरह कोई संवेदनात्मक आघात ही देती है। रिल्के की पंक्तियां एलिफेंट के बिंबों की तरह एक तिक्त वास्तविकता के आस्वाद से विक्षुब्ध भी नहीं करती। 'वह महज एक अभ्यस्त 'गाइड' की तरह, बड़े इत्मीनान के साथ हमारे परिचित संदर्भ को थोड़ा-सा बदलकर हमारा रुख उस तरफ मोड़ देता है, जिधर देखने से हम बचते आ रहे थे। एलियट अगर हमें समकालीन इतिहास के भीतर होने वाले किसी गहरे सांस्कृतिक संकट का बोध कराता है, तो रिल्के एक ऐसे आंतरिक संक्रमण के बिंदु पर ले जाकर छोड़ देता है जहां हर व्यक्ति एक दूसरे के अकेलेपन से जुड़ा हुआ, नितांत अकेला है।' (मेरे समय के शब्द, पृ.-111)

रिल्के की कविताओं से कम अर्थसघन उसका गद्य नहीं है। केदारनाथ सिंह ने रिल्के को उद्धृत किया है। रिल्के का कहना है- 'मात्र एक कविता लिखने के लिए यह आवश्यक है कि हम बहुत से नगरों और बहुत सी चीजों में परिचित हों। बहुत से पशुओं, पक्षियों की उड़ान तथा उन सूक्ष्म भंगिमाओं से परिचित हों जिन्हें एक छोटा-सा फूल खिलने के पूर्व सूर्योदय के प्रति व्यक्त करता है। स्मृतियां ही काफी नहीं हैं। यह भी आवश्यक है कि एक कलाकार उन तमाम स्मृतियों को विस्मृत कर सकने की क्षमता भी रखता हो और साथ ही साथ यह धैर्य भी कि उनके पुनः लौट आने तक उनकी प्रतीक्षा कर सके क्योंकि मूलतः स्मृतियां ही काम आती हैं- लेकिन तब जब वे हमारे रक्त में घुल-मिल जाएं, हमारी दृष्टि और क्रियाओं से एकाकार हो जाएं और एक ऐसी नामहीन अवस्था में पहुंच जाएं, जब उन्हें हमसे विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। उसी दुर्लभ क्षण में किसी कविता के प्रथम शब्द का जन्म होता है। 'रिल्के का सारा जीवन भाव-बोध के उसी स्तर तक, स्मृतियों की उसी नामहीन अवस्था में पहुंचने का एक अनवरत प्रयास था।'

केदारनाथ सिंह की कविताओं में सबसे खास है लोक संवेदना किंतु उनके आलोचनात्मक निबंधों में वैश्विक संदर्भ आते हैं। अज्ञेय, कुंवरनारायण के स्तर के बौद्धिक से हमारा सामना होता है। वामपंथी उनके रूपवादी रुझान से परेशान रहते हैं किंतु प्रतिबद्धता की उनकी अपनी समझ है, अवधारणा है। 'आज के संदर्भ में एक लेखक या कलाकार के निकट 'प्रतिबद्धता' उसकी कला का राजनीतिक अन्याय है। वह कला पर लगाया जानेवाला कोई अंकुश या सेंसर नहीं है, बल्कि, हमारे समय के यथार्थ की ओर खुलनेवाला एक ऐसा दरवाजा है, जो कला की अंतर्निहित शक्ति और उसकी संभावना को विशालतर बनाता है। एक ऐसे समय में, जबकि मानव-विरोधी शक्तियां और पूरी व्यवस्था की महीन मार कला को धीरे-धीरे निष्क्रिय और निष्प्राण बना देने पर तुली हो उसके बनाए रखने का शायद एकमात्र तरीका हो।'

'प्रतिबद्धता' केदार के यहां कलात्मक सजगता के मार्ग में अवरोध नहीं है। उन्हें महीन से महीन बुनने की आदत है। बनावट और बुनावट में वे अपनी रुचि से समझौता कहां कर पाते हैं? बहरहाल, हिंदी के बड़े से बड़े कलावादी से काफी बड़े कलावादी दिखते हैं वे। समूह और समाज में चहलकदमी करते हुए, नितांत अकेले आदमी के साथ। केदारनाथ सिंह ने अज्ञेय की आरंभिक कविताओं पर लिखा है और पंतजी की परवर्ती कविताओं पर भी। उनके

आलोचनात्मक गद्य में सर्जनात्मक तनाव है, वह देशज आधुनिकता की उपलब्धि है।

कथाशिल्पी काशीनाथ सिंह की एक अच्छी किताब है 'आलोचना भी रचना है।' उनके संस्मरणों में भी आलोचना-दृष्टि बेधती है। 'याद हो कि न याद हो' के संस्मरणों में सर्जनात्मक समीक्षा सक्रिय है। ज्ञानरंजन की पुस्तक 'कबाड़खाना' एक समर्थ आलोचना कृति है। 'पहल' की संपादकीय टिप्पणियों का गद्य समकालीन आलोचना की विभूति है, चुनौती है। रचना सबसे पहले एक भाषा है तो यह बात आलोचना पर भी लागू होती है। 'पहल' का जो कविता-अंक निकला था, उसकी भूमिका (संपादकीय) को वस्तुतः, समकालीन कविता का घोषणा-पत्र ही समझा जाता है। नब्बे के दशक में हिंदी आलोचना के जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के समानांतर भारत भवन, भोपाल अस्तित्व में आया तो कई रचनाकार आलोचक सामने आए। मसलन-सर्वश्री अशोक वाजपेयी, रमेशचंद्र शाह, मदन सोनी, ध्रुव शुक्ल, प्रभात त्रिपाठी और वागीश शुक्ल की समीक्षाओं ने एक अलग तरह का वातावरण निर्मित किया। इसमें अशोक वाजपेयी कवि आलोचक के रूप में उभरकर आए। 'फिलहाल', कुछ 'पूर्वग्रह', 'कविता का गल्प' जैसी आलोचना-कृतियां उस कवि ने लिखीं, जिसकी छवि मुख्य रूप से एक 'बोलते हुए आदमी की छवि' है। वह मार्क्सवादी नहीं है, पर आधुनिकतावादी भी नहीं है। उसकी सैद्धांतिकी बहुलतावाद की हो सकती है, उसका पक्ष 'बहुवचन' हो सकता है। लेखन जो खास है, वह है अलग पसंद और जिद। 'पूर्वग्रह' अशोक वाजपेयी का प्रिय शब्द है। उनमें संवाद की तत्परता नहीं है, इसकी वजह है, सहिष्णुता का अभाव। अर्थ का अनादर करके विभावन प्रभावाभिव्यंजक ही हो सकता है लेकिन कई लोग मानते हैं कि हिंदी आलोचना को अशोक वाजपेयी ने कई परिभाषिक महत्व के शब्द दिए हैं। उनका गद्य आस्वाद है। अशोक वाजपेयी की दृष्टि में, आलोचना का बुनियादी काम है- महत्वपूर्ण रचना चुनकर उसमें जो घटता है, उसका ऐसी उत्कटता से बखान करना कि पाठक के लिए रचना अपनी सार्थकता में गहरे अधिक उपलभ्य हो सके। पर इसके लिए यह जरूरी है कि आलोचना रचना की सार्थकता की खोज करे, उसे परिभाषित करे और इस परिभाषा को भरसक मनुष्य की दूसरी खोजों की सार्थकता और उसके द्वारा पाई गई दूसरी परिभाषाओं से जोड़ सकें।'

'किसी रचना से साक्षात् के समय आलोचक कौन-से सवाल पूछ उठता है, यह उसकी भाषा को नियमित करता है। अगर वे सवाल प्रासंगिक हैं तो उसकी भाषा में मानवीय तात्कालिकता होगी और वह रचना को उसके अर्थ और महत्व दोनों पक्षों में उपयोगी ढंग से उजागर कर सकेगा।' अशोक वाजपेयी साहित्येतर कार्यों की गवाही पर रचना को मूल्यवान नहीं मानते। मूल्यवान रचना के कारण रचना के भीतर होने चाहिए। 'आलोचना की जरूरत' लेख में उन्होंने दुर्भाग्यपूर्ण माना कि 'मूल्य-निर्णय का काम आलोचक के बजाय पुलिस थानेदार को सौंप दिया गया है। इसका सबसे सीधा प्रमाण यही है कि कई युवा कवियों की रचनाओं का कोई प्रामाणिक विश्लेषण उनके तथाकथित महत्व को सिद्ध और स्थापित करने के लिए किसी आलोचक या उसका नाम जपनेवाली पत्रिकाओं ने नहीं किया और चूंकि वे पुलिस द्वारा

गिरफ्तार आदि हुए, उनकी कविता को सामाजिक-राजनैतिक रूप से खतरनाक मान लिया गया है और उन्हें शहादत की आभा से आलोकित कर नितांत अबौद्धिक ढंग से महत्वपूर्ण प्रतिभा मान लिया गया है।' अशोक वाजपेयी ने नक्सल प्रभावित कवियों के संदर्भ में यह लिखा था। नक्सलियों से सहानुभूति रखने के आरोप में कुछ कवि गिरफ्तार हुए थे किंतु उनकी कविताएं बिल्कुल खतरनाक नहीं थीं।

अशोक वाजपेयी के बारे में डॉ. नामवर सिंह ने एक साक्षात्कार में कहा था- 'समकालीन साहित्यिक परिवेश के किसी एक कोण, किसी एक पहलू या किसी एक समस्या पर तेज तर्रार और स्पष्ट वक्तव्य देनेवाले लेख अशोक ने ज्यादा लिखे हैं। कुछ लेख ऐसे भी हैं जिन्हें एक खास तरह की जरूरत का दबाव महसूस करते हुए लिखा गया है। सृजन का दिशा-निर्देशन करने वाली आलोचना जो उच्च कोटि की हो, वहां अशोक की प्रतिभा विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई है।' बहरहाल, आज यह निश्चय करना कठिन हो चला है कि अशोक वाजपेयी कवि बड़े हैं या आलोचक? यही समस्या किसी हद तक रमेशचंद्र शाह के साथ भी है। कवि-कथाकार-नाटककार शाह हमारे समय के एक बड़े चिंतक हैं। 'छायावाद की प्रासंगिकता' उनकी पहली ऐसी किताब है, जिसने छायावादी आलोचना को संरचना के स्तर पर आधुनिक बनाया। उसका अंतिम लेख 'प्रासंगिकता का निकष' है। इसमें शाह लिखते हैं- 'प्रासंगिक होना हमारा जातीय स्वभाव नहीं है, न हमारी रचना का। मगर शायद अब यह खतरा दिखाई देने लगा है कि रचना कहीं सचमुच प्रासंगिक न होने लग जाए। इसीलिए हम उसकी प्रासंगिकता का निकष चाहने लगे हैं।' उनकी दृष्टि में 'रचना की प्रासंगिकता का स्रोत कालातीत और कालबद्ध के तीखे अस्तित्व सिद्ध तनाव में निहित है। इस तनाव से निरपेक्ष तथाकथित कालजयी दृष्टि अप्रासंगिक होगी।' शाह अंग्रेजी के प्रोफेसर हैं और इस नाते वे विजयदेव नारायण साही के शिष्य भी रहे हैं। उनके कई आलोचना-ग्रंथ हैं- 'वागर्थ', 'बहुवचन', भूलने के विरुद्ध, 'पढ़ते-पढ़ते'। जयशंकर प्रसाद पर सबसे अच्छी किताब उनकी ही मानी जाती है। उन्होंने विचारधारात्मक सृजन की बरअक्स सर्जनात्मक विचार का पक्ष चुना है। प्रसाद के संदर्भ में एक जगह शाह लिखते हैं- 'लगता है हमारे जातीय जीवन की जड़ों को वही कवि टटोल सकता है जिसकी संवेदना का संघर्ष एक गहन अर्थ में आध्यात्मिक संघर्ष हो। हमारे कवियों के लिए 'सोल' और 'सेल्फ' के संघर्ष की समस्या किसी भी पश्चिमीय कवि, मसलन यीट्स (Yeats) की समस्या से कम जटिल नहीं है।' 'किसी आंतरिक प्रेरणा से शून्य निरा भौतिकवादी चिंतन कवि को बाह्य व्यवस्था का भाष्यकार बनाकर रख देता है- रमेशचंद्र शाह इस विचार के प्रबल हिमायती हैं। अज्ञेय उन्हें इस वजह से भी पसंद आते हैं कि 'उनकी समूची काव्य-यात्रा प्रमुखतः उस आध्यात्मिक संवेदना-प्रज्ञा की तलाश करती हुई जान पड़ती है, जिसके और मात्र जिसके संदर्भ में ही व्यक्तित्व और विचार, ज्ञान और भावना, आत्म और सृष्टि की सत्ता या वास्तविकता परिभाषित हो सकती है।'

पहले अशोक वाजपेयी और बाद में नामवर सिंह की भी पसंद के एक आलोचक हुए मलयज, जिन्होंने कालांतर में कलावादी पूर्वग्रह के सीमांत का संकेत दिया। 'कविता से

साक्षात्कार', 'एकालाप संलाप', 'रामचंद्र शुक्ल जैसी कृतियों और डायरी (तीन खंडों में) के लेखक की बौद्धिकता विवेक-संतप्त कवि की भावुकता से सर्वथा वंचित नहीं कही जा सकती। मलयज में एक बड़े काव्यालोचक की संभावना थी। उनकी स्वीकृति मूलक प्रत्यभिज्ञा की शब्दावली अकसर मार्मिक होती थी। उनका कहना है- 'कविता मेरे लिए अपने अनुभव को महसूस करने और रचने का नाम है और आलोचना उस कविता के कवि को खोजने का कविता अपने से बाहर दूसरों से जुड़ने का माध्यम है, आलोचना इस जुड़ने को संभव बनाने का साधन। मैं कविता को जो रचता हूँ, आलोचना में उसे ही पाता हूँ। कविता मेरे लिए आत्मसाक्षात्कार है और आलोचना उसी कविता से साक्षात्कार।' इससे उनकी रचना और आलोचना की पारदर्शी समझ का पता मिलता है। यद्यपि 'थियरी' पर उन्होंने ज्यादा नहीं लिखा है। व्यावहारिक आलोचनाओं में मलयज गहरी अंतर्दृष्टि के साथ हैं। उनका गद्य विचार-प्रक्रिया के साथ प्रवाहपूर्ण है। उसमें एक आवेग है। सृजन के भीतर गतिशील द्वंदात्मकता के साथ-साथ मलयज आलोचना को सर्जनात्मक रूप दे रहे थे। उनकी 'सरोज स्मृति' से संबद्ध आलोचना का वही महत्व है जो डॉ. नामवर सिंह द्वारा लिखी मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' की समीक्षा का है। 'औसत भारतीयता के कवि' त्रिलोचन पर मलयज ने मनोयोग से लिखा है। वे सवाल करते हैं- 'ऐसा क्या है इस आदमी में जो हमें आकृष्ट करता है। शायद उसकी सहजता और भीतरी दृढ़ता के पीछे कोई किताबी दर्शन नहीं है, बल्कि वे उस धरती की ही उपज हैं जिसमें अपने अस्तित्व के गहन रागात्मक स्तरों पर यह आदमी अब भी संपृक्त है। त्रिलोचन की कविता की भाषा के पीछे जो रक्त बजता है, उसे सुनने के लिए आपको अपनी धमनी पर कुछ देर हाथ रखना होगा यह भाषा तनाव जर्जर, तनिक से स्पर्श से बिखर पड़ने वाली भाषा नहीं है। यह भाषा ठोस मज्जा और रुधिर से बनी भाषा है। यह भाषा अपनी जड़ों से कटी हुई हवा से रस चूसने वाली दुस्साहसी भाषा नहीं है, इसके निर्माण में एक पूरी परंपरा बीज-रूप में मौजूद है।

मलयज रचनाकार हैं- स्वभावतः, किंतु उनकी समीक्षाएं प्रभाव के स्तर पर अचूक आचरण करती हैं। 'रामचंद्र शुक्ल' से जूझते हुए मलयज ने इस दुनिया में विदा ले ली। अधूरी किताब छपी। उसमें मलयज ने लिखा है- 'भाषा के भीतर जो अनुभूति है, भाषा के बाहर वही कर्म है। कविता इन दोनों की संधि पर है। कविता सच्ची बनती है भाषा के भीतर की अनुभूति से और बड़ी बनती है, भाषा के बाहर के कर्म से। बौने जीवन से बड़ी कविता नहीं पैदा होती। पर जीवन बौने कर्म की असिद्धि में नहीं, कर्मक्षेत्र की विविधता का अनुसंधान करने से बनता है।... कविता सीधा-सीधा कर्म नहीं, पर हमने जीवन में कर्म की जो दिशाएं खोजी हैं, उनका वह फलक है।'

आलोचना 'बुद्धि की मुक्तावस्था' है पर हम देखते हैं कि उत्तरशती की अधिकांश आलोचना विचारधारा की वंदिनी है। विचारधारा की कैद से आलोचना मुक्त हो तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अनुभूति होगी। अन्यथा, सब नारा है, स्वेच्छाचार है। विश्वनाथ प्रसाद

तिवारी मूलतः एक कवि हैं- 'बेहतर दुनिया के लिए', 'आखर अनंत' और 'बेड़ियों के विरुद्ध' के कवि। उनके कई श्रेष्ठ संस्मरण ग्रंथ हैं। 'आत्म की धरती' का गद्य सघन रचनात्मक है, उदात्त की अवधारणा के साथ। विश्वनाथ ने आलोचना के सभी रूपों को उपकृत किया है। उनकी सैद्धांतिकी सुस्पष्ट है। उसमें सृजन ही प्राथमिक है, अंतर्दृष्टि सर्जनात्मक रचना-प्रक्रिया वाली। उन्होंने व्यक्ति और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सर्वोपरि महत्व दिया है। 'प्रतिबद्धता' मार्क्सवादी विचारधारा के लिए खास है किंतु विश्वनाथ की दृष्टि में 'प्रतिबद्धता किसी वाद पार्टी या सिद्धांत के प्रति नहीं होती, चाहे वह मार्क्सवाद ही क्यों न हो। इस प्रकार की प्रतिबद्धता एक प्रकार की संकीर्णता और लेखकीय जड़ता है।' उनका विचार है कि राजनीति को नारा या मैनिफेस्टो न बनाकर, उसका कलात्मक उपयोग करना चाहिए। छद्म प्रगतिशीलता से उबरे बिना राजनीति का सर्जनात्मक उपयोग संभव नहीं। 'कला के द्वारा कोई क्रांति संभव नहीं। कला के द्वारा वास्तविकताओं को न बदला जा सके, कला हथियार या विकल्प न हो सके, पर इसमें संदेह नहीं कि यदि उसका सही उपयोग किया जाए तो वह इन सबकी प्रेरणा जरूर बन सकती है, क्योंकि वह अपने समय की क्रांति-चेतना से स्वयं भी प्रेरित होती है। रचना और आलोचना में विश्वनाथ रचना के साथ हैं, इस विचार के साथ कि आलोचना भी रचना है। 'रचना के सरोकार' से लेकर 'आलोचना के हाशिए' तक उनके कई ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, 'आधुनिक हिंदी कविता', 'समकालीन हिंदी कविता', 'कविता क्या है', के साथ 'गद्य के प्रतिमान', 'गद्य का परिवेश' उनकी कृतियां हैं। विश्वनाथजी का आलोचक उनके रचनाकार का सहचर रहा है। रचना और सर्जनात्मक आलोचना नामक अपने लेख में उन्होंने रचनाकार और आलोचक की समानांतर यात्रा का उल्लेख किया है- 'आलोचक की यात्रा भी एक रचनाकार के समानांतर होती है- वह मनोगत की उन्हीं पगडंडियों-मोड़ों से होकर गुजरता है, जिससे रचनाकार गुजर चुका होता है। वह रचना का पुनःसृजन करता है और उसके लिए जिस आत्म-संघर्ष से गुजरता है, वह रचनात्मक अनुभवों से गुजरना होता है। रचना में आलोचनात्मक जागरूकता और आलोचना में रचनात्मक दृष्टि का संतुलन बहुत जरूरी है तभी दोनों का रूप सार्थक, निर्भ्रांत, निष्पक्ष और उदार बना रह सकता है। जाहिर है, इस संतुलन के अभाव में रचना एक भावुक अभिव्यक्ति मात्र होकर रह जाती है और आलोचना एक संकीर्ण व्याख्या मात्र।' 'रचना में रचनाकार का व्यक्तित्व निहित है, जहां नहीं है, अभिव्यक्ति संदिग्ध है। विश्वनाथ के आलोचनात्मक गद्य में रचनाकार के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा हुई है। उसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक अपरिहार्य मूल्य है। रचना हो या आलोचना विश्वनाथ सबमें परंपरा और नवीनता के द्वंद्व और तनाव को प्रतिबिंबित कर पाते हैं। उन्हें भारतीय मनीषा के पुनराविष्कार में पर्याप्त सफलता मिली है।

आज के परिदृश्य में डॉ. नामवर सिंह जैसा बड़ा आलोचक कोई नहीं है इसलिए कहा जा रहा है कि आलोचना तो है, आलोचक नहीं है। उत्तर- नामवर पीढ़ी के सुपरिचित विमर्शक कभी विहंगावलोकन करते हैं, कभी सिंहावलोकन। तथापि, सृजन के समानांतर विभावन का कार्य

भी स्थगित नहीं हुआ है। आलोचना भंवर में है तो हुआ करे। अब रचनाकारों ने ही आलोचना को भी अपने शब्द-कर्म में शामिल कर लिया है। सर्जक एक हो और आलोचक दूसरा, आवश्यक नहीं। रचना के लोकतंत्र के प्रसार के साथ आलोचना का क्षेत्र भी व्यापक होना ही चाहिए। उदाहरण के लिए ज्ञानेंद्रपति (पढ़ते-पढ़ते), प्रभात त्रिपाठी (रचना के साथ), विष्णु खरे (आलोचना की पहली किताब), विजय कुमार (कविता की संगत, अँधेरे में विचार), उदयप्रकाश (ईश्वर की आंख), मंगलेश डबराल (लेखक की रोटी, कवि का अकेलापन), गिरधर राठी (ऊहापोह), अरुण कमल (कविता और समय, गोलमेज), विजेंद्र (कविता और मेरा समय, सौंदर्यशास्त्र : भारतीय चित्र और कविता) राजेश जोशी (एक कवि की नोटबुक) आदि का उल्लेख कर सकते हैं। इनके एकांत श्रीवास्तव से लेकर राकेश रंजन तक के आलोचनात्मक लेखों और टिप्पणियों से धारणा बनी है कि उम्मीद भीतर से है, बाहर में नहीं।

अब तक एक का कहा दूसरे से समझा। अच्छी बात है। लेकिन एक के कहे को दूसरो समझने से मना कर रहा हो तो क्यों न जो कहे, समझ-बूझकर कहे। आज एक अच्छी बात यह हो रही है, एक कवि पर मुक्तमन से लिख रहा है, एक कहानीकार दूसरे की कहानियों का मूल्यांकन कर रहा है। इससे अलोचना की भाषा अधिक सर्जनात्मक हुई है। वह सर्जनात्मक अनुभवों के आलोक में तनावपूर्ण और विशेष परिस्थितियों में आख्यानपरक कभी हुई। इससे रचना के साथ आलोचना भी अधिक पढ़ी जाने लगी है। हमसफर हमशक्ल हो तो 'सोने में सोहागा।'





## रीति सिद्धांत तथा आधुनिक समीक्षा

बलराम शुक्ल

कविता की सर्जना यह विश्वास बंधाती है कि मानुष सृष्टि में रहते हुए भी उसे अतिक्रांत किया जा सकता है। यह अतिक्रमण भी अद्भुत होता है। कविता कवि में उद्भूत होती है और उसकी परिणति सहृदय में होती है। काव्यभाषा उन दोनों के बीच सेतु का कार्य करती है। संप्रेषणीय काव्यार्थ विचित्र एवं वक्र होता है यानी कि उसमें लोकवार्ता<sup>1</sup> अर्थात् रोजमर्रा के भाषिक प्रयोग की अपेक्षा उल्लेखनीय विचलन मौजूद रहता है। लोक में स्थित 'सहृदय' को अलौकिक काव्य वस्तु का आस्वादन कराना कवि की चुनौती होती है। वस्तुतः यश, जिसे काव्य का आत्यांतिक उद्देश्य बताया गया है, वह सहृदय से संवाद ही है। व्यष्टि के स्तर पर यदि कवि का उद्देश्य अपने हृदयगत भावों का कथन होता है तो समष्टि स्तर पर वह इन भावों को सहृदय तक पहुंचाना भी चाहता है। इसीलिए वह यशःप्रार्थी होता है तथा चाहता है-तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति<sup>2</sup> (उसे सज्जन लोग सुनें)। यह कार्य वह वाक् प्रयोग के स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति दो रूपों के संतुलित प्रयोग से कर पाता है। स्वभावोक्ति स्वाभाविक वर्णन को कहते हैं जबकि वक्रोक्ति सामान्य कथन के रास्ते से सुंदर विचलन को। स्वभावोक्ति कविता को अस्पष्ट होने से बचाती है। इसी के बल पर सहृदय, कथ्य के साथ परिचय एवं तादात्म्य का अनुभव कर पाता है, और कविता के आस्वाद की पृष्ठभूमि तैयार होती है। वक्रोक्ति कविता में रुचिरता, अलौकिकता तथा रस की सृष्टि करती है जिसके कारण काव्य वार्ता ही न रहकर रसानुभाव संपन्न करने में सक्षम तथा ग्राह्य बन पाता है। कोऽलंकारोऽनया विना<sup>3</sup> (काव्य के सौंदर्य का कोई भी उपकरण वक्रोक्ति से भिन्न नहीं होता)। इस ज्ञात और अज्ञात, लौकिक तथा अलौकिक, मानुष एवं दिव्य जगत् में संतुलन कवि कैसे कर पाता है? इस संपूर्ण चमत्कार के लिए कवि की वाणी भारती कवेः<sup>4</sup> ही उत्तरदायी है। अपने संप्रेषणीय काव्य भावों को सहृदय तक पहुंचाने के लिए कवि निरंतर यत्नशील रहता है। अभीष्ट अर्थ की अभिव्यंजना के लिए कौन से शब्द लिए जाएं तथा उनका क्रम क्या हो, इस चिंतन में उसका मन इतना समाहित हो जाता है कि उसके सामने शब्दों के पर्याय आदि की संभावनाएं अत्यंत सहज सी हो जाती हैं<sup>5</sup>। शीघ्र ही उसका शब्दक्रम सिद्ध हो जाता है। यह तब होता है जब उस क्रमविशेष से कवि के सभी अभीष्ट अर्थ समर्पित होने लगते हैं। यह संरचना अंततः शब्दपाक अथवा घनीभवन

(Crystallization) की ऐसी स्थिति में पहुंच जाती है कि उसमें में किसी पद को हटाने की बात तो दूर उसमें किसी पद का पर्यायवाची शब्द रखने से भी काव्यार्थ की हानि होने लगती है<sup>6</sup>। वामन के अनुसार यह पाक गुण के औचित्यपूर्ण विनियोग से प्रकट होता है<sup>7</sup>। कवि की इसी विशिष्ट पदरचना<sup>8</sup> को कवि की शैली कहा जाता है। इसी को भारतीय काव्यशास्त्रियों ने 'रीति' या 'मार्ग' कहा है। कवि प्रायः उन्हीं पदों का प्रयोग करता है जिन्हें सामान्य लोग प्रयुक्त करते हैं परंतु उसका विन्यास विशिष्ट होता है<sup>9</sup>।

आचार्य वामन ने रीतिरात्मा काव्यस्य कहकर काव्यशास्त्र के इतिहास में उल्लेखनीय कार्य किया था। उन्होंने सर्वसमावेशी रीति सिद्धांत को काव्य का मुख्य तत्त्व घोषित करके परंपरागत अलंकार संप्रदाय से स्पष्ट सैद्धांतिक विचलन प्रस्तुत किया। इसने भारतीय काव्य शास्त्र की धारा को काव्य के वास्तविक तत्त्व के अन्वेषण की ओर प्रवृत्त किया तथा इसकी परिणति ध्वनि अथवा रस सिद्धांत में हुई।

भारतीय काव्यशास्त्र की विकास परंपरा पर उस काल के दार्शनिक संप्रदायों का भी प्रभाव रहा है। काव्यशास्त्रियों ने भी दार्शनिकों की तरह अपने सिद्धांत को सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षियों के मतों को निर्बल करके अनूदित किया ताकि उनके मत की निस्सारता आसानी से सिद्ध की जा सके। रीति जैसे सर्वसमावेशी सिद्धांत को भी ध्वनिवादियों ने पदसंघटना मात्र कहकर अवयव निर्मिति मात्र में सीमित कर दिया<sup>10</sup>। महिमभट्ट, मुकुलभट्ट तथा कुंतक आदि ध्वनिविरोधियों के प्रहार सहकर भी ध्वनिसिद्धांत मम्मट द्वारा से ऐसा पुनःप्रतिष्ठापित हुआ कि भारतीय काव्य सिद्धांतों का सिरमौर बन गया।

यह सही है कि रस अथवा आस्वाद ही वह तत्त्व है कि जिसके लिए एक सहृदय कविता की ओर प्रवृत्त होता है तथापि वह इस तरह अपरिभाष्य एवं असंलक्ष्य<sup>11</sup> है कि उसका अनुभव तो किया जा सकता है पर ज्यों का त्यों वर्णन संभव नहीं है। वह तो कविता का फल है। काव्य प्रक्रिया के यत्न, विवरण एवं वर्णन का विषय तो काव्य का शरीर ही होता है। आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवां जनः<sup>12</sup> ध्वनिकार के इस वचन से ही यह बात सिद्ध है कि काव्य संबंधी सारी चर्चाएं तथा कवि के यत्न के केंद्र में रसेतर सामग्री ही हो सकती है। कविता का प्राप्य तो सहृदय हो सकता है परंतु सहृदय के अतिरिक्त भी काव्य से संबद्ध तमाम तत्त्व होते हैं। उनके प्रति यत्न करने से ही रस का उपलाभ हो सकता है। इसके बावजूद भी यदि आनंदवर्धन अशक्नुवद्भिर्भार्यार्कतुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः<sup>13</sup> कहते हैं तो यह वदतो व्याघात और अन्याय ही है। स्वयं कवि तथा उसकी पद संघटना चातुरी जो आस्वाद की सृष्टि के प्रति प्रवण होते हैं<sup>14</sup> उनके महत्त्व को कम करके नहीं आंका जा सकता है। भले ही वे रस के प्रति गौण हों फिर भी रस के जनक तो वही होते हैं। वस्तुतः कवि एवं काव्यशास्त्र का वास्तविक वर्ण्यविषय यही संघटनाएं हो सकती हैं जो अर्थवैचित्र्य के लिए उत्तरदायी होती हैं। असंलक्ष्यक्रम रस में स्थूल नाम गणना अथवा कार्य कारणादि उपादान संग्रहण के अतिरिक्त हम क्या बता सकते हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने तो भग्नावरणा चिदेव रसः<sup>15</sup> कहकर रस की अपरोक्षता और अलौकिकता को और

स्पष्ट कर दिया है ।

आनंदवर्धन के बाद के संस्कृत काव्यशास्त्र तथा उसके द्वारा अनुप्राणित क्षेत्रीय भाषा में लिखे गए काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में रीति की प्रस्तुति मात्र संघटना मान कर की गयी। इसीलिए तो हिंदी का रीतिकाल जिसका नामकरण ही रीति शब्द के उपयोग से हुआ है, का केंद्रीय अथवा मुख्य प्रतिपाद्य रीति सिद्धांत नहीं है।<sup>16</sup> साथ ही कालांतर में रीति के निर्धारक तत्त्वों के रूप में समासादि कुछ ऐसे तत्त्व जुड़ गए जो शुद्ध रूप से भाषा विशेष से संबद्ध हैं।<sup>17</sup> इन परिघटनाओं से यह प्रश्न गहराता गया कि आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित रीति सिद्धांत संस्कृत की काव्यभाषा मात्र के साथ संबद्ध है और फलतः सीमित तथा दूसरे भाषाओं के काव्यों के लिए अनुपयुक्त है। समय के परिवर्तित होने के साथ ही भाषा की प्रकृति में भी बदलाव आते हैं। भाषाविज्ञानी यह मानते हैं कि भाषाएं संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर आगे बढ़ती हैं। ऐसी स्थिति में पदबंधों की कसावट या शिथिलता मात्र पर आधारित सिद्धांत सर्वदा प्रासंगिक कैसे रह सकता है?

परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इन प्रश्नों के वास्तविक उत्तर पाने के लिए हमें रीति सिद्धांत में निबद्ध आलोचना के उन व्यापक तत्त्वों पर विचार करना होगा जिनके कारण वे कविता के वर्तमान युग में भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

सर्वप्रथम यदि हम रीति के पारिभाषिक लक्षण को न देखकर केवल उसके लिए प्रयुक्त पर्याय शब्दों पर दृष्टि डालें तो उसका आशय खुल कर सामने आता है। रीति को सर्वप्रथम महत्व देने वाले आचार्य दण्डी तथा वामन के बाद कुंतक ने रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है।<sup>18</sup> स्वयं रीति शब्द की व्युत्पत्ति रीड़ गतौ धातु से मानते हुए भोजराज ने इसके पर्याय के रूप में 'पन्थाः' शब्द का प्रयोग किया।<sup>19</sup>

इन नामांतरों से प्रकट है कि पूर्वोक्त आचार्य रीति को काव्य के संचरण का मार्ग मानते हैं। कवि से सहृदय तक की रस की जो यात्रा है, उस यात्रा के मार्ग का नाम है-रीति। कविता जिस प्रकार से विकसित होती है उसकी प्रक्रिया रीति है। यह मार्ग तो काव्यार्थ का है लेकिन इसे प्रकारांतर से कवि का भी मार्ग मान लिया जाता है। और कविता के बहुविध गति का मार्ग भी यही होता है। हर कवि का काव्यार्थ किसी न किसी मार्ग से होकर ही अभिव्यक्ति तक पहुंचता है। साथ ही काव्यार्थ का संप्रेषित होना भी बहुत हद तक इस मार्ग पर ही निर्भर करता है। इस मार्ग का निर्माण निश्चित रूप से कवि ही करता है अतः मार्ग का सौष्ठव या असौंदर्य कवि की कुशलता (जिसे काव्यशास्त्री प्रतिभा कहना पसंद करेंगे) पर ही निर्भर करता है। अलग-अलग सवारियों के लिए जैसे भिन्न-भिन्न मार्ग उचित होते हैं, वैसे ही अलग अलग काव्यार्थों के लिए रीति या मार्ग भी भिन्न-भिन्न बनते हैं जिनकी सहायता से वे बिना लड़खड़ाए अपने गंतव्य तक पहुंच पाते हैं। साथ ही यह मार्ग लौकिक मार्गों से कई दृष्टियों में भिन्न है। कवि को चलने के लिए बना बनाया मार्ग नहीं मिलता है। वह स्वयं रास्ता बनाता हुआ चलता है। उसकी दृष्टि में मार्गविशेष का खाका तो अवश्य रहता है परंतु वह रास्ता कहां सरपट दौड़ेगा,

कहाँ मुड़ेगा, कहां उसमें विश्राम-स्थल होंगे तथा मंजिल आने से पहले कितने मरहलों के पेंच मिलेंगे यह वस्तुतः उसे भी नहीं मालूम होता है- दामे हर मौज में है हल्का ए सद-कामे नहंग। देखें गुजरे है क्या कतरे पे गुहर होने तक।<sup>20</sup> कालिदास इतना तो जानते हैं कि रघूणाम् अन्वयं वक्ष्ये<sup>21</sup> (रघुवंशियों का वर्णन करने चल रहा हूँ,) परंतु अज विलाप से लेकर सीता का राम के प्रति संदेश आदि प्रसंगों में रस की कितनी और किस रंग में सृष्टि होगी, यह संभवतः वह भी नहीं जानते। पाश्चात्य काव्यशास्त्री क्रोचे इस धारणा का खंडन करते हैं कि कवि या कलाकार के अंतरंग की अनुभूति में ही कोई रचना संपूर्ण रूप से प्रस्फुटित होती है। वास्तव में कवि के मन में सबसे पहले जो कलाकृति रूप लेती है, वह अस्पष्ट होती है। 'जब तक वह भाषा के माध्यम से संपूर्ण रूप से प्रस्फुटित नहीं होती, तब तक कवि को इस बात का पता चलना संभव नहीं होता कि वह क्या कहने जा रहा है'<sup>22</sup>। अज्ञातता के इसी तत्त्व के कारण काव्य में दिव्यता का आरोप किया जाता है। स्वयं वैदिक कवि (कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः) तथा लौकिक कवि (आते हैं गैब से ए मजामीं खयाल में। गालिब सरीरे खामा नवा ए सरोश है<sup>23</sup>) कविता की इस अलौकिकता पर आश्चर्य करते हैं, सहृदयों का तो कहना ही क्या।

काव्य मार्ग अन्य मार्गों से इसलिए भी पृथक् है कि इसमें मार्ग एवं गन्तव्य में वास्तविक भेद नहीं होता। यहां तो रास्ता ही मंजिल है। कवि सहृदय को वादा-ए-फर्दा (कल के वादे) पर नहीं टालता। वहां तो स्वादु स्वादु पदे पदे की स्थिति होती है। काव्य की प्रस्तुति के समकाल ही काव्यार्थ की उपलब्धि रसनव्यापार की आदर्श स्थिति है। शब्द एवं अर्थ की समकालीनता तथा सर्वसम्मत अविनाभाव भी रसार्थ को भिन्न सिद्ध करने में बड़ा बाधक है<sup>24</sup>। इस मार्ग पर औचित्यपूर्ण गमन ही गन्तव्य है। काव्य की संघटना को ठीक-ठीक समझना ही रसनव्यापार है।

रीतिवादी आचार्यों ने रीति को उपर्युक्त प्रकार से ही समझा है। न कि वैसा जैसे उसके प्रतिपक्षी विश्वनाथ आदि उसे प्रस्तुत करते हैं। अतः यह सर्वसमावेशी सिद्धांत काल तथा देश के पाश से मुक्त है। कोई भी आलोचक या काव्यार्थ तत्त्व का अन्वेषक काव्य मार्ग का अतिक्रमण नहीं कर सकता। यदि वह अतिक्रमण करता है तो वह नवीन सरणि ही उसका मार्ग बन जाएगी (प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीतिव्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः कवीनाम्)। गमन सरणि तो गति की अनिवार्य शर्त है। इसी कारण से अंग्रेजी या फारसी किसी भी काव्यालोचन सिद्धांत में रीतियों की चर्चा के बिना कार्य नहीं चलता।

अब हम रीतिसिद्धांत के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन द्वारा प्रदत्त परिभाषा पर आते हैं। वामन केवल पदसंरचना मात्र को रीति नहीं मानते। उसे उन्होंने 'विशिष्ट' शब्द के द्वारा विशेषित किया है-विशिष्टपदरचना रीतिः अर्थात् विशेषयुक्त पदसंघटना का नाम रीति है और उन्होंने स्पष्ट किया है कि वह विशेष गुण है। रीति के बारे में वामन का विचार भामह, दंडी आदि आलंकारिकों से स्पष्ट रूप से भिन्न है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने गुणों की गणना रीति या मार्ग के विभाजन के संदर्भ में की तो है<sup>25</sup> पर गुणों के साथ अलंकारों का होना भी आवश्यक कहा है और उन्होंने बंध की अतिशयिता के लिए कारणीभूत शब्दगुणों को वरीयता दी है। वामन

ने स्पष्ट विचलन व्यक्त करते हुए रीति की आधारशिला के रूप में अर्थगुणों की गणना की है। अर्थगुण व्यापक भी होते हैं और रसनिष्यन्दी भी। दण्डी के द्वारा बताए गए दस गुणों को दुगुना करते हुए उन्होंने दस शब्दगुणों के साथ साथ दस अर्थगुणों की सत्ता भी स्वीकार की है। अर्थगुणों का निरूपण ही वामन के अनुसार काव्य की रीति के प्रधान लक्षण हैं<sup>26</sup>। इन विशेष गुणों वाली पदरचना ही रीति है। यह परिकल्पना अलंकार सहित समूचे काव्य शरीर में व्याप्त होती है। इस प्रकार वामन ने काव्यार्थ सहित संपूर्ण काव्य शरीर को विशेष पद रचना कहा है।” केवल शब्दगुण ही नहीं- परंपरामान्य गुणों के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्दशक्ति और दोषाभाव भी वामनीय रीति के मूल तत्त्व हैं। यदि परवर्ती काव्यशास्त्र की शब्दावली में कहें तो वामन के मत में रीति के बहिरंग तत्त्व हैं शब्द-गुण, और अंतरंग तत्त्व हैं गुण, रस, ध्वनि, अर्थालंकार और दोषाभाव।<sup>27</sup> “इस तरह वामन ने रीति सिद्धांत को सर्वसमावेशी समग्र रचना के रूप में लिया है और संभवतः इसी अर्थ में आत्मा शब्द का प्रयोग किया है<sup>28</sup>। ध्वनिवादियों ने केवल इस समग्र रचना में से आभरण, शरीर तथा आत्मा को अलग अलग पहचानने का प्रयत्न किया।

वामन इस खंडित दृष्टि के पोषक नहीं हैं। उनके द्वारा बताए गए 20 रीति गुणों में से केवल 3 अर्थगुणों का सोदाहरण विवेचन हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं। इससे इन गुणों की व्यापकता का दिग्मात्र निदर्शन हो सकेगा।

1. **समाधि-** वामन के अनुसार काव्योपयोगी अर्थों की उद्भावना समाधि नामक काव्य गुण है<sup>29</sup>। यह उद्भावना नितांत नयी भी हो सकती है (= अयोनि), और किसी अन्य कवि के काव्य से प्रोत्साहित भी (=अन्यच्छायायोनि)। अगर हम ध्यान से देखें तो वामन के द्वारा प्रस्तावित इस गुण में काव्य में प्रयुक्त सभी प्रकार के अर्थ आ जाते हैं। किसी भी काव्य में ए दोनों प्रकार के अर्थ होते ही हैं। कवि अपने पूर्वज कवियों से आधारभूमि के लिए जो कुछ लेता है, वह उसकी कविता में झलक ही जाते हैं। लेकिन उत्तम कोटि के कवि बहुत बार उन्हीं पूर्वतः प्राप्त काव्यार्थों से बिलकुल हटकर भी कुछ कह जाते हैं, जो बहुत ही स्पृहणीय होता है। वस्तुतः समाधि नाम का यह गुण, कवि के उत्तम, मध्यम अथवा अधम कोटि के निर्धारण में कसौटी के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। जिस कवि में अयोनि अर्थ अर्थात् मौलिक उद्भावनाएं अधिक होंगी वह निश्चित रूप से उत्तम कोटि का कवि होगा। इसके विपरीत अयोनि अर्थ की अल्पता कवि को मध्यम या उससे भी अधम कोटि तक पहुंचा सकती है<sup>30</sup>। समाधि गुण के उदाहरण के रूप महाकवि गालिब का एक शेर, मुलाहिजा हो-

*कयामत है कि होवे हमसफर का मुद्ई 'गालिब'*

*वो काफिर जो खुदा को भी न सौंपा जाए है हमसे*

इस कविता में कवि ने बिलकुल एक नए अर्थ की उद्भावना की है। वह यह कि वह प्रिय जिससे बिछड़ते समय हम खुदा-हाफिज (ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे,) भी नहीं कह सकते थे। अर्थात् ईश्वर उसके साथ रहे, यह भी हमारी ईर्ष्या को गवारा नहीं था, वही प्रिय अगर मेरे

प्रतिद्वंद्वी के साथ घूमता नजर आवे तो मुझ पर क्या कयामत गुजरेगी?

बिल्कुल ताजा काव्यार्थ होने के कारण यह अयोनि काव्यार्थ युक्त समाधि गुण का उदाहरण है। इसी अर्थ को मूल में रखकर अर्वाचीन कवि (हसरत जयपुरी) की एक प्रसिद्ध गीत पंक्ति देखें, जो अन्यच्छायायोनि अर्थ से युक्त समाधि गुण का उदाहरण बन सकती है-

*मैं कैसे खुदा हाफिज कह दूँ मुझको तो किसी का यकीन नहीं  
बस जाओ हमारी आंखों में भगवान की नीयत ठीक नहीं*

**2. माधुर्य-** वामन के अनुसार माधुर्य नामक अर्थगुण वहां होता है जहां कवि की उक्तियों में काव्यात्मक विचित्रता दिखायी पड़ती है<sup>31</sup>। यह गुण सभी प्रकार की कविता में होना आवश्यक है। इसके अभाव में कविता पुराने चित्र की तरह अनाकर्षक हो रहती है। उर्दू कविता में प्रगतिवाद के जनक शायर मजरूह सुल्तानपुरी के निम्नोक्त शेर में माधुर्य गुण का उदाहरण देखें-

*रात जब चांद से मसरूफे-सुखन<sup>32</sup> होती है  
मेरे दिल में तेरी पलकों की चुभन होती है*

विरह में प्रिया की याद के अनिर्वचनीय कष्ट को पलकों की चुभन के द्वारा व्यक्त करना एक अद्भुत प्रयोग है जिससे सारी कविता समुज्ज्वल हो उठी है। इसके साथ ही चांदनी रात के सन्नाटे के लिए उसका चांद के साथमसरूफे-सुखन होने का मुहावरा बिलकुल ताजा तथा विचित्र है।

**3. सौकुमार्य-** कविता जनमानस को प्रीतिकर लगे इसके लिए उसमें कठोर अर्थों की वर्जना की जाती है। लेकिन कविता में सुंदर वर्णनों के अतिरिक्त भीषण तथा जुगुप्सित वर्णन भी तो होते हैं। वामन का कहना है कि जब कठोर वस्तुओं का वर्णन भी पारुष्य रहित ढंग से किया जाए तो वहां सौकुमार्य नामक अर्थ गुण होता है<sup>33</sup>, जैसे मृत के लिए यशःशेष का प्रयोग आदि। इसके उदाहरण के रूप में उर्दू कविता के उस्ताद (आचार्य) शायर मोमिन का निम्नोक्त शेर प्रस्तुत है-

*तू कहां जाएगी कुछ अपना ठिकाना कर ले  
हम तो कल ख़्वाब-ए-अदम में शब-ए-हिजरां होंगे*

‘हम नहीं रहेंगे’, इसके लिए ‘हम अस्तित्व विहीनता की नींद में होंगे’, ऐसा वर्णन अर्थगत सौकुमार्य का सुंदर उदाहरण है।

उपर्युक्त विवेचन तथा उदाहरणों से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली, ध्वनिवादियों के मत के विपरीत वामन का रीति सिद्धांत शरीरसंरचना मात्र नहीं है। दूसरी, शब्द मात्र से संबद्ध न होने के कारण रीति सिद्धांत केवल किसी भाषा मात्र तक सीमित नहीं है।

रीतिसिद्धांत के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि प्रादेशिक भेदों में विभाजित होने के कारण रीतियां तात्कालिक काव्यप्रवृत्ति मात्र का द्योतन करती हैं। अतः ये सार्वभौम नहीं हो सकतीं। रीति के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन को भी इस संभावित शंका का अनुमान था।

इसलिए उन्होंने इस प्रश्न को उठाकर इसका उत्तर दिया है। उनके अनुसार वैदर्भी आदि रीतियां विदर्भादि देशों के नाम पर इसलिए रखे गए हैं कि इन देशों में इनका विशेष प्रयोग होता है<sup>34</sup>। वस्तुतः ये नाम भारत की प्राचीन काव्यप्रवृत्तियों के इतिहास को दर्शाते हैं। वामन के अनुसार तत्त्व के रूप में ये रीतियां पहले से थीं और प्रदेशानुसार उनका नामकरण बाद में हुआ। बाद में प्रदेशों के साथ उनका संबंध इतना अलग हो गया और रीति के नियामक तत्त्व के रूप में अन्य तत्त्वों को इस तरह महत्व दिया जाने लगा कि प्रादेशिक नामकरण की शैली के विरुद्ध आवाजें भी उठने लगीं। आचार्य कुंतक ने प्रादेशिक नामों को छोड़कर सुकुमार, विचित्र और मध्यम के भेद से नया नामकरण सुझाया परंतु इस परिवर्तन से कोई तात्त्विक अंतर हो गया हो ऐसा नहीं है। किसी शब्द के प्रचलित होने का कारण अलग और उसकी प्रवृत्ति का कारण भिन्न होता है<sup>35</sup>। वैदर्भी, पांचाली आदि का निर्धारण जब गुणों के आधार पर होना है, भूगोल के आधार पर नहीं, तो उनके नामों को स्वीकार करने में कोई बुराई नहीं है।

इस प्रसंग में एक बहुत ही रोचक तथ्य ध्यातव्य है। फारसी कविता में रीतियों का विभाजन भी प्रदेशों के आधार पर हुआ है- सबके खुरासानी, सबके हिंदी तथा सबके इराकी। यह प्रवृत्ति ऐतिहासिक घटनाओं की ओर इशारा करती है। ईरान में सफवियों के काल में जब धार्मिक तथा वैचारिक स्वतंत्रता का हनन होने लगा तब बहुत सारे कवियों ने भाग कर भारत में शरण ली। भारत की काव्य प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर फारसी कविता में एक भिन्न प्रकार की काव्य शैली का प्रवर्तन हुआ जिसे फारसी कविता की सबके हिंदी या भारतीय शैली कहते हैं। इस संदर्भ में अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि एक ही शैली के कई नाम हैं और वह भी अनेक प्रदेशों के नाम पर। जैसे सबके हिंदी को सबके इस्फहानी भी कहते हैं तथा सबके खुरासानी को तुर्किस्तानी या सामानी भी कहते हैं। इससे बात और भी स्पष्ट होती है कि भूगोल तथा शैली के मध्य अविनाभाव संबंध नहीं है।

पारंपरिक रीति सिद्धांत का आधुनिक शैलीवैज्ञानिक आलोचना सिद्धांत के साथ तुलना करते हुए सामान्यतया कहा जाता है कि भारतीय रीति सिद्धांत प्रधान रूप से साहित्य अथवा काव्य भाषा के वचन विन्यास को ही ध्यान में रखकर रीति के स्वरूप को समझने की चेष्टा करते रहे, किंतु भाषा को इस विशेष क्रम में प्रयोग किए जाने के पीछे कवि के व्यक्तित्व की ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया<sup>36</sup>। पश्चिमी समीक्षकों की धारणा शैली को प्रधान रूप से कवि के विशेष व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानती है। वस्तुतः प्रारम्भ में गुण तथा वर्ण्य विषय को रीति का नियामक तत्त्व माना गया था। बाद में भारतीय रीतिसिद्धांत में विकास दृष्टिगोचर होता है तथा हम पाते हैं कि एकाधिक आचार्यों ने काव्य की संघटना में कवि के व्यक्तित्व का महान् योग स्वीकार किया है। आचार्य कुंतक का रीति (मार्ग) विवेचन आश्चर्यजनक रूप से पाश्चात्य विद्वानों के साथ साम्य रखता है। उनकी धारणा यह है कि मार्ग के लक्षणों को बंध-गुणों के आधार पर समझने की अपेक्षा अलंकार तथा रस का नियोजन करने वाले कवि की मनोवृत्ति के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए। सच्ची रीति अथवा मार्ग की श्रेष्ठता

अथवा कनिष्ठता संबंधित कवि की प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के तारतम्य एवं कवि के स्वभाव पर निर्भर होते हैं। इस दृष्टि से रीति का निर्णय कवि के स्वभाव के आधार पर किया जाना चाहिए क्योंकि काव्य की रचना करने वाला कवि होता है। कवि एक व्यक्ति होता है, उसका अपना एक निजी व्यक्तित्व होता है और उस व्यक्तित्व की विशेष मनोवृत्ति के द्वारा ही अनुभवों को ग्रहण करता रहता है। अतः वह जिस वस्तु का चयन करता है, जिस भाषा का प्रयोग करता है, जिस विधान का निर्वाह करता है, उन सबकी, सारांशतः कवि की समूची काव्याभिव्यक्ति में उसके विशेष स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि शैली प्रति व्यक्ति भिन्न होती रहती है<sup>37</sup>। दंडी का अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् कहने का तात्पर्य वस्तुतः यह प्रतिकवि शैली भेद ही है। इतना ही नहीं एक ही कवि की विविध कविताओं में अथवा उसकी एक ही कविता के विविध अंशों में शैली का पार्थक्य हो जाता है। उदाहरण के लिए 'राम की शक्ति पूजा' में राम की विकलता देखकर हनुमान् का जो संरंभ है उसके वर्णन की शैली में प्रत्यक्ष चढ़ाव को देखें-

*तोड़ता बंध प्रतिसन्ध धरा हो स्फीत वक्ष  
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष  
करने को ग्रस्त समस्त व्योम कपि बढ़ा अटल*

इसके बाद अंजनारूपिणी शक्ति के द्वारा समझाए जाने पर आने में काव्यार्थ के उतार का अनुभवगम्य दृश्य देखें-

*कपि हुए नम्र, क्षण में माता छवि हुई लीन  
उतरे धीरे धीरे गह प्रभुपद हुए दीन*

इन दोनों उतार चढ़ावों की व्याख्या रीति सिद्धांत के अर्थगुणों का आश्रय लिए बिना नहीं हो सकती।

तथा इस घटना के पहले राम के चित्त में जानकी के उदय का वर्णन-

जानकीनयनकमनीयप्रथमकम्पनतुरीय, में समासबहुलता होने के बावजूद वैदर्भी का प्राणभूत गुण माधुर्य स्पष्ट ही दृष्टिगत होता है।

पंत को सुकुमार कवि कहा जाना उनके वैदर्भी शैली के सुंदर प्रयोग के कारण ही है-

*नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार,  
तरुणतम-सुंदरता की आग!  
कल्पना के ये विह्वल-बाल,  
आंख के अश्रु, हृदय के हास;  
वेदना के प्रदीप की ज्वाल,  
प्रणय के ये मधुमास;  
सुछवि के छायाबन की सांस  
भर गई इनमें हाव, हुलास!*



आज पल्लवित हुई है डाल,  
झुकेगा कल गुंजित-मधुमास;  
मुग्ध होंगे मधु से मधु-बाल,  
सुरभि से अस्थिर मरुताकाश!

लेकिन वही पंत परिवर्तन नामक कविता में शैली के पर्याप्त विचलन को प्रदर्शित करते हैं-

अहे निष्ठुर परिवर्तन!  
तुम्हारा ही तांडव नर्तन  
विश्व का करुण विवर्तन!  
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,  
निखिल उत्थान, पतन!  
अहे वासुकि सहस्र फन!  
लक्ष्य अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर  
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर !  
शत-शत फेनोच्छ्वासित, स्फीत फुतकार भयंकर  
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर !  
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर ,  
अखिल विश्व की विवर  
वक्र कुंडल  
दिग्मंडल!  
तुलसी की शैलियों में दृष्टिगत विचलन-  
जो जगदीस इन्हें बन दीन्हा । कत न कुसुममय मारग कीन्हा ।  
तथा, लंकादहन के प्रसंग में-  
बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानो  
लंक लीलिवे को काल रसना पसारी है।  
एवं, युद्ध का प्रसंग  
कटकटहिं मरकट विकट भट....  
तथा भूषण की शैली-  
साजि चतुरंग सैन अंग में उमंग भरि सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं।

इन शैलियों की रसानुगुणता की व्याख्या केवल रीति सिद्धांत ही कर सकता है।

कालिदास, श्रीहर्ष तथा जयदेव को वैदर्भी रीति का कवि कहा जाता है परंतु उन सबकी शैली में जो भेद दीखता है वह उनके व्यक्तित्व के कारण है। इसी को दण्डी माधुर्य के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं, जैसे गन्ने, मधु, शर्करा आदि के माधुर्य में भेद तो पर्याप्त है परंतु इनमें कुछ

साम्य भी है जिसके कारण तीनों को 'मधुर' कह सकते हैं। भेद तो स्फुट है और वह कवि के व्यक्तित्व के कारण है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उन भेदों के बावजूद उन सभी को एक वर्ग में रखने के लिए जिम्मेदार तत्त्वों की खोजकर उन्हें एक साथ वर्गीकृत करना।

कालिदास का ओजपूर्ण वर्णन तथा भवभूति के युद्धवर्णन में भी अंतर है। इससे यह पता चलता है कि कवि के व्यक्तित्व के द्वारा प्रायोजित शैली इतनी दृढ़ होती है कि उसे वर्णनीय का भेद भी परिवर्तित नहीं कर सकता।

वस्तुतः पदसंघटना यदि शैली का लक्षण है तो कवि स्वभाव अथवा विषय चयन शैली विशेष के चयन में कारण हैं। आचार्य आनंदवर्धन ने शैली के नियामक तत्त्वों को और विशद दृष्टि रखकर निरूपित किया है-

तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ध्वन्यालोक-३.६

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति। काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा॥ वही ३.७॥

आचार्य ने यहां 1- कवि, 2- विषय तथा 3- अर्थ अर्थात् रस को काव्यरीति का नियामक माना है। इस प्रकार रीति के नियामक तत्त्वों के प्रति भारतीय सिद्धांत विशद दृष्टि रखते हैं, अन्यथा युद्ध वर्णन तो युद्ध वर्णन है। वह एक कवि का अलग और दूसरे का अलग कैसे हो सकता है। इस प्रकार कवि यदि कई शैलियों का प्रयोग करता है तो वहां उसका नियामक वर्ण्य है तथापि समान वर्ण्य विषय यदि भिन्न कवियों के हाथ में पड़कर भिन्न अनुभूति देते हैं तो वहां कवि का व्यक्तित्व कार्यरत होता है।

वस्तुतः कवित्व की स्थिति में कवि का व्यक्तित्व कविता के वर्ण्य के साथ एकमेक हो जाता है। एक ही वस्तु भिन्न भिन्न कवियों के यहां अलग-अलग रूप में आती है क्योंकि उसपर कवि के व्यक्तित्व की छाप रहती है। वाल्मीकि, कालिदास तथा तुलसीदास तीनों के रामकथा की वस्तु में जो अंतर है वह उनके व्यक्तित्वगत विशेषताओं के कारण से ही है। इसलिए जब हम विषय की बात करते हैं तब कवि का व्यक्तित्व उसमें गतार्थ हो ही जाता है लेकिन यहां भी आवश्यक है कि कवि का व्यक्तित्व धरातल के रूप में ही आए जिस पर काव्यवस्तु अवस्थित हो। वह सर्वत्र हो, लेकिन उसकी घुसपैठिए की तरह अभिधान न हो। वस्तुतः, व्यक्तिवाद पर अत्यधिक जोर देना भारतीय चिंतन प्रणाली का भी निदर्शन करता है। भारतीय समाज व्यक्तिवादी नहीं रहा, इस कारण रीति चिंतन में व्यक्तित्व की बात बहुत बाद में कही गयी। उदाहरण के लिए भारवि का यह कथन कि प्रसाद गुण तथा अर्थगांभीर्य से समन्वित वाणी जिस तिस की नहीं हो सकती- प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगंभीरपदा सरस्वती आदि।

इसके अतिरिक्त कवि की शैली को अलग से पहचान लेने की जो योग्यता आलोचकों में दिखती रही है, वह कवि के व्यक्तित्व पर आधारित शैली विश्लेषण का ही परिणाम है। कवि-प्रशंसा के प्रसंग में निश्चयपूर्वक कहा जाता है कि- अमुक-अमुक गुणों युक्त वाणी अमुक कवि की ही हो सकती है- 'न कालिदासादपरस्य वाणी। तथा सा किं तरुणी, न हि न हि वाणी

बाणस्य मधुरशीलस्य' आदि उदाहरण इस तथ्य का उपोद्बलन करते हैं।

प्रसिद्ध फारसी कवि जलालुद्दीन रूमी अपनी मस्नवी की कथाओं का प्रारंभ करते हुए अक्सर कहते हैं- बिश्नवीद् ऐ दूस्तान् ईन् दास्तान्। खुद हकीकत नक्दे हाले मास्त आन॥ (मित्रो, इस कथा को सुनो-इसमें वस्तुतः हमारी ही कहानी कही गयी है।) मेघदूत को भी रसिकों ने प्रकारांतर से स्वयं कालिदास की अपनी ही कथा माना है। बाबा नागार्जुन की प्रश्नात्मक कविता- कालिदास सच सच बतलाना इसी दृष्टि की प्रस्तुति है। इस प्रकार कवि एवं काव्य के अविनाभाव के अनुरोध से एक के कथन से दूसरा गतार्थ हो जाता है। अतः एक के कथन से कार्य चल सकता है।

भारतीय शैली विज्ञान का एक अन्य नियामक तत्त्व है भाषा। भारतीय साहित्य अपने प्रारंभिक काल से ही बहुभाषी रहा है। संस्कृत का कवि पहले भी बहुभाषी हुआ करता था। अतः एक ही कवि की शैली भाषा के अनुसार बदल जाने की चर्चा प्रायः हम देखते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में भाषा की शैली के बारे में भी चर्चा की गयी है। महाराष्ट्र की भाषा प्राकृत काव्य के लिए उत्कृष्ट मानी गयी है। सेतुबंध आदि सूक्ति प्रधान काव्यों की रचना इसी में हुई है। गाथासप्तशतीकार हाल का कहना है कि प्रेम की बातों की शैली तो प्राकृत भाषा में ही संभव है- अमिअं पाउअकव्यं पढिउं सोउं अ जे ण जाणन्ति। कामस्स तत्तन्तिं कुणांति ते कहां ण लज्जंति<sup>38</sup>॥ दोनों भाषाओं के बीच शैली भेद का कारण राजशेखर ने पहचानने की कोशिश की है- फरुसा सक्कअबंधा पाउअ बंधो वि होइ सुउमारो। पुरुसाणं महिलाणं जेत्तिअमिहमन्तरं तेत्तिअमिमाणं<sup>39</sup>॥ इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति सिद्धांत, भाषा के परिवर्तित होने तथा समाज की बहुभाषिकता जैसी परिघटनाओं; जिनके आधार पर अप्रासंगिकता की आशंका उठाई जाती है, से अत्यन्त सुपरिचित है तथा उसने अपने आपको इन परिस्थितियों के अनुकूल ढाला भी है।

इसके अतिरिक्त काव्यभेदों के आधार पर भी कवियों की शैलियों के परीक्षण की चर्चा होती रही है। यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबंधे न तादृशः<sup>40</sup>। बाण की शैली जिस प्रकार गद्य लिखने में सुंदर होकर उभरती है पद्य रचना में वैसा आकर्षण अथवा ओज नहीं दिखता है अथवा एक ही कवि दो भाषाओं में लिखता हुआ भी अपनी शैली में तारतम्य देख पाता है। उदाहरण के लिए स्वयं विद्यापति संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में अपनी क्षमताओं में तथा उन भिन्न भिन्न काव्यों के बारे में रसिकों की ग्राह्यता में तारतम्य पाते हुए देसी काव्य की प्रशंसा करते हैं-देसिल बयना सब जन मिट्टा। ते तैसनो जम्पओं अवहट्टा॥ गालिब का एक फ़ारसी शेर है- फारसी बीन् ता बेबीनी नक्श हा ए रंग रंग। बुग्ज़र अज़ ....ए उर्दू कि बीरंगे मन् अस्ता॥ (मेरी रंगबिरंगी फारसी शाइरी को देखो उर्दू को नहीं, मेरी उर्दू कविता तो बेरंग है)। इसमें अगर अतिशयोक्ति को निकाल दें तो भी एक ही कवि भाषा भेद से अपनी शैली भेद तथा उसमें शक्तिमत्ता की कमी बेशी का अनुभव कर पाता है।

केवल कवि ही भाषा अथवा शैली को प्रभावित नहीं करता। वह जिस भाषा में काव्य

रचना करता है उस भाषा की काव्य परम्परा, जिसमें उपमानों और बिम्बों का वैशिष्ट्य शामिल रहता है, भी उसे नियंत्रित किए हुए रहती है। गालिब की यह कविता एक सुंदर उदाहरण है- हर चंद हो मुशाहिदा-ए-हक की गुफ्तगू। बनती नहीं है बादा-ओ-सागर कहे बगैर। कवि अपनी विशिष्ट काव्य परंपरा की आधारभूमि पर रहता हुआ भी तथा उसकी शब्दावलियों का प्रयोग करता हुआ भी अर्थों की नवीनता उपस्थापित करता है। सिर्फ अर्थों को ही क्यों, काव्य के नए डिक्शन भी वह देता है जो बाद में लोक की भी निधि बन जाते हैं। इसीलिए तो कहते हैं कि बाइबिल के अंग्रेजी अनुवाद तथा शेक्सपियर की रचनाओं ने मिलकर अंग्रेजी भाषा का निर्माण किया। इस प्रकार लोक तथा पूर्वस्थापित काव्य की शैली कवि को तथा कवि काव्यजगत् तथा लोक दोनों को प्रभावित करता है।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिपादित सिद्धांतों का विकास सहस्राब्दियों तक होता रहा है। इस विशाल कालखंड में भाषाओं, संस्कृतियों के परिवर्तन के कारण न जाने कितनी बार प्रासंगिकता के प्रश्न उनके सामने आए रहे होंगे जैसे आज आ रहे हैं। रीति सिद्धांत ने अपने अंदर निहित सार्वकालिक तथा सर्वसमावेशी तत्त्वों के बल पर तथा कालानुकूल अपेक्षित परिवर्तनों का ग्रहण करके उन सभी प्रसंगों में अपनी अनिवार्यता सिद्ध की। आज भी रेवाप्रसाद द्विवेदी तथा राधावल्लभ त्रिपाठी जैसे अलंकारवादी आचार्यों ने जिस प्रकार रीति तथा अलंकार आदि सिद्धांतों की सीमाओं का विस्तार करते हुए व्याख्या की है वह उन सिद्धांतों को उनके वास्तविक रूपों में उपस्थापन का प्रयत्न तो हैं ही, साथ ही साथ इन सिद्धांतों को आधुनिक समीक्षा सिद्धांतों के लिए उपयोगी बनाने की भी कोशिश है। काव्य सिद्धांतों के तत्त्वों को पहचान कर उनका विकास किए जाने की आवश्यकता है, जो नवीन काव्य प्रवृत्तियों की समीक्षा में समर्थ हो सकते हैं। लोक के बदलने के साथ शास्त्रों में परिवर्तन तो हमारी परंपरा का हिस्सा है-युगे युगे व्याकरणांतराणि। ऐसा करके हम अनुभवों से प्राप्त काव्यचिंतन को खोए बिना उनका सुदृढ़ आधार लेकर नई समीक्षा समस्याओं से रू-बरू हो सकते हैं।

#### संदर्भ

- 1 गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।  
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामिनां प्रचक्षते॥ काव्यालंकार २.८७
- 2 रघुवंश १.१०
- 3 काव्यालंकार २.८५
- 4 काव्यप्रकाश १.१
- 5 यह प्रक्रिया महाकवियों के लिए अनुभव सिद्ध है। आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक तथा उर्दू के कवि फैज अहमद फैज ने अपने एक पत्र में इसका जिक्र किया है।
- 6 आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः। पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥  
यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्। तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥  
काव्यालङ्कारसूत्र १.३.१५ (वृत्ति)
- 7 गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते। काव्यालङ्कारसूत्र पृ. 158

- 8 काव्यालंकारसूत्र १.२.७
- 9 यानेव शब्दान् वयमालपामः यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः ।  
तैरेव विन्यासविचित्रसिद्धैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति॥
- 10 भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा- राधावल्लभ त्रिपाठी पृ. 53
- 11 रस को ध्वनिवादियों ने ही असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की कोटि में रखा है ।
- 12 ध्वन्यालोक १.६
- 13 ध्वन्यालोक ३.४६
- 14 लांगिनुस के अनुसार-कवि के समूचे व्यक्तित्व के सारे विविध अंग एकजुट होकर जब परिश्रम करते हैं तब उसका परिणाम शैली होती है । काव्यार्थ चिंतन में उद्धृत पृ. 104
- 15 रसगङ्गाधर पृ. 43
- 16 काव्यालंकारसूत्र भूमिका डॉ. नगेंद्र पृ. 141
- 17 वामन के बाद रुद्रट ने समास को रीति का मूल तत्त्व माना तथा लघु, दीर्घ एवं मध्यम समासों के अनुसार पांचाली, लाटी और गौडी रीतियों का विवेचन किया । रुद्रट के बाद राजशेखर ने अनुप्रास को भी रीति का मूल तत्त्व माना है ।
- 18 अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् । काव्यादर्श 1.40
- 19 वैदर्भादिः कृतः पन्थाः काव्ये मार्गा इति स्मृताः । रीङ् गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २.२७
- 20 दीवाने गालिब
- 21 रघुवंश १.६
- 22 C.D. Lewis : The Poetic Image, p-71, उद्धृत काव्यार्थ चिंतन, पृ. 121
- 23 दीवाने गालिब
- 24 सव्येतरविषाणवत् इनमें भेद का अभाव है । जो साथ साथ उत्पन्न होते हैं, उनमें कार्य-कारण भाव नहीं हो पाता ।(तर्कभाषा)
- 25 काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः । काव्यादर्श २.३६७
- 26 V.Raghavan : Some Concepts of AlankaraShastra, p.145
- 27 काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, भूमिका, डॉ. नगेंद्र, पृ. 46
- 28 भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्यपरम्परा, राधावल्लभ त्रिपाठी, पृ. 55॥ यद्यपि इसी सूत्र पर वामन की वृत्ति- 'काव्यस्य शरीरस्य' (अर्थात् शरीर काव्य है) इस मत को विचारक्षम नहीं रहने देती । शरीर संघटना से भिन्न शरीर हो भी सकता है क्या ?
- 29 अर्थ दृष्टिः समाधिः, काव्यालंकारसूत्र ३.२.७
- 30 तुलनीय राजशेखर कविरनुहरति छायां पदमेकं पादमेकमर्थं वा । सकलप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तुभ्यम्॥
- 31 उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्, काव्यालंकारसूत्र ३.२.११
- 32 बात करने में मग्न
- 33 अपारुष्यं सौकुमार्यम् ३.२.१२ (वृत्ति- परुषेऽर्थे अपारुष्यं सौकुमार्यम् ।)

- 34 काव्यालङ्कारसूत्र २.
- 35 अन्यद्धि शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तम् अन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तम् । साहित्यदर्पण पृ.31
- 36 काव्यार्थ चिंतन, पृ. 104
- 37 काव्यार्थ चिंतन, पृ. 112
- 38 गाहासत्तसई १.२
- 39 कर्पूरमंजरी १.
- 40 अथवा, यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धेऽपि तादृशः ।

#### चयनित संदर्भ

##### मूल ग्रंथ-

- काव्यादर्श-आचार्य दंडी (संस्कृत हिंदी व्याख्या- रामचंद्र मिश्र), चौखंबा विद्याभवन-वाराणसी, 1958.
- काव्यप्रकाश-आचार्य मम्मट (सोमेश्वर कृत काव्यादर्शसंकेत सहित), राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, 1959.
- ध्वन्यालोक-आनंदवर्धन (हिंदी व्याख्या- जगन्नाथ पाठक), चौखंबा विद्याभवन- वाराणसी, 1965
- काव्यालंकार- आचार्य भामह (हिंदी भाष्यकार-देवेन्द्रनाथ शर्मा), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1985
- रसगंगाधर- पंडितराज जगन्नाथ (प्रथम आनन, नागेशभट्ट की व्याख्या तथा अंग्रेजी एवं बांग्ला अनुवाद सहित) चिन्मयी चटर्जी, द एशियाटिक सोसायटी-कलकत्ता, 1992
- साहित्यदर्पण-विश्वनाथ कविराज (विमला हिंदीव्याख्या-शालिग्राम शास्त्री), मोतीलाल बनारसीदास, पुनर.- 2000.
- सरस्वतीकांठाभरण-भोजराज (संपादन तथा अंग्रेजी अनुवाद-सुंदरी सिद्धार्थ), इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, 2009.

##### समीक्षा ग्रंथ-

- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास- डॉ. सुशील कुमार डे (हिंदी अनु.) श्री मायाराम वर्मा, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1988
- भारतीय काव्य सिद्धांत- (संपा.) डॉ. नगेंद्र, डॉ. तारकनाथ बाली, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय- दिल्ली विश्वविद्यालय, (पुन) 1990
- भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परंपरा- डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 2007.
- काव्यार्थ चिंतन- जी.एस. शिवरुद्रप्पा, (हिंदी अनुवाद) भालचंद्र जयशेठ्टी, साहित्य अकादमी, 2007.
- 'Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit'- कुप्पुस्वामी शास्त्री-मद्रास, 1927.



## छायावादी आलोचना का स्वरूप

चन्द्रदेव यादव

हिंदी में दो बातें अकसर दिखाई देती हैं- पहली, अपनी परंपरा के प्रति नकार का भाव और दूसरी, पश्चिमी विचारों के प्रति अतिरिक्त लगाव। यही कारण है कि पुराने साहित्य पर बात करते समय प्रायः लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं, जबकि इसके विपरीत कोई बेमन से भी किसी विमर्श का नाम ले ले तो उस विषय की जानकारी न रखने वाला भी पूरे उत्साह के साथ उस पर चर्चा करने लगता है। वर्तमान समय में किसी समस्या के संदर्भ में योग्य-अयोग्य लोगों की यह जो कूदा-कूदी है, यह एक नया फैशन है। इस फैशन में अगर कुछ पुराना जुड़ जाए तो अलग बात है अन्यथा बहुतांशों के लिए तो मध्यकालीन कविता निरर्थक हो गई है। आदिकालीन कविता पर बात करना प्रागैतिहासिक काल पर बात करने जैसा हो गया है और तो और, कुछ लोग छायावादी कविता पर भी बात करते हुए नाक-भौं सिकोड़ते हैं। इसके कई कारण हैं। पहला कारण है छायावादी कविता का पल्ले न पड़ना। दूसरा कारण है उसका भाववादी होना। तीसरा कारण है कुछ आलोचकों की छायावाद संबंधी ऐसी धारणाएं जो आज के संकीर्ण मानसिकता वाले पाठकों के अनुकूल पड़ती हैं और चौथा कारण है छायावादी कविता की भाषा, हालांकि छायावाद की सभी कविताओं की भाषा अबोधगम्य नहीं है। नलिन विलोचन शर्मा ने हिंदी उपन्यासों की भाषा पर बात करते हुए प्रसाद की भाषा को 'फीलपॉवी' कहा था, लेकिन प्रसाद की इस भाषा का चरम रूप उनकी कहानियों, नाटकों और कविताओं में मिलता है। प्रसाद ने 'आकाशदीप' कहानी में शाम का जिस तरह वर्णन किया है और उस भाषा में जिस तरह की चित्रकारी है उस पर टिप्पणी करने वालों पर नामवर सिंह ने चुटकी लेते हुए लिखा है- 'आज के यथार्थवादी लेखक के लिए यह संपूर्ण चित्रकारी उपहासास्पद प्रतीत हो सकती है। वह ऐसी शब्द-योजना करना पसंद न करेगा लेकिन कहना यह है कि यदि वह कोशिश भी करे तो ऐसी मुग्ध चित्रकारी और मोहक शब्द-योजना वह नहीं दिखा सकता। यदि वह किसी तरह नकल करके कुछ कर भी डाले तो प्रसाद की भाषा से उसकी भाषा अधिक उपहासास्पद होगी।' (इतिहास और आलोचना, पृ. 102)

अजीब स्थिति है जिसमें रुचि हो और वह काम का हो तो भले ही वह पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का क्यों न हो- स्वीकार्य है, लेकिन जिसका ज्ञान न हो वह 'आउटडेटेड' है। इस बात

को भला हिंदी का कौन पाठक नहीं जानता कि प्रसाद सहित सभी छायावादी कवियों ने खड़ी बोली हिंदी का संस्कार-परिष्कार कर उसे इस लायक बना दिया कि उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म कोमल भावों की अभिव्यक्ति हो सके। छायावादी कवियों ने नए ढंग की कविता के लिए नए तरह की भाषा का प्रयोग किया। जयशंकर प्रसाद ने लिखा भी कि नई कविता के लिए नई काव्य-भाषा की जरूरत पड़ी। कहना न होगा, इस तरह की भाषा एक ऐतिहासिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखी गई थी। वह साधारण नहीं, लाक्षणिक थी। उसमें व्यक्त भाव इसलिए थोड़ा अस्पष्टी थे कि वह अभिधात्मक नहीं थी। मुकुटधर पांडेय ने लिखा था कि छायावादी कवियों को सीधे-सीधे भाव-प्रकाशन पसंद नहीं था। उनकी राय में कविता में थोड़ी-थोड़ी अस्पष्टता होनी चाहिए। दरअसल छायावादी कवियों के सामने ब्रजभाषा और उर्दू की कविता चुनौती के रूप में थी, इसलिए उन्होंने ने खड़ी बोली का ऐसा स्वरूप निर्धारित किया।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के अंत में जिस नई काव्यधारा का आरंभ हुआ, उसे छायावाद की संज्ञा दी गई। यह नई काव्यधारा द्विवेदी युगीन कविता की स्थूलता और इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व में आई। छायावादी कविता के मूल में कई अन्य कारण भी थे, जैसे- साम्राज्यवाद का विरोध, स्त्री स्वाधीनता, राष्ट्रीयता और देश प्रेम की भावना का प्रसार, करुणा और मानवतावाद को प्रश्रय तथा सामाजिक जकड़बंदी से मुक्त 'मैं' की केंद्रीयता। उनकी दृष्टि में सांस्कृतिक अस्मिता का मुद्दा भी सर्वोपरि था। उसमें वैयक्तिकता तो थी, लेकिन वह सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं से जुड़ी थी। जिन लोगों ने छायावाद और विशेष रूप से प्रसाद के काव्य में पलायनवाद देखा था, वे निस्संदेह छायावाद को रूमानी कविता तक सीमित करके देखने वाले लोग थे। उनकी नजर में छायावादी कविता वायवी है और छायावादी कवि इस लोक से परे किसी और लोक में जाने का अभिलाषी है जहां द्वंद्व और संघर्ष न हों। रमेश कुंतल मेघ ने तो अपनी पुस्तक 'मिथक और स्वप्न : कामायनी की मनस्सौंदर्य सामाजिक भूमिका' के समर्पण में ही कामायनी को एक 'असफल' कृति घोषित कर दिया था। इस तरह की नकारात्मक सोच से सत्समालोचना संभव नहीं है। यही काम डॉ. देवराज ने भी किया था- अपनी किताब 'छायावाद का पतन' के द्वारा।

वैयक्तिकता, स्वच्छंदता, स्वानुभूति और भावावेग छायावादी कविता के आधार तत्व हैं। गीतात्मकता उसकी मुख्य प्रवृत्ति है। लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता और उपचारवक्रता छायावादी काव्य की शैलीगत विशेषताएं हैं। छायावाद के मशहूर आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने इसे 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' कहा था। यह बात पूरी तरह सही है कि छायावादी कविता द्विवेदी युगीन कविता की तरह बाह्यार्थमूलक नहीं है। उसमें वस्तु के आभ्यंतरिक सौंदर्य को उद्घाटित किया गया है। इसीलिए आभ्यंतरिक सौंदर्य की कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण उसमें सूक्ष्मता आ गई है। छायावाद के प्रारंभिक व्याख्याता मुकुटधर पांडेय ने छायावाद की इस विलक्षण अभिव्यक्ति को छायावादी कवियों की 'अंतरंग दृष्टि' कहा, जिसमें 'चित्रवस्तु की आत्मा का दृश्य उतारा जाता है।' अतः डॉ. नगेन्द्र का उक्त कथन पूरी तरह सही नहीं है। स्थूल के प्रति



सूक्ष्म का विद्रोह कहीं न कहीं अभिव्यंजना प्रणाली से जुड़ा हुआ है, जबकि छायावाद केवल अभिव्यंजना प्रणाली नहीं है, जैसा कि शुक्लजी ने कहा। उन्होंने छायावाद को अभिव्यंजना प्रणाली तक सीमित रखा। इस तरह उन्होंने उसके वस्तु पक्ष की उपेक्षा की। शुक्लजी की स्पष्ट राय थी कि छायावाद में अभिव्यंजना प्रणाली का अद्भुत विकास हुआ है। डॉ. नगेन्द्र कहीं न कहीं शुक्ल जी की इस धारणा का समर्थन करते नजर आते हैं। निस्संदेह छायावादी कविता का शिल्प विधान विलक्षण है, लेकिन इससे परे उसका वस्तु पक्ष भी कम विलक्षण नहीं है। छायावादी कविता अपने समय के सामाजिक-सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भों से जुड़ी हुई है। उसमें छायावादी कवियों की एक खास दृष्टि भी शामिल है। इसीलिए मुक्तिबोध ने लिखा था कि प्रसाद के आगे उनके अपने आज की दुनिया थी। यह बात सभी छायावादी कवियों पर लागू होती है।

छायावादी कवियों ने महावीर प्रसाद द्विवेदी की तरह कविता को उपयोगितावादी दृष्टि से नहीं देखा। उनकी दृष्टि कहीं न कहीं अस्मितामूलक और भविष्योन्मुखी है; यह अलग बात है कि वह भावमूलक होने के कारण आदर्शवादी भी है। उस समय की आवश्यकता को देखते हुए यह गलत भी नहीं है। उस दौर में रचनारत प्रेमचंद स्वयं आदर्शवाद की ओर झुके हुए थे लेकिन छायावाद में प्रगतिशील तत्व कम नहीं है। भाववाद के आवरण में छायावादी कवियों ने अपने समय के यथार्थ को प्रस्तुत किया है। कम से कम निराला तो उस समय के सबसे बड़े यथार्थवादी कवि हैं। यथार्थ को वेदना से जोड़कर लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात को यथार्थवाद मानने वाले जयशंकर प्रसाद का भी काव्य वायवी और समाजनिरपेक्ष नहीं है। और महादेवी वर्मा का स्त्री जाति का संघर्ष भी तो यथार्थपरक है। छायावाद के इन प्रगतिशील तत्वों का उद्घाटन छायावाद युग तक नहीं हो पाया था, क्योंकि उस दौर के आलोचक छायावाद में रहस्यवाद, आध्यात्मिकता, निराशा और कुंठा ढूंढने में लगे हुए थे। यहां तक कि छायावादी कविता को अंग्रेजी और बांग्ला साहित्य का अनुकरण मान लिया गया था। इसके बारे में निराला ने लिखते हुए विरुद्धों के सामंजस्य की बात कही थी। उनकी स्पष्ट धारणा थी कि विजातीय भावों के सामंजस्य से कविता समृद्ध होती है। किसी भी कविता के भावों को प्रीत होकर ग्रहण करना चाहिए, प्रभावित होकर नहीं।

सबसे पहले 1920 ई. में छायावाद की विस्तृत आलोचना करने वाले छायावादी कवि मुकुटधर पांडेय ने छायावाद को मायामय सूक्ष्म वस्तुतः कहकर उसके स्वरूप निर्धारण की कोशिश तो की, लेकिन उन्होंने जाने-अनजाने उसके मिस्टिसिज्म छायावादी कविता के विवेचन की दिशा ही बदल दी। फिर क्या, छायावाद में रहस्यवाद ढूंढने की होड़ मच गई। छायावादी दौर के सभी कवि और आलोचक ही नहीं, बल्कि बाद के आलोचक भी छायावाद पर विचार करते समय रहस्यवाद पर बात करना नहीं भूले। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तो रहस्यवाद पर एक लंबा निबंध ही लिख दिया। वास्तव में छायावाद रहस्यवाद से जोड़ने वाले आलोचकों ने छायावादी कविताओं को रहस्यवादी घोषित करके उन्हें उनके वर्तमान संदर्भों और सरोकारों

से काटने का प्रयास किया। छायावादी कविताओं में कहीं-कहीं आध्यात्मिकता दिखाई देती है और कुछ कविताओं में रहस्य का आभास भी होता है, किंतु इतने मात्र से छायावादी काव्य रहस्यवादी नहीं हो जाता। निराला ने स्पष्ट-रूप से लिखा था कि रहस्य तभी तक रहस्य रहता है जब तक वह समझ में नहीं आता। कबीर की कविताओं में दिखाई देने वाला रहस्य कबीर के लिए रहस्य नहीं था, बल्कि साधारण सत्य था। फिर भी छायावाद में अगर कहीं रहस्य का पुट है भी तो वह कबीर आदि रहस्यवादी कवियों से सर्वथा भिन्न है। वास्तव में छायावाद में दिखाई देने वाला रहस्य आधुनिक व्यक्ति और समाज के बीच द्वंद का परिणाम है। इसे पारंपरिक रहस्य या ईसाई संतों और कवियों के रहस्यवाद से जोड़ना ठीक नहीं है। जहां तक मध्यकालीन संतों के रहस्य का सवाल है तो वह निवृत्तिमूलक है, जबकि छायावादी कवियों की दृष्टि प्रवृत्तिमूलक है। छायावादी काव्य इहलौकिक काव्य है और उसमें व्यक्त भाव और विचार छायावादी कवियों की नवजागरणकालीन चेतना संवलित हैं। यहां सतत संघर्ष विफलता/कोलाहल का राज है। अंधकार में दौड़ मच रही/मतवाला यह सब समाज है। 'अथवा' देश की दुर्दशा निहारोगे? डूबते को कभी उबारोगे? सो रहे तुम न भाग्य सोता है/आप बिगड़ी तुम्हीं संवारोगे।' (जयशंकर प्रसाद) 'देशकाल के शर से बिंधकर/ यह जागा कवि अशेष छविधर' (निराला) और 'तोड़ तो यह क्षितिज मैं भी देख लूं उस ओर क्या है' जैसी पंक्तियां लिखने वाले कवि रहस्यवादी, पलायनवादी, पश्चगामी और देश-काल-निरपेक्ष नहीं हो सकते।

मुकुटधर पांडेय ने लिखा था- छायावाद का क्रीड़ांगन आध्यात्मिक है और नन्द दुलारे वाजपेयी ने कहा था कि मेरी दृष्टि में आध्यात्मिक छाया का भान छायावाद की सर्वमान्य परिभाषा हो सकती है लेकिन आध्यात्मिकता धार्मिकता नहीं होती। आध्यात्मिकता तो भारतीय कविता का एक अंग रहा है। उल्लेखनीय है कि छायावाद में पहली बार साहित्य को धर्म से अलग किया गया। प्रसाद ने देव जाति के मनु और गंधर्व जाति की श्रद्धा के संयोग से देव जाति का नहीं, बल्कि मानव जाति और उसकी संस्कृति का समारंभ करवाया। यह सही है कि छायावादी कवियों ने पौराणिक विषयों को लेकर कविताएं लिखीं, किंतु उनका उपचार पौराणिक दृष्टि से नहीं किया। उन्होंने उन्हें आधुनिक संदर्भों में देखा। पौराणिक या ऐतिहासिक विषयों का पुनर्सृजन करते समय जब तक उन्हें आधुनिक समस्याओं से नहीं जोड़ा जाता तब तक उनका कोई मूल्य नहीं होता है। छायावाद की पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों से संबंधित कविताओं को इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। उन कविताओं में कामायनी, अशोक की चिंता, महाराणा का महत्व, पेशोला की प्रतिध्वनि (प्रसाद), तुलसीदास, राम की शक्तिपूजा, दिल्ली (निराला), और परिवर्तन (पंत) महत्वपूर्ण हैं। वास्तव में ये कविताएं दुःख द्वंद और संघर्ष संकुल जीवन में सतत संघर्ष की कविताएं हैं। समरसता का दर्शन यानी भेद में अभेद की सृष्टि क्या आधुनिक युग के अनुकूल नहीं है?

छायावादी काव्य प्रायः सभी समीक्षकों के लिए एक चुनौती का विषय रहा है। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी के अन्त तक छायावाद पर विचार-विमर्श होता रहा। मार्क्सवादी

आलोचक रामविलास शर्मा और नामवर सिंह ने छायावादी कविता का अच्छा विश्लेषण किया है, जबकि कवि-आलोचक मुक्तिबोध कामायनी का विश्लेषण करते समय कुछ ज्यादा ही सैद्धांतिक हो गए और उन्होंने स्वयं प्रसाद को ही मनु के वर्ग में ला खड़ा किया। किसी पुराने टेक्स्ट को नई विचारधारा की कसौटी पर परखने का यही परिणाम होता है। रमेश कुंतल मेघ तो कामायनी को लेकर पूर्वाग्रहग्रस्त थे ही। रमेश कुंतल मेघ और देवराज जैसे आलोचकों की छायावाद विरोधी आलोचनाओं से न तो छायावादी काव्य का महत्व कम हुआ और न ही उसकी प्रासंगिकता समाप्त हुई। छायावादी काव्य के छायावादेतर आलोचकों में रामस्वरूप चतुर्वेदी की आलोचना में न तो व्यापकता है और न ही गहराई। इसके बावजूद छायावादी काव्य की आलोचना में उसका महत्व है। रमेशचंद्र शाह की आलोचना एकांगी है उसमें छायावादी काव्य का वस्तुसत्य उद्घाटित नहीं हो पाया है। वास्तव में छायावादी काव्य से संबंधित कई आलोचकों की आलोचनाओं में छायावाद का खंड सत्य ही उद्घाटित हो सका है। इसी तरह छायावाद के मनोविश्लेषणवादी आलोचकों ने छायावादी काव्य का विश्लेषण फ्रायडीय मनोविज्ञान के आधार पर किया। साहित्य एवं कला विषयक उनकी अवधारणाएं तब अतिवाद का शिकार हो गईं जब वे मानव के संपूर्ण क्रिया-व्यापार को 'काम' और 'स्वप्नो' से चालित देखने लगे। इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय और प्रभाकर माचवे की आलोचनाएं इसी प्रकार की हैं। प्रभाकर माचवे ने तो यह संभावना व्यक्त की कि छायावादी काव्य में छायावादी कवियों की मौन-वृत्तियों का भी प्रकाशन हुआ होगा। (संतुलन, पृ. 90) इस तरह की धारणाओं का ही परिणाम था कि वे काम-कुंठा और स्वप्न की गुत्थियां सुलझाने में ही लगे रहे जिससे छायावादी काव्य के व्यापक परिदृश्य पर उनका ध्यान नहीं गया।

छायावाद को भावराज्य की वस्तु कहने वाले मुकुटधर पांडेय ने छायावाद में 'विचित्र प्रकाशन-रीति' भी देखा था, जिसका कारण उन्होंने छायावादी कवियों की 'अंतरंग दृष्टि' को माना था किंतु उसमें उन्होंने अस्पष्ट, अर्थ की असंबद्धता और रहस्य की बात कहकर कई भ्रांतियां भी पैदा की। छायावाद के आरंभिक दौर में छायावाद-विरोधी असंगत और नकारात्मक आलोचनाओं का विरोध करते हुए स्वयं छायावादी कवि आलोचना-कर्म में प्रवृत्त हुए। निस्संदेह उनकी आलोचनाएं उतनी प्रौढ़ नहीं हैं फिर भी उन्होंने अपने समकालीन आलोचकों को रास्ता दिखाते हुए आलोचना के स्तर को ऊंचा उठा दिया। छायावाद-विरोधी आलोचकों की अविवेकपूर्ण और सतही आलोचनाओं को देखते हुए निराला ने हिंदी आलोचकों को 'परले दर्जे का उजबक' कहा। उन्होंने आलोचनाओं का जवाब आलोचना से और पैराडियों का जवाब पैरोडी से दिया। निस्संदेह छायावाद को प्रारंभिक आलोचकों ने गंभीरता से नहीं लिया। वे उन पर कीचड़ उछालते रहे। ज्वाला राम नागर 'विलक्षण' ने तो छायावाद के विरुद्ध 'प्रकाशवाद' की स्थापना कर डाली और डॉ. हेमचंद्र जोशी को इस बात का दुःख था कि 'अतिनूतनवाद' (New Modernism) में हमारे साहित्य का दिवाला हो रहा है और इस जमाने में पाठकों के सामने सड़ा-गंदा साहित्य उछाला जा रहा है। यही नहीं, धुरंधर पत्रकार बनारसीदास चतुर्वेदी

ने भी 'साहित्यिक सन्निपात' (दैनिक लोकमान्य, 17 अक्टूबर, 1932) शीर्षक से एक खंडनात्मक लेख लिखा।

छायावाद की बहुत सी आलोचनाएं खंडनात्मक और आत्मवादी हैं। शुक्लजी ने रसवादी दृष्टि से छायावाद का मूल्यांकन किया। अनेक जगह उनकी आलोचना निर्णयात्मक हो गई। जैसे भी शुक्लजी निर्णय देने के मामले में मशहूर रहे हैं। कबीर, केशव, घनानंद से लेकर छायावादी कवियों तक उन्होंने सबके बार में निर्णय दिया है। शुक्लानुवर्ती आलोचकों-विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पांडेय 'शिलीमुख', जानकीवल्लभ शास्त्री, रामकुमार वर्मा आदि ने काव्य शास्त्रीय ढंग की आलोचना की। महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदर दास, गुलाबराय प्रभृत आलोचकों ने छायावाद में रसवाद, उपयोगितावाद, नीतिवाद, सुधारवाद और आदर्शवाद जैसे तत्वों की तलाश की। शुक्लजी ने तो रसवाद के साथ-साथ कलावाद और अभिव्यंजनावाद के आधार पर छायावाद का विश्लेषण किया।

छायावाद संबंधी बहुत सारी आलोचनाएं आत्मप्रधान या प्रभाववादी हैं। इस प्रकार की आलोचना में समीक्षक गृहीत प्रभाव का बौद्धिक विश्लेषण न करके उसकी भावपरक काव्यात्मक व्याख्या करता है। इस तरह के आलोचकों में बौद्धिक विश्लेषण का अभाव और भावावेग की अधिकता होती है। छायावादी कविता के समर्थक आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि की आलोचनाएं आत्म प्रधान अथवा प्रभाववादी हैं। वाजपेयी की 'जयशंकर प्रसाद', नगेन्द्र की 'सुमित्रानंदन पंत' और शांतिप्रिय द्विवेदी की 'ज्योति विहंग' व्यक्तिमुखी, प्रभाववादी आलोचना की पुस्तकें हैं। इन आलोचनाओं से हिंदी आलोचना का विकास तो हुआ और उनसे एक नई दिशा भी मिली, लेकिन इनसे छायावादी काव्यों का सम्यक् विश्लेषण नहीं हो सका। इस तरह के आलोचक भावुकता और अनुभूति को काव्य का मूल विषय मानते थे इसीलिए उन्होंने काव्यगत संवेदनों और अर्थ-छवियों का वैयक्तिक अभिरुचि के आधार पर उद्घाटन किया।

वास्तव में छायावादी काव्य की तर्कसंगत और व्यावहारिक आलोचना मार्क्सवादी आलोचकों ने की। उन्होंने सामाजिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में छायावाद का मूल्यांकन किया। रामविलास शर्मा ने 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं' में लिखा कि 'साहित्य का पौधा चूँकि हमारे सामाजिक जीवन की धरती पर ही उगता है, अतः साहित्य का इतिहास सामाजिक इतिहास से अलग न होकर उसका एक अंग होता है।' (पृ. 6) छायावादी कविता के मार्क्सवादी आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, नामवर सिंह आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शिवदान सिंह चौहान ने यह महसूस किया कि सब कुछ के बावजूद छायावाद में निराशा का स्वर है। 'यद्यपि छायावादी कवियों की वाणी में शोषण-उत्पीड़न, रूढ़ि-रीति और सामाजिक बंधनों के प्रति गहरा आक्रोश है, किंतु कहीं-कहीं उनकी उदात्त भावना, करुणा, सहानुभूति जो विश्व मानवतावाद की ओर अग्रसर होती है, समाजद्रोही भावनाओं से तिमिराच्छन्न, हो जाती है, फलस्वरूप उनमें नैराश्य की भावना भी दिखाई देने

लगती है।' (हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृ. 90) जबकि छायावादी काव्य में दिखाई देने वाली निराशा को नामवर सिंह ने तत्कालीन राजनैतिक आंदोलनों की विफलता माना है। 1920 से लेकर 1935 तक के असहयोग आंदोलनों में भारत को सफलता नहीं मिली थी, जिससे देशवासियों में निराशा का भाव व्याप्त था। उसका असर छायावादी कविता पर पड़ना स्वाभाविक है। शिवदान सिंह चौहान ने भी लिखा- 'छायावाद में व्यक्ति हृदय या व्यक्ति चेतना समाज-हृदय और समाज-चेतना से भी एकात्म थी। इसलिए प्रारंभिक छायावादी कविता का रुदन-क्रंदन, व्यक्तिगत रुदन-क्रंदन के साथ-साथ रूढिबद्ध पराधीन और संघर्षशील भारतीय समाज का ही रुदन-क्रंदन था। कवि का 'मैं' प्रत्येक प्रबुद्ध भारतवासी का 'मैं' था।' (वही, पृ. 86) छायावादी कविता के बारे में यह बिल्कुल नई बात थी। यानी शिवदान सिंह चौहान ने यह स्वीकार किया कि छायावादी कवियों का सुख-दुःख पूरे देश का सुख-दुःख था। यह आचार्य रामचंद्र शुक्ल से बिल्कुल भिन्न धारणा है। शुक्लजी ने लिखा था कि छायावादी कवियों के मन में अपने समय और समाज की हलचलों को लेकर कोई आंधी-तूफान नहीं उठ रहा था। वास्तव में छायावादी काव्य सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का विराट रूप है। वह व्यक्ति और समाज की आशाओं-आकांक्षाओं से जुड़ी काव्यधारा है।

रामविलास शर्मा की दृष्टि में 'छायावाद साम्राज्य विरोधी चेतना के निखार का साहित्य है।' शर्माजी ने तो मुक्तिबोध के उस मत का भी खंडन किया जिसमें उन्होंने कामायनी को हासग्रस्त पूंजीवाद, जर्जर सामंतवाद और हिंसक साम्राज्यवाद का प्रतिनिधि माना था। जो लोग छायावादी कवियों को पलायनवादी मानते हुए उनके प्रेम वे वायवी कहते थे, उनके बारे में शर्माजी लिखा था कि उनके प्रेम का जन्म इन्हीं लड़ाई-झगड़ों में होता है। वस्तुतः छायावादी काव्य अपने समय की हलचलों से जुड़ा हुआ है। 'वह स्वाधीनता आंदोलन के साथ चलने वाली सामाजिक क्रांति से प्रभावित है।' (निराला की साहित्य साधना, खंड-2, पृ. 558) छायावाद की जड़ें सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में हैं। शर्माजी की दृष्टि में तुलसीदास और सूरदास के युग के बाद प्रसाद-निराला-पंत का युग सबसे रचनात्मक, सबसे प्रगतिशील युग है। (वही, पृ. 571) वास्तव में 'छायावाद नए सामंत-विरोधी मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा का साहित्य है। जाति प्रथा और सांप्रदायिक विद्वेष से विभाजित समाज में वह मानवीय एकता की पुकार का साहित्य है। (वही, पृ. 574) दूसरी तरफ नामवर सिंह ने भी स्वीकार किया है कि 'बुद्धिजीवी मध्यवर्ग के नेतृत्व में भारतीय जनता ने अपनी राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता के लिए जो संघर्ष किया उसके कई पहलुओं को छायावाद ने सचाई के साथ प्रतिबिंबित किया और यथाशक्ति उसे आगे बढ़ाने में भी योग दिया। (छायावाद, पृ. 69) नामवर सिंह की दृष्टि में छायावादी कवियों के लिए अतीत प्रेरणास्रोत था। उनकी प्रेमभावना का प्रसार व्यक्तिगत स्वाधीनता, प्रकृति प्रेम और देश प्रेम से होता हुआ विश्वप्रेम या विश्व मानवतावाद की विराट भावना तक हुआ। यह प्रेम बहुत उदात्त और भावप्रवण है। (वही, पृ. 75) नामवर सिंह ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि छायावादी कविता लोकतत्वों से युक्त थी। छायावाद सांस्कृतिक जागरण का

परिणाम था और उसने आगे चलकर स्वाधीनता आंदोलन का साथ दिया।(वही, पृ. 109) उन्होंने उसकी आलोचना भी कि उसमें कल्पनाशीलता का आधिक्य था और छायावाद काव्य न रहकर अलंकृत संगीत बन गया।

वस्तुतः नामवर सिंह ने छायावाद की आलोचना ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य मंथ की है। इस तरह की वस्तुवादी दृष्टि दूसरे अन्य मार्क्सवादी आलोचकों में भी है, किंतु छायावाद की जो समझ रामविलास शर्मा और नामवर सिंह के यहां दिखाई देती है, वह दूसरों के यहां नहीं है। नामवर सिंह ने 'इतिहास और आलोचना' नामक पुस्तक में कई महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया है जिसमें यह भी महत्वपूर्ण है कि प्रसाद ने शुक्लजी के इस भ्रम का उच्छेद किया कि छायावाद कलावाद से प्रभावित है। प्रसाद के यहां भारतीयता का आग्रह सर्वाधिक है। उन्होंने अपने यहां की चौंसठ कलाओं का जिक्र करते हुए कहा कि हमारे यहां काव्य को कभी चौंसठ कलाओं में लिया ही नहीं गया। उन्होंने कलावाद का समर्थन न करते हुए स्पष्ट किया कि 'रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी।' (पृ. 94) तात्पर्य यह है कि जिस तरह नामवर सिंह ने या रामविलास शर्मा ने छायावाद के वस्तुसत्त्वी को उद्घाटित किया उस तरह से प्रायः दूसरे आलोचकों ने नहीं किया। छायावाद की प्रारंभिक आलोचनाओं में उसकी प्रासंगिकता को ही प्रश्नांकित किया गया। हम सभी इस तथ्य से परिचित हैं कि ऐसी आलोचनाएं पता नहीं कहां गुम हो गईं और छायावाद आगे बढ़ गया।

और अंत में एक छोटी-सी बात का उल्लेख करना जरूरी है। वह यह कि प्रायः सभी आलोचकों ने छायावाद का मूल्यांकन छायावादी काव्य के आधार पर किया है। इसलिए वे एकांगी हैं। छायावादी कवियों ने अपनी गद्य रचनाओं में बहुत कुछ ठोस और यथार्थपरक लिखा है। अगर छायावादी काव्य और गद्य को एक साथ मिलाकर देखा गया होता तो छायावादी कविता के बारे में जो भ्रम फैलाए गए, उससे वह मुक्त होता। छायावाद के बाद के आलोचकों ने समझा कि महादेवी वर्मा के गीतों की व्याख्या उनके संस्मरणों और रेखाचित्रों के बिना अधूरी रहेगी अन्य था रामचंद्र शुक्ल ने तो उन्हें सच्चा रहस्यवादी घोषित कर दिया था।



## आलोचना का वर्तमान

ए. अरविंदाक्षन

मनुष्य द्वारा परिकल्पित एवं संचालित सभी प्रकार की सामाजिक-संस्थाओं के लिए आलोचना अनिवार्य घटक है। आलोचनाविहीन समाज टिक तो सकता है, पर अपनी स्वनिर्मित अराजक स्थिति में। ऐसा समाज विकास की यूटोपिया ही सृजित कर सकता है, वास्तविक विकास नहीं। आजकल हमारा समाज भी यूटोपिया के वृहदाकार रंगमंच बनाने के श्रमसाध्य कार्य में संलग्न है। उसके लिए देशी तथा विदेशी प्रायोजकों की मदद भी मिल रही है। ऐसे एक प्रायोजित समाज में आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें मानवीयता के लिए भी कोई स्थान नहीं है। समाज-कल्याण के सभी क्षेत्रों को मुनाफे की तुला पर तौलते हुए आज के औपनिवेशिक समाज ने समाज-कल्याण, सामाजिक विकास, समत्व की भावना, मानवीय चिंता और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की परिभाषा भी बदल दी है। औपनिवेशिक समाज के लिए जनतंत्र अपचनीय अवधारणा है और सामाजिक प्रतिबद्धता एक कल्पित कथा है। व्यक्ति का स्वत्व व समाज का स्वत्व उसके लिए मन गढंत परिकल्पनाएं हैं। ऐसी एक कवचित व्यवस्था में विकेंद्रीकरण के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती है, विचारों के बहुलार्थी संदर्भ तमस्कृत होते हैं और आलोचनात्मक दृष्टि का अस्तित्व भी मिट जाता है।

आलोचनाविहीन समाज की संस्कृति सामाजिकता के समग्र परिवर्तन के पक्ष में रूपायित नहीं होना चाहती है। वह एक बंद समाज को ही सृजित करना चाहती है इसलिए कृत्रिम समाज द्वारा सृजित संस्कृति की कृत्रिमता को संस्कृति शब्द से जोड़कर देखना भी अपराध है। सामाजिक सक्रियता और भागीदारी से, वैचारिक आदान-प्रदान से, श्रम के महत्व की स्वीकृति से, मानवीयता से अभिभूत सौंदर्य बोध से भी जो संस्कृति बनी थी उसी ने समय-समय पर हमें मनुष्य की महत्ता का, उसके आत्मसंघर्ष का पाठ पढ़ाया था। वह हमारी विवेकशीलता का परिणाम था। उस विवेक में आलोचना की भी उपस्थिति रहती है। इस कारण से ही मुक्तिबोध ने लिखा- 'साहित्य-विवेक मूलतः जीवन विवेक होता है।'

अपनी सूक्ष्मतम संवेदनात्मक अभिरुचियों के माध्यम से आलोचना हमारी संस्कृति में हस्तक्षेप करती है। वस्तुतः यह समाज और संस्कृति की अनिवार्यता है। इस संदर्भ में ही हम

आलोचना के भूगोल को अति विस्तृत समझते हैं। आलोचना मात्र साहित्य के अवलंब के सहारे खड़ी नहीं होती। वह हमारी सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रबुद्धता की कारक शक्ति है जिसके अभाव में मनुष्य की बुनियादी दृष्टि हासोन्मुख होती है। कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक आदि हमारी संवेदनात्मक प्रतिरोधी-दृष्टि के प्रतीक-चिह्न हैं तो आलोचना हमारी सांस्कृतिक प्रतिरोधी-दृष्टि की वाहिका है। जब-जब समाज में इस सघन ऊर्जा की कमी हुई है तब-तब वह जड़वत् भी हुआ है। समाज तथा संस्कृति को जनतांत्रिक मेधा से गतिशील बनाने के लिए आलोचना की सख्त जरूरत है।

जड़ समाज में आलोचना सख्त नहीं समझी जाती। दुर्मुँहेपन की क्लीब संस्कृति ही जड़ समाज में पनप सकती है। इसका भरपूर संकेत मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में दिया है। आलोचना-विहीन सामाजिकता मनुष्यविहीन वैचारिकताओं को जन्म देती है लेकिन यह कार्य यांत्रिक प्रजनन तक सीमित नहीं है। मनुष्यविहीन वैचारिकताओं द्वारा प्रायोजित यथार्थ की असंख्य रंगस्थलियां हमारे प्रेक्षकों को निरंतर अभिभूत करती हैं। उसका असहज सौंदर्य इतना प्रलोभनकारी है कि उसे हमारी तत्कालीन समयदैर्य यथार्थ मान बैठता है। यही जड़ीभूत नागरिकबोध है जो आज पर्याप्त शक्तिशाली है और उसके आगे सही नागरिकबोध अपनी पहचान बना लेने के लिए संघर्षरत है।

उपरोक्त अवस्था और उसकी व्यवस्था के व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही हिंदी आलोचना के वर्तमान पर विचार किया जाना चाहिए। सामान्य दृष्टि से देखें तो ऐसा प्रतीत होगा कि वर्तमान समय में हिंदी आलोचना समृद्ध है। इसका मुख्य कारण बहुसंख्यक पत्रिकाओं की भूमिका है। इसे सामान्यतः प्रतिप्रद ही कहा जा सकता है लेकिन इनमें अकादमिक आलोचनाएं भी मिलती हैं जो संख्या में कम नहीं हैं। अकादमिक आलोचना पाठक समाज को सूचित करती है। यह पाठक समाज को आंदोलित करती नहीं है। उसकी सांस्कृतिक चेतना को अभिभूत भी नहीं करती इसलिए पत्रिकाओं की भूमिका आलोचना वृद्धि में सहायक होने के बावजूद चिंतनवर्द्धक नहीं कही जा सकती। पुस्तक-समीक्षाएं, अपवादों को छोड़कर, सूचना प्रधान ही हैं। इनसे आलोचना का भविष्य दिशासमृद्ध नहीं हो सकता है। मोटे तौर पर विभिन्न रचनाकारों की विभिन्न विषयों पर (इनमें अलग-अलग विधाएं, एवं विभिन्न रचनाकार शामिल हैं) लिखी गई आलोचनाएं हमारे विश्लेषण के केंद्र में आती हैं। बहुत कम आलोचनात्मक ग्रंथ ऐसे आए हैं जो किसी एक विषय पर केंद्रित हैं। विचारणीय विषय बस यही है कि इन दोनों प्रकार की रचनाओं में उभरकर आती आलोचनात्मक दृष्टि मानवीय संकट को तथा उसके व्यापक परिदृश्य को संस्थित करती है या नहीं। यह सही है कि साहित्यिक रचना केंद्री आलोचनाओं में या रचनाकार केंद्री आलोचनाओं में साहित्य या रचनाकार केंद्र में रहता है परंतु आलोचना ऐसी विधा है या ऐसी दृष्टि-संपन्नता है जिसमें समय का प्रतिपादित होना अनिवार्य हो जाता है। यह सतही प्रतिपादन नहीं है। हमारे समय को दरअसल आलोचना अपने मानक तत्व के रूप में स्वीकार करती है। इसलिए रचना या रचनाकार के बहाने आलोचना समय के अंतरंग में प्रवेश



करती है। वस्तुतः यह प्रवेश पाठक की चित्तदिशा में होता है। इसलिए वह एक संस्कृति-कर्म है। इस तरह अभिरुचियों की नई परंपरा आलोचना सृजित कर पाती है।

इधर आलोचना के सृजनात्मक होने की बहस चली-सृजनात्मक आलोचना। कविता, कहानी या उपन्यास जैसे सृजनात्मक होते हैं जैसे ही आलोचना को भी सृजनात्मक होना है। यह बहस एक गलत धारणा के तहत चल पड़ी है। आलोचना को जब हम व्याख्या-विश्लेषण के रूप में आत्मसात करते हैं तो यह लगता है कि वह सृजनात्मक नहीं है लेकिन यहां पर यह बात रेखांकित करके प्रस्तुत करना पड़ रहा है कि आलोचना निरी व्याख्या नहीं है। आलोचना सबसे पहले समम सापेक्ष सांस्कृतिक दृष्टि है। वह एक वैज्ञानिक दृष्टि भी है। वह इतिहास बोध से ओतप्रोत है। ऐसी प्रवृत्तियों से युक्त आलोचना स्वयंमेव सृजनात्मक होती है। यहां आलोचक मात्र भाष्यकार भी भूमिका में उतरता नहीं है। जो आलोचक पूरे समयदैर्य को अपने चिंतन के लिए स्वीकार करता है तो मानवीय चिंता केंद्र में आती है। यही उसकी सृजनात्मकता है क्योंकि उसमें से एक पारदर्शी दृष्टि हमें मिल जाती है। इसलिए आलोचना पर सृजनात्मकता को आरोपित करने की आवश्यकता नहीं है।

हिंदी आलोचना में दो प्रकार की दृष्टियां प्रचुर हैं। ये भले ही वैषम्य की स्थिति उत्पन्न न करे फिर भी उनमें अतिवादिताएं देखने को मिलती हैं। मानवीय चिंता के अभाव में न साहित्य जीवित रह सकता है न चिंतन। यह साहित्य की निरंतरता और गतिशीलता की आधारशिला है। उसी तरह कलात्मक औचित्य के अभाव में साहित्य रद्दी हो जाता है। इन दोनों का संतुलित समन्वय साहित्य और चिंतन के क्षेत्र में अनिवार्य है। इस भाव भूमि को अतिवादी छोर की ओर ले जाएं तो बहस सतही हो जाती है जबकि सत्य यही है कि कला समाज निरपेक्ष नहीं हो सकती है। जब कोई अभिव्यक्ति सृजनात्मक होती है तो वह कला की श्रेणी में गिनी जाती है। सृजनात्मक होने का अर्थ है कलाबद्ध होना। ऐसे में कला को मात्र कला के लिए समझना या घोषित करना गलत है। समाज के युगदीर्घ इतिहास के समस्त स्पंदनों को आत्मसात करने के बाद कला को समाज के लिए मानना उसे संकुचित बनाना है। अतः अतिवादिताएं हमें कहीं नहीं पहुंचाती हैं।

विषय चाहे मध्यकालीन हो या समकालीन, रचना से या रचनाकार, सामाजिक व्यवस्था को या राजनीतिक उथल-पुथल आलोचना उनके तहों अंतर्तहों में पहुंचने का उपक्रम है। यह यात्रा व्याख्या हेतु नहीं है। आलोचना की यह यात्रा रचना के समांतर की जाने वाली यात्रा है। इसका एक अच्छा उदाहरण है हजारी प्रसाद द्विवेदी की कबीर केंद्रित आलोचना। यह दरअसल द्विवेदी का आविष्कार है। हिंदी आलोचना में इस पुस्तक ने नई परंपरा की शुरुआत की। यह कोई मामूली बात नहीं है। हिंदी चिंतन में 'कबीर' के योगदान पर दर्जनों किताबें लिखी जा सकती हैं। इसी की निरंतरता में जब हम नामवर सिंह द्वारा रचित 'दूसरी परंपरा की खोज' पढ़ते हैं तो आलोचना की सृजनात्मक भूमिका से अभिभूत हो जाते हैं। नामवर सिंह की पुस्तक एक ही समय आलोचना है, जीवनी है, संस्मरण है और वैचारिक द्वंदों का समग्र भी। इसी की

निरंतरता में जब हम पुरुषोत्तम अग्रवाल की पुस्तक 'अकथ कहानी प्रेम की' कबीर की कविता और उनका समय' देखते हैं तो आलोचना की उच्चता का एहसास स्वयंमेव हो जाता है। आलोचक के वक्तव्य से भी यह बात जाहिर हो जाती है- 'कबीर को पढ़ने के लिए उन्हें अजूबा बनाने के प्रलोभनों से मुक्त होना सब से पहले जरूरी है। मध्यकाल में होते हुए भी, अजीब बात है आधुनिक से लगते हैं। 'निरक्षर' होते हुए भी, कबीर, अजीब बात है कि 'ज्ञानीजी' कहे जाते हैं। मुसलमान वंश में जन्म होने पर भी, अजीब बात है कि रामानंद के शिष्य बनते हैं. .. इस तरह की अजब-गजब मार्का बातों के आदि स्रोतों की खोज स्वयं ही रोचक और रोमांचक है। यह खोज भी तभी की जा सकती है जबकि आप देश भाषा स्रोतों पर 'कृपा' करने की बजाय उनसे संवाद करें, किंवदंतियों की अवैज्ञानिकता सिद्ध करने के पराक्रम की बजाय उनका सांस्कृतिक सार और आशय समझने की कोशिश करें। आलोचना की अंतर्गता का परिचय इस वक्तव्य में स्पष्ट होता है।

आलोचना को आपद्धर्म कहा गया है। ऐसी यंत्रणा से आलोचना को गुजरना पड़ता है पर एक गुणी आलोचक उससे मुक्त हो जाता है। इधर समकालीन कविता पर ढेर सारी आलोचनाएं निकली हैं जिनमें से एक का उल्लेख करना चाहूंगा- एक कवि की दूसरी नोट बुक- 'समकालीनता और साहित्य : अपने समय में कविता और गद्य का लेखा जोखा- यह राजेश जोशी की रचना है। उसमें वे कविता को 'बची हुई विश्वसनीय आवाज' के रूप में देखते हैं। वे एक किस्सा सुनाते हैं कि आधी रात के वक्त सड़क के किनारे बैठा अनजान आदमी उनसे माचिस मांगता है और दिए जाने पर उसमें से कुछ तीलियां लेने की अनुमति भी लेता है। बाद में पता चलता है कि यह अनजान आदमी आधी रात के वक्त इस तरह माचिस की तीलियां इकट्ठी करता रहता है। किस्सा बस यहीं तक है। राजेश जोशी की कविता संबंधी दृष्टि इसी किस्से से शुरू होती है- 'कविता बदलाव की प्रक्रिया के लिए इसी तरह अग्नि की समिधा को इकट्ठा करती है। वह भी जब किसी अँधेरे कोने से हमें अचानक आवाज लगाती है तो हम अचकचा से जाते हैं, चौंक जाते हैं, शायद थोड़ा डर भी जाते हैं। हम कई बार उस कविता से बचना भी चाहते हैं जो तीलियों की मांग करती है। जो हमें एहसास कराती है कि हमारे पास एक माचिस है। बहुत सारे कवियों से अलग-अलग तीलियां मांगकर वह कवियों की एक अदृश्य-सी बिरादरी बनाती है।' आज यह बिरादरी अदृश्य नहीं है बल्कि दृश्यवत् है और उनका आलोचनात्मक विवेक हमें कविता के बहाने अपनी कठिन समय से रूबरू कराता है। यह समय-साक्षात्कार आलोचना का औचित्य है। कई उदाहरण इस औचित्य को दिखा रहे हैं, जैसे- केदारनाथ सिंह की 'कब्रिस्तान में पंचायत', अरुण कमल की 'गोलमेज', अनामिका की 'पानी जो पत्थर पीता है', लीलाधर मंडलोई की 'कविता का तिर्यक', एकांत श्रीवास्तव की 'कविता का आत्मपक्ष' आदि आलोचनाएं सामान्य आलोचनात्मक फ्रेमवर्क का तिरस्कार करती हैं और हिंदी आलोचना के वर्तमान को पुख्ता बनाती हैं।

मुक्तिबोध ने अपने 'समीक्षा की समस्याएं' शीर्षक लंबे लेख में लिखा है- 'संक्षेप में, मैं

सौंदर्यानुभूति की भावार्द्र दशा में प्राप्त संपूर्ण अनुभवात्मक अंतर्जगत की तेजास्क्रिय संपन्नता की कलात्मक अभिव्यक्ति के पक्ष में हूं। तभी आत्मपरक ईमानदारी और वस्तुपरक सत्यपरायणता (शब्द पुराना है, नए लोग क्षमा करेंगे) प्राप्त हो सकेगी।' आत्मपरक ईमानदारी और वस्तुपरक सत्यपरायणता रचना और आलोचना के लिए अनिवार्य है। इन दोनों तत्वों के अभाव में सबसे पहले समाज जड़ हो जाता है, फिर हमारी विवेकशीलता अवरुद्ध हो जाती है और अभिव्यक्तियां कृत्रिम अल्पनाओं का आभास देती हैं। हमारा आलोचनात्मक विवेक ही इसके लिए विकल्प प्रस्तुत कर सकता है।



# इतिहास की निरंतरता और समय का देशीय संदर्भ

देवेन्द्र चौबे

इशिकावा, टैगोर, योनेजिरो और अज्ञेय ने अपने रचनाकाल में समकालीन इतिहास एवं शब्दों की सत्ता को बनते हुए देखा है। किस तरह औपनिवेशिक, साम्राज्यवादी एवं गैर जनतांत्रिक ताकतें देश के सामाजिक परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं को प्रभावित कर रही थी तथा उनके समानांतर किस तरह जनता लोकतंत्रीय हितों के लिए संघर्ष करते हुए अपना देशीय संदर्भ रच रही थी- इसे इनके लेखन में पहचाना जा सकता है। ये सभी लेखक औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी व्यवस्था एवं उनके द्वारा चलाए जा रहे युद्ध के समानांतर शब्द की सत्ता स्थापित करते हैं। इन लेखकों का साहित्य इतिहास की निरंतरता एवं समय के देशीय संदर्भों को प्रकट करता है।

हाल के दशकों में एशियाई साहित्य और उसके चिंतन की परंपरा में लोगों की दिलचस्पी बढ़ी है। इसका प्रमुख कारण है उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध भारत, जापान, चीन, कोरिया, बर्मा आदि देशों में जो सामाजिक-ऐतिहासिक-राजनीतिक परिवर्तन हुए, उसने पिछली तीन-चार सदियों के इतिहास को बदलकर रख दिया। 1857 में भारतीयों द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी के खिलाफ लड़ा गया पहला मुक्ति-संघर्ष एवं बाद में अंग्रेजी राज द्वारा किए गए निर्माण तथा ध्वंस की स्थितियां, जापान के मेइजी युग में ऐताओं के लिए किए गए सुधारवादी प्रयत्न और बाद के बाहरी देशों के साथ हुए युद्ध एवं विकास, चीन की क्रांति एवं नए चीन के निर्माण आदि ने इस महाद्वीप की तस्वीर को बदल दिया। पिछली सदी के लेखकों और उनकी रचनाओं से यह साफ पता चलता है कि लेखकों ने संघर्ष, युद्ध, विध्वंस, निर्माण आदि की प्रक्रियाओं से गुजर रहे इस महाद्वीप के इतिहास और उसमें उपस्थित मानव समाज के दस्तावेजीकरण का काम किया। खासकर भारतीय और जापानी लेखकों में इशिकावा ताकुबोकु, रवींद्रनाथ टैगोर, नोगुची योनेजिरो, फैज अहमद 'फैज' और अज्ञेय ने अपने साहित्य में मानव समाज के सामने खड़े संकट तथा ध्वंस एवं निर्माण की प्रक्रियाओं को गहराई के साथ विचार और लेखन का विषय बनाया।

उदाहरण के लिए, जापान द्वारा साम्राज्यवादी विस्तार के लिए किए जा रहे युद्ध के संदर्भ में जब इशिकावा कहते हैं कि 'हम सभी को मालूम है/कि पुराना सड़ा-गला;/सब कुछ जल्दी ही नष्ट हो जाएगा/और जीत हमारी ही होगी/देखो, हमारी आंखें किस तरह चमक रही है/और बहस कितनी गरमा उठी है/लेकिन एक भी नहीं है ऐसा आदमी/जो अपनी कसी हुई मुटठी मेज पर मारकर/ऐलान करे आवाम के नाम पर' तो साफ पता चलता है कि जापान के लोग उन दिनों जिस तरह सत्ता एवं संघर्ष के बीच मुक्ति के रास्ते ढूंढ़ रहे थे, उसे किस अदम्य साहस और संघर्ष के साथ कवि दुनिया का हिस्सा बनाता है। पर, इशिकावा को इस बात का अहसास है कि समाज में स्वतंत्रता और लोकतंत्र के लिए संघर्ष करना कितना कठिन है। इसीलिए, वह कहते भी हैं कि लेकिन एक भी नहीं है ऐसा आदमी/ जो अपनी कसी हुई मुटठी मेज पर मारकर/ऐलान करे आवाम के नाम पर। यानी कि संघर्ष सिर्फ बाहरी ही नहीं होता है, एक संघर्ष देश के भीतर भी होता है। एक ऐसे मोर्चे पर, ताकि आप भाग न सकें! इस तरह के योद्धा कम ही होते हैं। कारण, यह संघर्ष जिन जटिल सामाजिक संरचनाओं एवं उसकी गतिशील आंतरिक चेतना के कारण होता है। उसमें किसान एवं श्रमिक जैसे उत्पादक समाज की गहरी भूमिका होती है।

अज्ञेय ने 'स्मृति और देश' में लिखा है कि यह दोहराने की आवश्यकता न होनी चाहिए कि सूक्ष्म अथवा आभ्यंतर देश की रचना के साथ हमारा जो संबंध है वह हमारे स्थूल परिदृश्य को भी अनिर्वायतः प्रभावित करता है क्योंकि देश की जिस संरचना के केंद्र में हमारी चेतना होती है उसके सूक्ष्म और स्थूल रूपों में निरंतर संवाद और संप्रवाह बना रहता है। सांस्कृतिक अथवा पौराणिक देश के लिए युद्ध लड़े जाते हैं बल्कि युद्ध अधिकतर उसी के लिए लड़े जाते हैं और उसी से युयुत्सा भी प्रेरणा पाती है : स्थूल भू-विस्तार तो एक निर्मित बना जाता है। स्पष्टतः अज्ञेय जिस युद्ध के बारे में संकेत कर रहे हैं उससे साफ पता चलता है कि युद्ध सिर्फ जमीन के विस्तार के लिए नहीं, अपितु एक जाति दूसरी जाति पर अपनी वर्चस्व की संस्कृति को थोपने के लिए भी करती है। यह संस्कृति की राजनीति भी है जिसे आम जनता कभी समझ नहीं पाती है। कहा जा सकता है कि युद्ध की बर्बरता ने इसी प्रकार अनेक संस्कृतियों को नष्ट किया है। हिरोशिमा कविता में उन्होंने लिखा भी है कि मानव का रचा हुआ सूरज/मानव को भाप बनाकर सोख गया। पत्थर पर लिखी हुई यह/जली हुई छाया/मानव की साखी है। अर्थात्, मानव की बर्बरता से बड़ी किसी दूसरी बर्बरता की कल्पना अकल्पनीय है।

फैज अहमद 'फैज' ने साहित्य, राष्ट्र और इतिहास के रिश्ते को समझते हुए लिखा है कि पाकिस्तान और एशिया के दूसरे इलाकों में/और अफ्रीका जहां गुजरा वक्त है आज का वक्त/और वो माजी-वो अतीत/जिसे आदमी ने न इतिहास ने याद रखा/जब न था कोई वक्त/या बस लावक्त/उस मौत की नगरी का/और अनाम संतों की मजारों का/जिनके तार-तार पैकरों के तले/न जुटता कोई किसी संघर्ष के लिए। स्पष्टतः इन पंक्तियों के जरिए फैज ने किसी भी देश का इंसानियत के साथ जो गहरा रिश्ता होता है, उसे समझने की कोशिश की है। इसी

कविता में वह आगे जो लिखते हैं उसे देखकर कहा जा सकता है कि साहित्य सिर्फ शब्दों का समुच्चय नहीं होता है, बल्कि उसमें संकलित एवं रचे गए शब्दों का एक ऐतिहासिक तथा देशीय संदर्भ भी होता है: या एशिया के नए आजाद देशों में/या अफ्रीका में/है नन्हीं सी पताका विद्रोह की/डर, भूख, पीड़ा/और चाहत/और इंसानी दिल की/मौत के खिलाफ अर्थात् कहा जा सकता है कि लेखक की यह वही चेतना है जो उसे एक वृहत्तर समाज, विचार एवं देशीय सीमाओं से परे बाहर की परिधि से भी जोड़ता है।

यद्यपि नोगुची योनेजिरो की युद्ध के समर्थन के कारण काफी आलोचना हुई है, पर जिस बात की तरफ युवा लेखिका तोमोको किकुची ने अपने लेख 'नोगुची योनेजिरो : दोहरी नागरिकता का दर्द' में संकेत किया है, वह एक महत्वपूर्ण संदर्भ है जो किसी भी लेखक को उसके देशीय समय और संदर्भों में रखकर देखने एवं परखने की मांग करता है। 'पुराना बाग' कविता में युद्ध के जिस ध्वंसात्मक रूपों की तरफ वह संकेत करते हैं, वह लेखक की वही चेतना है जो उसे मानव समाज का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बनाती है। देखें, उजड़ चुका है, यह वही है? 'लगता तो नहीं'/'...प्यार सब, फूल भी, जो भी, /खूबसूरत था/बाजार में दफनाया गया, बसंत भी चला गया/और पुराने बाग में चांद भी डूब गया।..... साकुरा की पंखुड़ियां/घूमती रही और मैं रोता रहा।

दरअसल, दुनिया भर में साहित्य ने जो सबसे बड़ा काम किया, वह यह था कि इतिहास और जीवन से प्राप्त अनुभवों के आधार पर लोकतांत्रिक मूल्यों का विस्तार किया तथा उसके मार्ग में आनेवाली बाधाओं की आलोचना की। रचना की व्याख्या में आलोचना की भी यह एक बड़ी भूमिका होती है कि वह मूल्यांकन की प्रक्रिया में लोकतांत्रिक मूल्यों का विस्तार करते हुए उसे वृहत्तर राष्ट्रीय समाज का हिस्सा बनने में मदद करे। यही कारण है कि रवींद्रनाथ टैगोर ने देशभक्ति से परिपूर्ण उस संकीर्ण राष्ट्रवाद का विरोध किया जिसमें लोकतांत्रिक मूल्यों एवं मानवता के लिए जगह नहीं थी। उनका मानना था कि मनुष्यों की नस्लों में प्राकृतिक अंतर है, जिनका सम्मान और संरक्षण किया जाना चाहिए। किंतु हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि इन अंतरों के बावजूद हम अपनी आपसी एकता की भावना को आत्मसात करें और अंतर्विरोधों के झाड़-झंखाड़ में से सत्य को खोज निकालें। स्पष्टतः टैगोर मानवीय एकता की बात करते हुए एक ऐसे राष्ट्रवाद की परिकल्पना करते हैं जहां मनुष्य अपने पारंपरिक एवं आधुनिक वजूद में एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में स्वाधीनता की जिंदगी जी सकें। टैगोर की इस चेतना को उनकी कविता अफ्रीका के प्रति में देखी जा सकती है जहां वे उत्पीड़न जनता के बर्बर शोषण का विरोध करते हुए उनकी नष्ट हो रही संस्कृति के प्रति चिंता प्रकट करते हैं : 'सम्ये बर्बर लोभ/नग्न कर लो आपन निर्लज अमानुषता/तोमार भाषाहीन कन्दने वाष्पाकुल अरण्येपथे/पांकिल होलो धूलि तोमार रक्ते अश्रुते मिशे,/दस्यु-पायेर कांटा-मारा जुतोर तलाय/वीभय कादार पिण्डो/चिरचिन्ह दिए गेलो तोमार अपमानित इतिहासे।' अर्थात्, अपने को सभ्य कहने वालों के बर्बर लोभ ने अपनी अमानुषता को निरावरण कर दिया है; तुम रोए, किंतु तुम्हारे को निःशब्द

कर दिया गया। जिन मार्गों से तुम वन पार करते हो, वे तुम्हारे अश्रुओं और रक्त से पंकिल हो गए हैं। लूटेरों के लौह-बूटों के अमिट चिह्न तुम्हारे अपमान भरे इतिहास पर अंकित हो गए हैं।

प्रसिद्ध विचारक रेमंड विलियम ने बीसवीं सदी में ऐतिहासिक संकटों का सामना कर रहे मानव समाज को ध्यान में रखते हुए कहा था कि हम अच्छे समय से जितना सीख सकते हैं, उससे कम बुरे समय से नहीं। साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के गठबंधन ने पिछली सदी में मानव समाज के अस्तित्व के सामने युद्ध और विध्वंस की जो विश्वव्यापी असंगतियां छोड़ी हैं, उससे ऐसा नहीं है कि भविष्य का संकट समाप्त हो गया है। हम आज आने वाली दुनिया की जिस दहलीज पखवाड़े हैं, वहां विध्वंस के भी सूत्र हैं और निर्माण के रास्ते भी। इशिकावा ताकुबोकु, रवींद्रनाथ टैगोर, नोगुची योनेजिरो, 'फैज' और अज्ञेय जैसे लेखकों का साहित्य हमें 1857 से 1947 के मध्य के अच्छे समय से भी परिचित कराता है और बुरे समय से भी। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अतिरेकों और अतिवादों के इस युग में ये लेखक हमें संकट और पराजय की निराशा से बाहर निकालते हैं। अतीत से लगाव और भविष्य से उम्मीद के संकेत देते हैं। शायद, साहित्य की यही सामाजिक भूमिका भी है और आलोचना का लक्ष्य भी यही है कि वह हमें आने वाले संकट का सामना करने के लिए मानसिक रूप से तैयार करे।

**संदर्भ :**

1. Unita Sachidanand & Fumiko Mizukawa, 2010, The Pen and The Sword: ar Literature in Asia, Pub. By Indo-Japan Association For Literature and Culture, New Delhi. (Translation of Ishikawa takuboku and Yonejiro Noguchi by Suresh Salilm Devendra Choubey & Yoshio Takakura).
2. Raymond William, 1981, Culture Fontana.
3. नंदकिशोर आचार्य, सं., 2001, अज्ञेय संचयिता, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा।
4. विश्वनाथ नरवणे, अनुवादक, 2009 रवींद्रनाथ के निबंध, साहित्य अकादेमी, दिल्ली।
5. देवेन्द्र चौबे, 2011, आलोचना का जनतंत्र, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा।
6. उनीता सच्चिदानंदन, 2002, जापानी साहित्य दर्शन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।



## आलोचना का बहुवचन

अनन्त मिश्र

रचना का हाल बताना तो बहुत कठिन है, क्योंकि वह सृष्टि है। कवि की सृष्टि और विधाता की सृष्टि की विविधता और संभावना का क्या रूप आगे बनेगा कठिन है बताना। हां, जो बन चुका है उसकी चर्चा की जा सकती है। असल में आलोचना का संबंध उसी से है। जो रचनाएं हो चुकी हैं उन्हीं की आलोचना होगी, होती है, होती रहेगी। दुनिया भर की भाषाएं हैं, दुनिया भर के रचनाकार और अनंत-अनंत रचनाएं। अनेक विधाओं में नानारूपात्मक जगत् की भांति रचनाओं का भी समुद्र है, किसी के लिए उनकी परख, पहचान बहुत मुश्किल है। हिंदी के एक अदना से आदमी के लिए तो और भी मुश्किल है इसलिए कोई दावा नहीं कर सकता, न किसी को करना चाहिए कि वह आलोचक के अनेक वचनों अर्थात् उसके बहुवचन पर प्रकाश डाल ही देगा।

संस्कृत आलोचना से अपनी बात प्रारंभ की जाए तो हिंदी आलोचकों और आलोचनाओं की पृष्ठभूमि समझ में आएगी। संस्कृत के पंडित हर जगह कुछ आत्मा और शरीर की चर्चा करते रहे हैं। असल में जिस विशेष जातीय स्मृति से हिंदी का संबंध है वहां आत्मा और शरीर की बातें होती रही हैं। हिंदी में एक क्रिया पद है, 'मर गया' अर्थात् दो बातें एक साथ घटित हुईं। पहले मरा फिर गया। यानी कि शरीर मरा और आत्मा उसमें से निकली। वह कहीं गई तो रचना में दो चीजें संस्कारवश हमारी परंपरा मानती रही है। वह यह कि शब्द रचना का शरीर है और अर्थ के पीछे के भी पीछे जो मंतव्य है वह उसकी आत्मा है। कुछ और है अर्थ के भी परे जो अनुभवगम्य है, अनिर्वचनीय है जैसे कि शरीर के पीछे सूक्ष्म शरीर, मरणशरीर और जाने कितने शरीर, फिर मन, बुद्धि, अहंकार आदि और फिर आत्मो संस्कृत के लोग काव्य (साहित्य) की आत्मा की खोज में लगे और नाना प्रकार की स्थापनाएं कीं। एक लंबा और बड़ा विमर्श रहा है, हिंदी आलोचना उससे प्रभावित भी रही है।

मोटे तौर पर हिंदी आलोचना के पहले जो रूप मिलते हैं, वे पसंदगी और नापसंदगी के व्यक्तिगत रूप हैं जैसे कि मिश्र बंधुओं की आलोचना। उन्हें कुछ अच्छे कवि मिले जिसको उन्होंने रत्न बताया और कुछ के बारे में कुछ नहीं कहकर मानों उन्हें उपेक्षणीय मान लिया। 'त्याग, गहन, उपेक्षणीय' का सिद्धांत भी रहा है और यह नहीं कहा जा सकता कि हिंदी की



समकालीन आलोचना अभी भी इससे ग्रस्त नहीं है बल्कि मानना तो यह चाहिए कि आगे भी यह किस्सा चलेगा क्योंकि आदमी की बुनियादी प्रवृत्तियां वे ही रहती हैं। आलोचक आदमी जाति से बाहर कैसे हो सकता है।

एक बात और समझ में रखनी चाहिए कि आलोचना को दोगले दर्जे की चीज न मानने की जिद चाहे जितनी की जाए वह एक नंबर की चीज रचना की भांति नहीं है। रचना के पीछे रचनाकार के हृदय और अस्तित्व की बेचैनी होती है, अभिव्यक्ति में बेचैनी, नया कुछ नए अंदाज में, नया करने, रचने, जन्म, देने की बेचैनी होती है इसलिए आदमी की आत्मा से उसका गहरा संबंध है, इसलिए रचना प्राथमिक है, आलोचना दूसरे नंबर पर आती है। भावयित्री प्रतिभा और कारयित्री प्रतिभा दोनों में प्रतिभाएं हैं पर प्रतिभा और प्रतिभा में अंतर होना स्वाभाविक और प्राकृतिक है।

आलोचना का संबंध जिस वैचारिक और भावात्मक चेतना के इतिहास से जुड़ा है, उसकी जड़ें रचना के जन्म के कारणों पर भी टिकी हैं। अलग-अलग लोगों ने रचना के कारण बताए हैं किसी पुराने पंडित ने यह कह दिया कि कविता या रचना के उद्दीप्त क्षण होते हैं, किसी ने कहा कि हृदय के समुद्र में मति सीप के समान है और उसमें स्वाति-धारण की बूंदें रचना की मोती को पैदा करती हैं आदि-आदि। पर यह तो तय है कि जैसे बिना धरा के तरु नहीं पैदा होता है वैसे ही रचना बिना रचनाकार के नहीं होती है। कोई-कोई अपवाद अमरबेलि की तरह बिना मूल के हो सकती है पर बिना जड़ बिना थल जैसे प्रकृति की चीजें नहीं है, उसी प्रकार रचना खास किस्म के लोगों की कवित्व-शक्ति की कोख से पैदा होती है तो आलोचना का जो भी विकास हुआ है उसके पीछे इन अवधारणाओं का भी हाथ है।

आलोचना के जो रूप मिलते हैं उनमें शब्द भी एक तत्त्व है। शब्दार्थ मीमांसा। सवाल यह है कि शब्द भी सामाजिक है अर्थ भी। इसलिए समाज के हित, अनहित, उस पर पड़ने वाले प्रभाव, कुप्रभाव आदि के संदर्भ आलोचना से जुड़े तत्त्व हैं। गोस्वामी तुलसीदास इसलिए बहुत पचड़े में नहीं पड़ते। सीधे-सादे अपने राम पर विश्वास करने वाले आदमी थे इसलिए बहुत जटिल विचार न करके कह दिया कि

*कीरति भानिति भूति भल सोई।*

*सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥*

आचार्यों ने बड़ा दिमाग लगाया। सौंदर्य को अलंकार कहा। अलंकार को काव्य मानदंड। किसी ने कहा कि गुणवान् अभिव्यक्ति, किसी ने कहा कि शब्द और अर्थ के बाद की चीज जो अनुगूंज है, जो घंटा बजने के बाद बचे रव की तरह है, वह केवल वह, किसी ने कहा कुछ खास व्यंजना आदि। और बहुत समय तक यह कि सबके हृदय में एक ही रागात्मक सत्ता है, उसके साथ जोड़ /व्यक्ति का साधारणीकरण। और सर्वजनीनता का महानंद। ईश्वर की अनुभूति जैसी कोई सत्य या काल्पनिक अनुभूति, इन बातों ने आलोचना के तारों का निर्माण किया। और हां, अकेला मनुष्य अपने आप में होने के रहस्य से जैसे वंचित है, वैसे अकेला

जीवन, जीवन नहीं है। जीवन है ही एक से अधिक। 'एक तुम्ही नहीं हो, अस्ति इससे बढ़कर दूसरी नहीं', यह केवल अज्ञेय का अनुभव नहीं है। 'एकोऽहम् बहुस्यो' पुराण का पुराना मुहावरा है अर्थात् रचना का संदर्भ इन बातों से जुड़ा है। आलोचना रचना की अनुवर्तिनी समानांतर पुनर्रचना है, व्याकरण है अतः उसका भी इस तरह की बातों से संबंध है। दूसरा, सार्त्र के लिए नरक हो सकता है, एक आयाम में। पर यह संपूर्ण सत्य नहीं है, बल्कि सत्य को विचलन के आधार पर समझने का एक तर्क है। साहित्य में ही नहीं जिंदगी में भी रचना, आलोचना दोनों समाज की तरह परस्परता पर टिकी हैं। सापेक्षता, न्याय, दया, करुणा, संवेदना, मूल्यबोध, कुछ बेहतर करने, सत्य को सुंदर बनाने की यात्रा का नाम रचना-यात्रा है, आलोचना इस यात्रा की सहयात्रा, अहोभाव यात्रा, या पुनर्यात्रा, विमर्शयात्रा, पसंदगी, नापसंदगी की भाव-दशा की यात्रा है। एक योग है, दूसरा साक्षीपन का विवेक। रचना का विवेक उतना नहीं है जितना विवेक की रचना का, पर आलोचना में रचना का विवेक काम करता है।

बहुत सारे प्रश्न हैं इस तरह के आलोचना के संदर्भ में क्योंकि रचनाकार रचना क्यों करता है, इस प्रश्न का उत्तर भी आलोचना से जुड़ा है। आमतौर पर लोगों ने जो निष्कर्ष निकाला है वह यह है कि इस मृत्युमाण संसार में मनुष्य में एक ऐसी चेतना है जो इस मृत्युमाणता का अतिक्रमण करना चाहती है। आंगन का गुलाब, चेहरे का यौवन और सौंदर्य सब मर जाते हैं पर जब उन्हें भाषा और सर्जनात्मकता अमर कर देती है तो वे अमर हो जाते हैं। रचना के साथ रचनाकार भी अमर हो जाता है। रचनाकार का पार्थिव शरीर नष्ट हो जाता है पर उसका यशःशरीर रह जाता है। इतिहास और प्रकृति के ज्ञात सरोकारों में जाने कितने बार अच्छे, बुरे अविस्मरणीय प्रसंग आए पर वे चले गए पर जो रचना में आ गए अमर हो गए। राजा, रानी, वीर, कायर, दानी, महापुरुष, कापुरुष, कठोर, कोमल, अच्छेद, बुरे जाने कितने इतिहास के पुरुष घटना में नहीं घटना के सृजन के कारण पाठकों के कंठहार हैं। ये सब बातें भी आलोचना की विसात तय करती हैं।

आम तौर पर जो आलोचना के प्रारूप दिखाई पड़ता है उसमें दो केंद्र प्रमुख हैं, एक तो है रमणीयता, सौंदर्य, कला, अद्वितीयता, चमत्कार, मानक, स्वाद, विलक्षणता आदि जो एक ही अलंकारवादी चेतना के आयामों की तरह हैं, दूसरा है उपयोग, नैतिकता, मंगलकामना, शुभता, विवेक, मर्यादा, निर्माण, विकार, उन्नयन आदि प्रायः क्षुद्र उपयोग या महान उपयोग के इर्द-गिर्द के आयाम हैं। मोटे तौर पर बड़े भयंकर-भयंकर विमर्शों के बाद उन्हें कलावाद और उद्देश्यवाद का नाम दिया गया। मेरे विचार से इनमें कोई खास भेद नहीं है, आदमी के सोच के ये दोनों पहलू हैं और अलग-अलग नहीं है। सत्य, हित, सौंदर्य सब आदमी के पक्ष में हैं, आदमी के दिल-दिमाग के चौड़े होने के विमर्शों के रूप में हैं और वह चीज जो संकीर्ण को विकीर्ण कर प्रशस्त बनाती है वह रचना की भी ऊर्जा है, आलोचना की भी। अमृत किसे नहीं चाहिए और बेईमान को भी ईमानदार प्रेमी साथी चाहिए। यह एक ऐसा सत्य है जो रचना के बारे में आलोचना करते समय सामने आता है। अनजान पान वाले से मेरे लड़के ने एक दिन पान खाने

के लिए लगाने को कहा। बीच में उसके मन में आया कि सामने नाश्ते की दुकान है क्यों न पहले कचौड़ी खा लूं। खुद खाया और पान वाले के लिए भी बंधवाकर अप्रत्याशित रूप से उसको देने लगा, वह गरीब पान वाला फफककर रो पड़ा। दिल किसी का जब निरपेक्ष दिखता है तो रस, जीवन के करुणा की धार फूटती है, रचना बनती है और रचना की आलोचना करते समय इसीलिए मर्म की खोज की जाती है। शुक्लजी ने ठीक ही पकड़ा था कि मार्मिक स्थलों की पहचान जीवन में, कथा में, भाषा में, कथ्य में आलोचना की कसौटी है।

तो आलोचना की कथा का विस्तार किया जाए तो 'बाढ़े कथा पार नहि लहहूँ।' जितने लोग उतनी आलोचना, जितने लोग, उतनी रचनाएं, सब अद्वितीय। प्रकृति एक सांचा बनाती है और फिर उसे सदा सर्वदा के लिए तोड़ देती है। न तो एक तरह का प्राणी कोई हुआ न होगा। एक पेड़ में जितने पत्ते उतने अलग-अलग। एक आदमी के अंगूठे का निशान दूसरे से नहीं मिलता इसलिए अद्वितीय है सब कुछ और तभी किसी मानकीकरण की बात होती है तो जैसे रचना और आलोचना के लोकतंत्र की हत्या हो जाएगी। एक तानाशाही आने का खतरा है, ध्यान रहे, जीवन और सृजन के सबसे ज्यादा विरोधी इस मानसिकता वाले होते हैं कि कोई एक मानक गढ़ा जाए। कितना भी अच्छा आदर्श हो, अंततः वह तानाशाही को जन्म देता है। आलोचना के बारे में इन बातों का भी ध्यान रखना होगा।

बात हिंदी की है और अपने विषय में न जाना पलायन है। जाना आसान भी नहीं है, पलायन भी एक रास्ता है, कभी-कभी रण-छोड़ देना जीवन और जीवन के संग्राम की तरह रचना और आलोचना के विमर्श, संघर्ष का आकलन करने का एक रास्ता है। वह भी पथ है, जहां पथ नहीं दिखता है वहां भी पथ होता है। पथ बनते रहे हैं, बनेंगे, बनाए जाएंगे। हिंदी आलोचना बड़ी व्यावहारिक आलोचना है। जीवन की व्याख्या करती है, मूल्यों को (जिसे वह समझती है) स्थापित करती है। अर्थ खोलती है, समझाती है, कूट, और क्लिष्ट को तोड़कर सरल, सर्वग्राह्य करती है, मुग्ध होती है। धन्य-धन्य करती है और धिक्कार भी करती है। तुलसी की आलोचना करते आचार्य शुक्ल और केशव की धुलाई करते आलोचक शुक्ल को याद किया जा सकता है।

हिंदी में शुक्लजी के बाद छायावाद के गर्भ से एक और तरह की थोड़ी भिन्न किस्म की आलोचना आई। कला, सौंदर्य, महीन बातें, गहरे निष्कर्ष बिना पौराणिक आधार के अध्यात्म जैसे मूल्य आलोचना में आए। बाद में इसकी निंदा हुई।

आकाश की जगह धरती की बात हुई और मार्क्सवाद का अपना सौंदर्यशास्त्र रचना के संदर्भ में विवेचन का विस्तार बना। तब से बहुत पानी बह गया है। अनेक बार कुछ ऐसे शब्द खूब आए जो खूब चले, एकाएक गायब हो गए। चुनौती स्वीकार करना, संघर्ष करना, आत्म संघर्ष, सभ्यता, संघर्ष-समीक्षा, आत्म-संघर्ष, लघुता के प्रति सहानुभूति, लंबे वृत्तांतों का अंत, लघुमानव, यथार्थ, अतिथार्थ, जादुई यथार्थ, पुनर्रचनावाद, विमर्शवाद, कला की स्वायत्तता, कितनी सापेक्षता, कितनी निरपेक्षता, भोगा यथार्थ, रचने वाले मन और भोगने वाले मन का

विवेक, तनाव, विडंबना जाने कितने तत्त्व रचना और आलोचना की सोच में आए। सबका संसार है, कुछ आलोचक अपनी सृजनात्मक भाषा के नाते आलोचक श्रेष्ठ हो गए, कुछ सामाजिक यथार्थ की परतों और रचना के इतिहास, भूगोल की गहराइयों की पड़ताल के कारण आलोचक बने। प्रतिमान बने, प्रतिमान टूटे, कुछ ने 'फिलहाल' तक अपने को सीमित रखा और कुछ ने प्रायदृष्टि और पुनर्दृष्टि को महत्व दिया। किस्सा कोताह, सब चल रहा है पर यह हिंदी आलोचना का लोकतंत्र है, यह शुभ है। इसके झगड़ों से जो उबरेगा, वह आलोचना में एकतंत्र की वकालत करेगा, जो न मनुष्य के लिए शुभ है, न रचना आलोचना के लिए।

आलोचना के प्रकरण में कुछ बातें और ध्यान में आती हैं। ऐसे तो दुनिया यह जो है, वह इतनी बड़ी है कि इसको चारों ओर से देखना बहुत मुश्किल है। 'लुच लोचने समंता', पता नहीं संस्कृत वाले क्या व्याकरण बनाए हैं पर उसका मतलब देखने से है। देखना केवल बाहरी आंखों से नहीं है, अंदर की आंखों से भी है और जो जीवन रचना का विषय है वह बड़ा व्यापक है उसको अंदर से देखना, बाहर से देखना और देखने-देखने में अनेक अंतरों को महसूस करना बड़ा विषय है। कलाकार जब देखता है तो सूर्य, जो जगत की आंख है, ईश्वर की आंख है उससे भी ज्यादा देखता है। 'जहां न जाए रवि वहां जाए कवि', यह कहावत है और साहित्य के संदर्भ में देखने की आंख भाषा है। जैसे चित्रकार रेखाओं में देखता है, संगीतकार सरगम में देखता है जैसे साहित्यकार भाषा की आंख से देखता है। प्रत्यक्ष उदाहरण दिया जाए तो एक पेड़ को देखने से महसूस किया जा सकता है। आमतौर पर पेड़ जितना जमीन से बाहर है, उससे ज्यादा जमीन के अंदर है उसी प्रकार जिंदगी जितनी शरीर के, व्यवहार के और राजनीति, धर्म, ईश्वर की भाषा और कल्पना की भाषा में है उससे ज्यादा वह अवचेतन, स्वप्न की, नींद की, मूर्छा की भाषा में है। उसके रंग हैं। शब्दों के रंग हैं, ध्वनियों के रंग हैं। अवस्थाओं के रंग हैं। ऋतु और प्रकृति के सापेक्ष जीवन के गणित हैं और बहुत कुछ तो गणित के बाहर है। यह जीवन जो अत्यंत विलक्षण है, वह साहित्य का बीज है और अब आप कल्पना कीजिए कि इस बीज के द्वारा बने वृक्ष को, जिसे साहित्य कहेंगे, उसकी आलोचना पर बात करना कितना कठिन काम है। फिर भी यह कठिन काम किया जाता है। आदमी का दिमाग है ही इसलिए कि वह कठिन कार्य करे और दिमाग की भाषा ने जैसे उच्चस्तरीय गणित, विज्ञान, टेक्नालॉजी पैदा की है उसी प्रकार दिल की भाषा ने रचना और आलोचना को यहां तक पहुंचाया है।

मेरे लेख सुविधा और सरलता, सहजता, स्वीकार्यता की सीमा में रचना का काम है सच को सुंदर बनाना। जीवन को जीने लायक बनाना। चेतना के वरदान को और अधिक मनोरम बनाना। कुरुचि को सुरुचि में ले जाना। भाव को महाभाव तक ले जाना। त्याग को त्याग की स्थिति के भी त्याग तत्व की यात्रा कराना है। सुख को आह्लाद में पहुंचाना, मिथ की भाषा में कहूं तो आह्लादिनी शक्ति में बदलना। धारा को राधा करना और उसके प्रेमी कृष्ण के भाव को आलोचना के रूप में लाना। रचना राधा बने, आलोचना कृष्ण और दोनों के बीच आलंबन धर्म का निरंतर परिवर्तन होता रहे, शायद इसी में आलोचना का असली मर्म है।

रचना हो या आलोचना, सब मनुष्य के कल्याण के लिए है। दुनिया की सेहत के लिए है। आदमी के लिए है, आदमी की भाषा है और इसलिए उसकी स्मृति है और इसीलिए एक लंबी शताब्दियों की यात्रा है जो दुनिया को सुंदर, कल्याणमय बनाने की दिशा में अग्रसर हैं। हमारे समय में आलोचक आचार्य शुक्ल ने लोकमंगल को इसीलिए आलोचना का मानदंड चुना। वे ही क्यों, कोई भी अच्छा आदमी कोई कर्म हों, उसका लक्ष्य अच्छाई ही चुनता है। फिर वह रचना-कर्म ही क्यों न हो। बाद में कुछ लोगों को यह उपयोगी मानदंड लगने लगा। असल में कुछ लोग होते ही ऐसे हैं जिन्हें 'भौकाल' प्रिय होता है, इसीलिए उस जमाने में आचार्य शुक्ल को कलावाद के विरोधी की छवि स्वीकार करते हुए यह कहना पड़ा था कि तुलसी, सूर और बिहारी, केशव में अंतर है। तुलसी और सूर में मंगल और सौंदर्य दोनों हैं, बिहारी में नीति का पाठ तो है पर मामला चमत्कार का है। उन्होंने साफ इस आशय की टिप्पणी की थी बिहारी के दोहों का बहुत अधिक महत्व उनकी ओर से ओरा जाता है जो हाथी दांत पर महीन बेल बूटे देखकर घंटों वाह-वाह करते हैं। और यह कि घनानंद में प्रेम के पीर की गूंज है तो केशव दिखावा करते हैं। 'रामचंद्रिका' बहुत से छंदों को लिखने की शक्ति के प्रदर्शन पर केंद्रित है और रामचरितमानस एक संत के सबसे बड़ी सत्ता, शीलवत्ता, प्रभुता, करुणा और परदुःखकातर अवतार के प्रति अपनी शरणागति को केंद्र में रखकर कथा काव्य के रूप में रचा गया है। सवाल 'मोटिफ' का है। एक बार प्रसिद्ध पंडित और लेखक अपने बड़े गुरुजी से मैंने एकांत में प्रश्न किया था कि पूजा, पाठ, धर्म, राजनीति पर कुछ भी कैसे पता चले कि वह श्रेष्ठ है, तो उन्होंने कहा था कि उद्देश्य देखो, किस नियति से वह दिया जा रहा है। महान अनुष्ठान किसी के मारण, विनाश के लिए किया जाए तो वह एक लघु अनुष्ठान से भी रद्दी है जो किसी के कल्याण के लिए, या आत्मिक उन्नति के लिए किया जाता है। रावण महान भक्त और उपासक था पर दुनिया पर अहंकार का राज्य स्थापित करना चाहता था, वह खलनायक हो गया।

हिंदी आलोचना का बहुत दिन तक मामला सीधा था। बाद में छायावाद के आरंभ और उसके बाद से कई तरह के मामले ऐसे आए कि न केवल रचनाकारों ने अपने कर्म को पेंचीदा, महत्वपूर्ण बनाया अपितु आलोचकों ने भी वही किया। कोई सौंदर्य इसका रचने लगा, कोई शब्द को ब्रह्म मानकर बड़ी-बड़ी बातें करने लगा गोया ब्रह्म या सौंदर्य कोई और लोक की चीजें हों। कुछ ऐसा घटाटोप छाया कि आलोचना के बैल की डैस-डैस किधर है, कुछ समझ में नहीं आता था। एक बार मेरे एक संस्कृत के पंडित बुजुर्ग साथी मेरे साथ आ रहे थे तो उन्होंने मुझसे मूछा कि ये तुम्हारी है की आलोचना में 'तहत' की क्या भूमिका है, या वह कौन सी 'चुनौती' है जिसे आलोचक आलोचना में चर्चा का विषय बनाते हैं। 'संघर्ष' क्या है, काहे का संघर्ष। प्रेम करते कवियों का संघर्ष है कि अन्न और औरत की तलाश में लगे युवा कवियों का फ्रस्टेशन है आदि-आदि। मैंने उन्हें कुछ समझाया पर वे ज्यादा समझ नहीं पाए। हिंदी का आम आदमी उहापोह में आलोचना की सत्ता से परेशान नजर आया। उसके कुछ तो समझ में आया कुछ समकालीन नयी कविता की तरह पल्ले नहीं पड़ा।

पिछले दिनों आलोचना का एक और रूप भी सामने आया। मूलपाठ से परे एक समानांतर वैचारिक, सामाजिक ताना-बाना जिसमें आलोचना आदमी के सिर को चाट जाए। ऐसे 'लैलेक्चर विकसित' करने वाली आलोचना का जिम्मेदार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी किया करते थे। आलोचना के भाष्य की जरूरत दिखने वाली आलोचना भी सामने आई। एक और आलोचना सामाजिक यथार्थ की वैचारिकी रचने वाली रही है। रचनाकार को युग और समय के बीजगणित में डालकर एक नया महान रचनाकार का अवतार बनाने की प्रयास भी सामने आई। परंपरा को गाली देने, महानता को धूल चटाने और समकालीनता का कनफोड़ नगाड़ा बजाने (अशोक वाजपेयी का संदर्भ) और ऐसा कुछ कहने कि एक सिरे से सब खारिज करने वाली आलोचना ने हिंदी में अपना जाल फैलाया। ऐसे आलोचक भूल गए कि परंपरा न होती तो आदमी आषदस्त लेने की सामान्य बात भी नहीं सीख पाता, भाषा स्वयं एक परंपरा है और इसी में सारी बातें होनी है।

अब आजकल विमर्शों ने तो प्राण संकट में डाल दिए हैं। इतने विमर्श चल रहे हैं कि लोग भूल गए हैं कि विमर्श के मुद्दे अंततः आदमी के व्यापक सभ्यता, समीक्षा, इतिहास और संस्कृति के ही हिस्से हैं। हम चाहें भी दुनिया को सुंदर बनाना तो एक हिस्से से नहीं बना सकते। स्त्री कोई अलग नहीं है, दलित कितना भी अलग है, पूर्णतया अलग नहीं है। आदमी का सदियों का दिमाग शोषण, अन्याय का दिमाग रहा है जो भी काल के प्रवाह या प्रकृति के प्रवाह में कमजोर हुए उनका बुरा हाल हुआ। ध्यान रहे कि साहित्य सबसे कमजोर के पक्ष में है और साहित्य ही क्यों राजनीति को भी सबसे कमजोर पक्ष में करके ही विमर्शों को सही दिशा दी जा सकती है। आप केवल विकास और महान दुनिया बनाने के नारे के नाम पर न तो सही स्त्री विमर्श कर पाएंगे, न दलित। और हां अब तो बच्चों के प्रति भी ध्यान देने की जरूरत है। तथाकथित आगे बढ़ाने और आगे से आगे जाने ले जाने के आवेग, प्रतिस्पर्धा में बचपन टूट रहा है। पर्यावरण और प्रकृति का प्रश्न अपनी जगह है। अगर यह दुनिया ऐसी ही दिशा में चलती रही तो प्रकृति का क्या होगा। क्या सही में शुद्ध जल नारियल के अंदर ही मिलेगा? पता नहीं नारियल स्वयं कितना शुद्ध रह पाएगा?

आलोचना की धार बढ़ी है पर यह धार किसके लिए है, यह सोचने पर कष्ट होता है। राजनीति, कविता, धर्म, आलोचना या कुछ और जब यों ही उसी लिए होती है। होता है तो चिंताएं बढ़ जाती हैं। आदमी के लिए, कविता है, यह एक जरूरी बात है। आलोचना भी मनुष्य और मनुष्यता के लिए है। मनुष्यता बची रहेगी तो अन्य प्राणियों, वनस्पतियों की चिंता बची रहेगी। आज जो आलोचना हो रही है, उसके पीछे या केंद्र में साहित्य या मानवता न होकर कोई पत्रिका, कोई संपादक या कोई आलोचक, व्यक्ति होता है। लोग क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहे हैं। यह कुछ ऐसे ही है जैसे फेसबुक पर लाइक करने वाला मामला। अब कोई शोक-यात्रा को फेसबुक पर डाल दे तो उसको भी लाइक करने वाले हैं। कुछ कहीं छपा और उस छपे पर आलोचना। आलोचना पर आलोचना, आलोचक पर आलोचना। कौन किधर, कौन उधर, ऐसी

चीजें चल रही हैं। कोई मानदंड बनाने की बात करना तानाशाही होगी पर कहीं तो जमीन होनी चाहिए। आखिर क्या ग्रासरूट पार्टी एक नाम रहेगा या कि इसका कोई सकारात्मक विवेक आलोचना में पाया जाएगा?

इस प्रकार आलोचना और आलोचकों की विरादरी की लंबी पारी शताब्दियों तक मनुष्य के कहे और रहे जीवन पर विचार-विमर्श करती हुई आज तक अपना जो कार्य कर रही है वह शास्त्र और शास्त्रार्थ के बीच झूलती, क्रिया-प्रतिक्रिया में बाती आलोचना है। इधर जीवन के जो सब विभिन्न क्षेत्रों से ज्यादा पहचान में आए हैं वे विमर्शों के कारण भी है और सामाजिक यथार्थ की खोज करने वालों के कारण आए हैं। जीवन और काव्य के, काव्य ही क्यों पूरे साहित्य के आचार्यों का स्वरूप नया हुआ है अतः आलोचना का पर्णपाश्वर्य भी नया हुआ है। आगे देखना यह होगा कि इस नए आलोक और नए पन के अपने स्वर्ग-नरक के बीच बनती जिंदगी और यात्रा की रचनात्मकता के बारे में कहां-कहां और बातें बनती हैं। कहीं न कहीं अंतिम व्यक्ति और अनाक मानवता के पक्ष में रहकर ही श्रेष्ठ रचना और आलोचना बन सकती है। राजनीति भी, विकास भी और कल्याण भी इसी को केंद्र में रखकर अपने संदर्भ पाएंगे तो बेहतर होगा। दुनिया की रचना सुंदरता, सत्य, न्याय और समता की दिशा में हो और संदर्भ की संवेदनशीलता बढ़े ऐसी रचना भी हो आलोचना भी तभी शायद कुछ सकारात्मक बन सकेगी।



## तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें' ! (‘कामायनी’ के कवि आलोचकों का संदर्भ)

पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’

‘कामायनी’ एक गहन अंतर्गर्भी रूपकात्मक कृति है, जिसके साभिप्राय अर्थ-गह्वर (Semantic Enclave) में हिंदी के दिग्गज कवि-आलोचकों का भी अंतःप्रवेश संभव नहीं हो पाया है। दूसरे, इन कवि-आलोचकों को न तो उपनिषदों का और न ही सामरस्यवादिता की ओर ले जाने वाली ‘प्रत्यभिज्ञा’ नामक दार्शनिक चेतना (The Concept of Self-recognition & Perfect Consciousness) या कि दर्शन का ही सम्यक् ज्ञान है। इन कवि-आलोचकों की पल्लवग्रहीता और पूर्वपक्षधरता ने ‘कामायनी’-विषयक उनके अवबोध को भ्रांत कर रखा है। फलतः इन्होंने ‘कामायनी’ और कामायनीकार पर अनेक असंगत और अन्यायपूर्ण आरोप-पर-आरोप किए हैं। पर ऐसा करते हुए भी ये आलोचक अपने-अपने आलेखों के साक्ष्य में ही कृति की अद्वितीयता और कृतिकार के सामर्थ्य का विस्मरण नहीं कर पाए हैं।

प्रसाद के समकालीन छायावादी कवि-आलोचक सुमित्रानंदन पंत ने कामायनीकार से चार शिकायतें की हैं। ये शिकायतें इड़ा और श्रद्धा के सामंजस्य करने, मनु के लोक-जीवन की ओर नहीं लौटने, युगीन समस्याओं का चिर पुरातन समाधान देने और जीवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नहीं दे पाने की शिकायतें हैं। पंत ने लिखा है कि इड़ा श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं है। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आए। आने पर भी शायद वहां कुछ नहीं कर सकते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन पिष्टपेषित निदान है।... यहीं पर ‘कामायनी’ कला-प्रयोगों में आधुनिक होने पर भी वास्तव में जीवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नहीं दे सकी।’ (द्रष्टव्य : छायावाद : पुनर्मूल्यांकन-पंत)

कविवर सुमित्रानंदन पंत ने अपने पहले आरोप में ‘इड़ा’ और ‘श्रद्धा’ के सामंजस्य को ‘पर्याप्त’ नहीं माना है ऐसा इसलिए हुआ है कि वे इड़ा और श्रद्धा के निहितार्थ को नहीं समझ सके हैं। वस्तुतः यह बुद्धि और भाव या कि मस्तिष्क और हृदय का समन्वय तो है ही, पर यह बाह्य और अभ्यंतर का, देह और आत्मा का भी समन्वय है। यह ‘रजोगुण’ और ‘सतोगुण’ का भी समन्वय है। ‘कामायनी’ यह बताती है कि बुद्धि को भाव से परिचालित होना चाहिए।



बाह्य जगत या कि लोक-जीवन का संघर्ष मिटाने के लिए और सबके बीच समानता लाने के लिए केवल 'रजोगुणी' उपायों से, संघर्ष से, क्रांति से, सत्ता परिवर्तन से जनवादी विद्रोह जैसे बाहरी उपाय-मात्र से कभी भेद-भावहीन स्थाई समानता नहीं लाई जा सकती। यही बुद्धि की असफलता है। इस समानता का बीज-वपन तो मनुष्य के अभ्यंतर में, उसके अंतर्जगत में होता है, जिसके पल्लवित होते ही मनुष्य का 'मैं', 'हम', में रूपांतरित होता है। 'अहंकार' और 'स्वार्थी ममत्व' मिटता है। मानसिकता में समत्व भाव आता है। इसी समत्व भाव से लोक-मंगल और लोक-कल्याण की चेतना जगती है। दूसरों के लिए त्याग का भाव जगता है। जब 'मैं' की अशेष व्याप्ति 'हम' में बदलती है, सभी अपने हो जाते हैं। आत्म-केंद्रित परिग्रह समाप्त होता है। यह अभ्यंतर के सतोगुणी हृदय से भाव-लोक से संभव होता है। इड़ा यदि बाहरी हलचल है और संघर्ष का बीजमंत्र है; तो श्रद्धा आंतर प्रशांति है, अहंता और स्वार्थी मोह-ममता का परित्याग है, वह 'मैं' का 'हम' में 'लोक' में 'सब' में रूपांतरण है। वह समत्व भाव की स्थाई सतोगुणी मानसिकता है। श्रद्धा से इड़ा का सामंजस्य इसलिए अपेक्षित है कि बुद्धि-प्रेरित 'कर्म' तो रजोगुणी है। वह स्वार्थ-संघर्ष, सत्ता, प्रभुत्व और अधिकार-मद के हेतु ही अपनी सक्रियता दिखाता रहता है। यथा- 'यहां सतत संघर्ष, विफलता/कोलाहल का यहां राज है, अंधकार में दौड़ लग रही/मतवाला यह सब समाज है/... यहां शासनादेश घोषणा/विजयों की हुंकार सुनाती; यहां भूख से विकल दलित को/पदतल में फिर-फिर गिरवाती।' यह सनातन रजोगुणी क्रियाशीलता है और हमारे समकाल का यथार्थ भी है। प्रसाद इसीलिए इसे 'यह अति भीषण कर्म-जगत्' को 'समरस लोकप्रिय कर्म-जगत' में बदलती है। महात्मा गांधी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व में भी यह सामंजस्य देखा जा सकता है, जहां उनके कर्म में सतोगुण की प्रधानता है। हिंसा की जगह अहिंसा, संघर्ष की जगह सत्याग्रह और परिग्रह की जगह त्याग, तथा 'मैं' की जगह 'हम' और 'लोक' ने ले रखी थी। इसलिए 'इड़ा' और 'श्रद्धा' का सामंजस्य ही जागतिक समस्या का 'पर्याप्त' ही नहीं, अपितु एकमात्र शाश्वत और स्थाई समाधान है। यह आज की वैश्विक अशांति, और नरसंहारी युद्धोन्मुखता का एकमात्र निदान है।

भारतीय दर्शन की मान्यता है कि मनुष्य का बाह्य उसके आंतर से प्रेरित-प्रभावित होता है इसलिए उसकी दृष्टि में आंतरिकता का शोधन और परिमार्जन मूल रूप में अपेक्षित है। अतः पंत का यह आरोप गलत और पूर्वाग्रहग्रस्त है। पंतजी का दूसरा आरोप है कि 'समरस स्थिति प्राप्त होने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आए।' साथ ही यह भी कि यदि लौट भी आते, तो कुछ नहीं कर पाते। कहना होगा कि उनका यह दूसरा आरोप भी पूर्वग्रस्त है। 'कामायनी' का अंतिम सर्ग 'आनंद' है। इसमें मनु की समरस मानसिक स्थिति की, 'प्रत्यभिज्ञा' की, 'आत्मज्ञान' की उपलब्धि है। विकसनशील कथा की दृष्टि से यह मुक्तान्त (Open-ended) काव्य है, बद्धान्त (Closed-ended) काव्य नहीं है। अतः इस उपलब्धि के बाद मनु लोक-जीवन में किस तरह सक्रिय हुए, इसका यहां स्पष्ट रूप में नहीं दर्शाया गया है। 'कामायनी' की सोद्देश्यता मनु (आरंभिक) का 'तमोगुणी' (निष्क्रिय-निराश) से 'रजोगुणी' (सक्रिय

बनने/नगर बसाने/नियमन करने) और 'रजोगुणी' से 'सतोगुणी' (अहन्ता, स्वार्थी ममता, स्पर्धा, प्रभुत्वाधिकार-मद, संघर्ष और हिंसादि प्रवृत्तियों का त्याग कर आत्म-विस्तार करने) बनाकर लोक-मंगल और लोक-कल्याण की दिशा निर्दिष्ट करने की है। श्रद्धा के मार्ग-दर्शन में दर्शन, 'रहस्य' और 'आनंद' सर्गों के द्वारा मनु को यह सार्थकता और सोद्देश्यता प्राप्त होती है। मनु और श्रद्धा अपनी इस उपलब्धि से प्रत्यक्षतः इड़ा और मानव को लाभान्वित करते हैं। मनु की उपलब्ध मानसिकता लोक-चेतना की ही मानसिकता है। यदि यह लोक-चेतना उनकी मानसिकता में उदित नहीं होती, तो इसका अद्भुत कथन मनु क्यों करते? यथा- 'मनु से कुछ-कुछ मुस्क्या कर/कैलास ओर दिखलाया/बोले 'देखो कि यहां पर कोई भी नहीं पराया/हम अन्य न और कुटुम्बी/हम केवल एक हमीं हैं;/तुम सब मेरे अवयव हो/जिसमें कुछ-नहीं कमी है;/अपना ही अणु-अणु, कण-कण/द्वयता ही तो विस्मृति है।' मनु जब 'कैलास' की ओर इंगित करते हैं, तो वे अपने मस्तिष्क-रूपी कैलास को ही दिखलाते हैं, जिसका आशय इसमें निहित सतोगुणी मानसिकता से है। इस सतोगुणी चेतना से जो अखंड आनंद प्राप्त होता है, वह लोकार्पित होने और लोक-मंगल करने के योग्य बनने की ही आनंद है। इसकी चरम और परम उपलब्धि के पश्चात ही विश्वमंच पर लोकहितार्थ लोक-कर्म का संपादन संभव है। पर कामायनीकार यहां पहुंचने के पश्चात यह कभी नहीं कहते कि मनु और श्रद्धा हिमालय में रह गए, वह पुनः नहीं लौटे और लोक-मंगल को नहीं सोचकर अपनी-अपनी मुक्ति के लिए साधना-निरत हो गए, बल्कि वह इस आनंद को लोकहिताय ही निरूपित करते हैं।

दूसरे, यहां यह भी द्रष्टव्य है कि इड़ा और मानव दोनों श्रद्धा द्वारा लोक-हित के लिए लौटा दिए जाते हैं। मनु और श्रद्धा दोनों दीप्त दीप-दीक्षा देने के लिए उस भौगोलिक परिवेश में रह जाते हैं। वह तब तीर्थ ही है। जो-जो लोग ख्याति फैलने के साथ-साथ यहां आएंगे उन्हें लोकहित की यह दीक्षा प्राप्त होगी। पर यदि हिमालय पर स्थित होने को अपने सहस्रार और गगन-मंडल पर स्थित होने की सार्थक साभिप्रायता को देखें, तो यह आत्मस्थ स्थिति है, उपलब्धि की स्थिति है। कोई पर्वत और वन की ओर पलायन नहीं है। फिर पंतजी ने ऐसा निष्कर्ष कैसे निकाल लिया? वे कहते हैं कि यदि लौट भी आते, तो कुछ नहीं कर पाते। यह भी विचित्र असंगत आरोप है। यह हम सभी जानते हैं कि बिना निवेश (Input) के निर्गत (Output) नहीं होता। वास्तविकता यह है कि मनु की मानसिकता का आनंदपरक लोकार्पण ही वह निवेश (Input) है, जिसके आधार पर लोक-मांगलिक कर्म (Output) निष्पादित-संपादित किए जा सकते हैं। 'कामायनी' के इन कथ्यों के पश्चात जो भी विश्व मंच पर सक्रिय हुआ होगा, चाहे वह इड़ा हो, मानव हो, मनु हो श्रद्धा हो या ऐसी सतोगुणी मानसिकता की ऋद्धि-समुद्धि लेकर कोई और! आशय यह कि जो भी इस संसार में सक्रिय होगा वह मनुष्य और मनुष्यता का कल्याण ही करेगा और उसे उस ऊंचाई तक पहुंचा देगा, जिसके लिए कभी व्यास ने कहा था- 'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।' वस्तुतः 'कामायनी' की सार्थकता लोक-कर्म में लोक-कल्याण हेतु समर्पित होने के लिए मनुष्य की सतोगुणी मानसिकता का सर्जन है, उसका

सही 'आत्मज्ञान' प्राप्त करना है। इस तरह यह उस मूल 'निवेश' (Input) की महत्वपूर्ण सर्जना है, जिससे लोक-कल्याण का निर्गत (Output) संभव हो पाता है। यहां संसार में लौटकर कोई क्रांति या विद्रोह या संघर्ष नहीं करना है।

पंतजी ने 'कामायनी' पर यह आरोप भी किया है कि उसमें निर्दिष्ट समस्याओं का निदान 'चिर पुरातन और पिष्टपेषित' है। पंतजी यह मानते हैं कि यह निदान केवल पुरातन नहीं, अपितु मानवीय समस्याओं का भारतीय अन्वेषणपरक सनातन और शाश्वत समाधान है। सत्य प्राचीन होने मात्र से उपेक्षणीय नहीं हो जाता। जिसे पंतजी पुरातन कहते हैं, उसकी तुलना में संसार का कोई भी दर्शन विश्व की शाश्वत समस्याओं का अब तक कोई स्थाई समाधान देने में समर्थ नहीं हुआ है। यदि इसके कारण की पड़ताल करें, तो यही पता चलेगा कि उसके मूल में वह 'निवेश' (Input) नहीं है, जिसकी अपरिहार्यता हमें प्रत्यायित करती है। 'कामायनी' में यह समाधान केवल ज्ञान के स्तर पर, दार्शनिक स्तर-मात्र पर नहीं है, बल्कि वह अनुभावित, घटित और प्रतिफलित है। प्रसाद ने 'कामायनी' में जगत की निदारुण समस्याओं की उसके समाधान की दिशा में किए जाने वाले प्रयासों की विफलता की स्थिति के मूलभूत कारण को 'ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की/एक दूसरे से न मिले सकें/यह विडंबना है जीवन की'- जैसी पंक्तियों में निर्दिष्ट किया है। उन्होंने इसका निदान उसी शाश्वत सतो गुणी समाधान के द्वारा 'रहस्य' सर्ग में दिया है- 'स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो/इच्छा, क्रिया ज्ञान मिल लय थे। /दिव्य अनाहत पर निनाद में/श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।' पंतजी ने पूर्वग्रस्ततावश भ्रांत और मिथ्या आरोप तो कर दिया, पर यह नहीं बताया कि सार्वकालिकता और सार्वभौमिकता में सही सिद्ध होने वाला वह कौन-सा निदान है, जो 'इच्छा, क्रिया और ज्ञान' से एकान्वित है तथा विश्व-मंच पर लोक-कल्याण के लिए समीचीन निवेश (Input) निर्दिष्ट करने वाला है।

'कामायनी' पर पंतजी का अंतिम आरोप उसमें 'जीवन के नवीन यथार्थ और चैतन्य' के अभिव्यक्त नहीं हो पाने का है। जीवन के नवीन यथार्थ का सरोकार जहां युगीन समस्याओं से है, वहां चैतन्य का सरोकार उनके समाधान से है। पर क्या 'कामायनी' सचमुच इन्हें अभिव्यक्त नहीं कर सकी है? ऐसे में अपार सुख-संग्रह का केंद्रभूतीकरण, विलास की अतिशय उन्मत्तता, हनन, पद-प्रभुत्व और अधिकार का मद, नियम-निर्माता द्वारा नियम तोड़ने का दंभ, पुरुष-सत्तात्मक वर्चस्व (पहली पत्नी का त्याग और कुमारिका को अधिकृत कर उसे बलात्कार) विद्रोह और संघर्ष, युद्ध और नर-संहार, ये सब युग-यथार्थ नहीं तो और क्या हैं? क्या यह आदर्श है या मात्र कल्पना है? कहना न होगा कि यह सब जागतिक युग-यथार्थ की अभिव्यंजन है, काव्यमय वर्णन-बिम्बन है। इस प्रकार पंतजी का यह आरोप पूरी तरह अविचारित और गलत सिद्ध होता है। रही बात 'चैतन्य' की तो 'कामायनी' में सही दिशा में चैतन्य की ही खोज है, उसी का गुणात्मक आत्मान्वेषण है, उसकी साधना है और उसी चैतन्य से प्राप्त समाधान का काव्यात्मक निरूपण है। अतः पंतजी का यह आरोप भी पूरी तरह असमीचीन है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पंतजी अपने द्वारा लिखे जा रहे 'लोकायतन' काव्य की श्रेष्ठता और महत्ता सिद्ध करने के लिए उसकी पूर्वपीठिका के रूप में 'कामायनी' पर ये सारे आरोप कर उस कृति की महत्ता को घटाना चाहते थे। वे 'लोकायतन' में संशोधित अंतरपाठीमता (Inter-Textuality) का सहारा लेकर 'कामायनी' जहां अभिधेयार्थ में समाप्त होती है, उस से आगे की कथा कहते हैं पर यह 'कामायनी' जैसी काव्यकृति की व्यंजकता ही है, जिसे पंत 'लोकायतन' में अभिधेयात्मक रूप में वर्णित करते हैं- 'आओ, श्रद्धा-संग बैठे'/युग मनु प्रसाद, पथ सहचर/वह प्रेम-गोत्रजा जो अब चलती शिखरों से भू पर/समरस जड़ चेतन के नट/प्लावित करती जीवन-गति/लौटा लाया मानव को/ यह सखे, त्रिपुर की परिणति।' और 'देखो भू को, जीव-प्रसू' के कवि पंत के यहां भी श्रद्धा, मनु, मानव की ही कथा आगे बढ़ती है। पर यहां पाठक को 'कामायनी' की सतोगुणी मानसिक उपलब्धि तथा प्रत्यभिज्ञात्मक आत्मज्ञान की समरस परिणति का निवेश (Input) नहीं मिल पाता है, वह पूंजी नहीं मिल पाती है, जिसके आधार पर स्थाई लोकमंगल संभव है। साथ ही जिसके अभाव में जागतिक समस्याओं का कोई स्थाई समाधान नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः जैसा पहले कहा गया है 'कामायनी' द्वारा दिए गए, समाधान का सरोकार हिमालय की बाहरी यात्रा मात्र से न होकर, आंतरिक यात्रा से है, मनु के मानसिक उर्ध्वगमन से है, उसकी चेतना, मानवीय चेतना के ऊर्ध्वीकरण से है। बाहरी हिमालय माध्यम-भर है। यह 'कैलास' और 'हिम-शिखर' मनु और मनुष्य के शरीर का भीतरी ऊर्ध्वभाग है, जिसे कबीर ने 'गगन' कहा है। 'कामायनी' में यह अध्यात्म लोक-निरपेक्ष नहीं होकर लोक-सापेक्ष है, जो 'कामायनी' में जगह-जगह पर उल्लिखित और रेखांकित भी है। वस्तुतः 'कामायनी' एक ध्वनिगर्भित और व्यंजनात्मक काव्य-कृति है, जहां लोक-संपर्क कई रूपों में मुखर हुआ है और लोक-प्रत्यागमन भी व्यंजित है। पर कवि होकर भी पंत की भावनात्मक प्रतिभा इसे ग्रहण करने में चूक गई है।

डॉ. कुमार विमल जैसे आलोचक ने भी 'कामायनी' और 'लोकायतन' के तुलनात्मक संदर्भ में 'कामायनी' में 'वैयक्तिक मोक्ष' की उपलब्धि पर ही मनु के रुकने की बात की है, जो अनुचित और असंगत है। ऐसा सामरस्यवादी दर्शन को परंपरित शैव दर्शन से शत-प्रति-शत जोड़कर देखने के कारण हुआ है। वे यह भूल गए हैं कि प्रसाद मूलतः कवि हैं। अतः इस दर्शन-विशेष के पारिभाषिकों का आग्रहण उनके लिए आधार और साधन-मात्र है, आधेय और साध्य तो उनकी लोक-समता वाली चेतना है। अध्यात्म का उपयोग व्यक्ति-हित में भी हो सकता है और लोक-हित में भी। पूरी 'कामायनी' के कथा-विकास और प्रतिपाद्य को साकल्य (Wholeness) में देखने से यह प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। अतः 'कामायनी' 'वैराग्य' और 'मोक्ष' का काव्य नहीं है। उसकी समरसता और उसका आनंद दोनों ही लोकोन्मुखी हैं। इसे उस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में देखने की अपेक्षा है, जिसके लिए बर्टेण्ड रसेल (Bertrand Russel) ने लिखा है कि 'वे विशेषताएं, जो आदमी को शेष से विलक्षण बना देती हैं, एक शब्द में कहें, तो सांस्कृतिक हैं। वे समाज से अधिक व्यक्ति-लक्षण रूप कही जा सकती हैं और युद्ध में जीतने

की क्षमता या समाज में अनुगत रहने की क्षमता से भिन्न तत्वों का उसमें समावेश होता है।”

‘कामायनी’ का मनु ‘आत्म-अभिज्ञान’ या ‘प्रत्यभिज्ञा’ के माध्यम से इस सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को आयत्त कर विलक्षणता प्राप्त करता है। यह विलक्षणता उसे बलात्कारी कामेच्छा और युयुत्सा से परे अहिंसक और शांति बनाती है। साथ ही समाज की अनुगतता से परे समाज को व्यक्ति की मानसिकता में रूपांतरित कर समत्ववादी लोकमांगलिकता से संपन्न करने हेतु अपनी तैयारी करती है।

छायावादोत्तर कवि रामधारी सिंह ‘दिनकर’ ने तो ‘कामायनी’ के दार्शनिक पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष दोनों पर खुलकर आरोप किए हैं। पर इन आरोपों में उनका पूर्वग्रह स्पष्ट दिखता है। उनके द्वारा ‘कामायनी’ के अभिव्यक्ति-पक्ष पर किए गए आरोपों की प्रत्यालोचना में बहुत पहले अन्यत्र कर चुका हूँ। अतः यहां मैं ‘कामायनी’ के दर्शन और प्रतिपाक्य-विषयक उनके आरोपों पर ही विचार कर रहा हूँ। ‘दिनकर’ का पहला आरोप है कि ‘मनु का संघर्ष मानव का संघर्ष है, किंतु इस संघर्ष का ‘कामायनी’ समाधान क्या देती है? मनु ने काफी संघर्ष झेला, किंतु अंत में इड़ा के व्यवहार से दुःखी होकर वे संसार से भाग गए।’ ‘संसार में चूकि विषमताएं, विभीषिकाएं और संघर्ष बहुत हैं, इसलिए संसार से भाग चलो। जहां आग है, जलने की संभावनाएं भी वहीं होती हैं। अतएव आग से बचने को हिमालय की गुफा में जा बसो लेकिन बाहर की आग से तो भाग कर बचा जा सकता है, किंतु भीतर की आग से बचने का क्या उपाय है? वह तो हिमालय की गुफा में भी मन को दग्ध कर सकती है।’ (द्रष्टव्य : ‘कामायनी’ : दोष-रहित, दूषण-सहित, पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण-दिनकर) मुझे आश्चर्य है कि कामायनीकार से समस्याओं के समुचित समाधान की मांग करने वाला और उसके द्वारा समझाए गए, समाधान को पलायनवादी और असंगत मानने वाला यही कवि-आलोचक जब अपनी नाट्य-काव्यकृति ‘उर्वशी’ की रचना करता है तब वह उसकी ‘भूमिका’ में लिखता है- ‘प्रश्नों के उत्तर, रोगों के समाधान मनुष्यों के नेता दिया करते हैं। कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है।’ और इस तरह वह, स्वयं को वहां समाधान देने की दायित्व से मुक्त कर लेता है।

अब जरा रुककर ‘दिनकर’ के आरोप पर विचार कर लें। ‘दिनकर’ मनु को ‘इड़ा के व्यवहार से दुःखी होकर भागने वाला’ कहते हैं। पर इस आरोप की आधार-भूमि ही गलत है। सत्य तो यह है कि मनु स्वयं इड़ा को अपने दुर्व्यवहार से दुःखी करता है। अधिकारी-अधिकृत के संबंध से वह इड़ा को पाना चाहता है। अस्वीकृति में वह उस पर बलात्कार तक करता है। (अपनी दुर्बलता में मनु तब हांफ रहे थे, /स्खलन-विकंपित पद वे अब भी कांप रहे थे।) फिर वह भागता नहीं, संघर्ष करता है, हनन करता है और घायल होता है। उसे स्वप्न-भीत श्रद्धा खोजती हुई आती है। मिलन होता है। फिर मनु श्रद्धा को छोड़ आने पर पश्चाताप करता है। पर संघर्ष सर्ग के अंत में मनु भागता है। पर इड़ा के कारण नहीं, स्पष्टतः श्रद्धा के कारण- ‘श्रद्धा के रहते यह संभव/नहीं कि कुछ कर पाऊंगा/तो फिर शांति मिलेगी मुझ को/जहां,

खोजता जाऊंगा।' पर श्रद्धा पुनः मनु को खोज लेती है। यहां श्रद्धा आग्रहपूर्वक मनु को अपने साथ ले चलती है- 'तब चलो जहां पर शांति-प्रात/में नित्य तुम्हारी, सत्य बात।' यहीं श्रद्धा ले चलने की प्रक्रिया में मनु का स्पर्श करती है तथा उसमें 'शक्तिपात' करती है। श्रद्धा उसे हाथ पकड़ कर ले चलती है। पर यह अंश यहां व्यग्य है, गम्य है, अभिधेय नहीं है। अतः दिनकर का यह आरोप गलत है कि मनु भाग गए। ये संघर्ष के बाद इड़ा के कारण नहीं, श्रद्धा से दृष्टि नहीं मिला सकने के कारण और श्रद्धा के आगे वह स्वेच्छया कुछ नहीं कर पाने की अपनी असमर्थ स्थिति में आ जाने के कारण भागे। पर इस भागने में न तो वे हिमालय की गुफा में गए और न हिमालय के शिखर पर। उन्हें हिमालय (आंतरिक) पर तो श्रद्धा ले गई। श्रद्धा के द्वारा 'शक्तिपात' किए जाने के पश्चात मनु की मानसिक यात्रा आरंभ हो गई, जिसका गंतव्य आंतरिक 'हिमालय' था। इधर हिमालय की सतत बाहरी यात्रा भी चलती रही।

'दिनकर' जहां यह स्थापना तो करते हैं कि मनु का संघर्ष मनुष्य जाति का संघर्ष है, पर इस संघर्ष की प्रकृति और इसके हेतु को वे नहीं देख पाते हैं। मूलतः यह संघर्ष अधिकार-मद के कारण, स्वच्छंद, कामांध उपभोग की प्रवृत्ति के कारण और व्यवस्था के नियमों का निर्माता होकर भी अनुपालन नहीं कर पाने का परिणाम है। यहीं दैव/प्रकृति-प्रकोप से शरण मांगने आई प्रजा को विद्रोही समझ कर उसे शस्त्र से दमित करने का प्रयास किया जाता है। इसके मूल में चंचल मन है, मनुष्य की स्वच्छंद 'इच्छा' और उसका 'अहंकार' है। क्या 'दिनकर' 'कामायनी' से इस मूल कामांधता का समाधान चाहते हैं? 'कामायनी' इसके समाधान में 'मन की रूपांतरित करती है। फ्रायड के 'इदम' (ID) और अहम (Ego) को सुप्राहम (Super Ego) में स्थाई तौर पर रूपांतरित करती है? यह मनु की रजोगुणी प्रकृति का सतोगुण में रूपांतरण है। इसीलिए मानसिक ऊर्ध्व आरोहण होता है। इसीलिए स्थाई प्रत्यभिज्ञान (Self recognition) कराने वाले सामरस्यवादी दर्शन के आलोक में आंतरिक हिमालय की यात्रा होती है। पर दिनकर 'कामायनी' के काव्य-पाठ की इस गहराई में नहीं जा पाते और उस पर अपने सतही अर्थ-बोध के कारण आरोप कर डालते हैं, जो पूरी तरह अयुक्तियुक्त और असंगत है, साथ ही पूर्वग्रस्त भी। 'दिनकर' मानते हैं कि 'कामायनी' में बाहरी आग से बचाने के लिए मनु हिमालय की गुफा में भाग जाते हैं। अतः वे प्रश्न करते हैं कि भीतरी आग का क्या होगा? वह तो हिमालय की गुफा में भी विद्यमान रहेगी! काश! 'दिनकर' समझ पाते कि 'कामायनी' में निरूपित 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन की सहायता से मनु आत्मशोधन ही करते हैं, वे भीतरी आग को ही शमित करते हैं, जिससे बाहरी आग से भी मनुष्य निष्प्रभावी रह सके! तभी उन्हें समत्ववादी दृष्टि प्राप्त हो पाती है, क्योंकि मनु में अहन्ता, स्वार्थपरक ममता, अपने-पराए का भेद-भाव, कामवासना- इन सबकी भीतरी आग शमित हो चुकी होती है। अतः 'दिनकर' मूलतः 'कामायनी' के पाठ को उसकी गहन तलान्वेषिता में नहीं समझ पाने और पूर्वग्रस्त रूप में उसे भ्रान्ततः ग्रहण करने के कारण आधारहीन और असंगत आरोप कर बैठते हैं।

'दिनकरजी' का दूसरा आरोप है- 'क्या यह संन्यास, यह पराजय की भावना नवयुग की

चिंतनधारा के अनुकूल मानी जा सकती है?’... ‘कामायनी का अंतिम संदेश नवयुग की विचारधारा के अनुकूल नहीं है। संसार छोड़कर मुक्ति के लिए वन में जा बसना और कृच्छ्र वैराग्य-साधना के द्वारा वैयक्तिक संतोष प्राप्त करना यह परिपाटी उपनिषदों के समय चली और बौद्ध तथा जैन मतों ने इसका चरम विकास किया।’... ‘इसलिए ‘कामायनी’ का संन्यास वाला समाधान नवयुग को ग्राह्य नहीं हो सकता।... इस रोग-निवारण का जो मार्ग ‘कामायनी’ में बतलाया गया है वह नवयुग का मार्ग नहीं है।’ (द्रष्टव्य : ‘कामायनी : दोष-रहित दूषण सहित’, प्रसाद, पंत और मैथिलीशरण-दिनकर) पर ऐसे में क्या दिनकर ‘कामायनी’ की मूल समस्या- ‘उच्छृंखल कामोन्माद’- को साम्यवाद या समाजवाद से शमित करने के पक्षधर हैं और इसे नवयुग के लिए ग्रह्य समाधान माना जा सकता है?

‘दिनकर’ ‘कामायनी को पराजय का, संन्यास का और मुक्ति की तलाश का काव्य मानते हैं परंतु कामायनीकार ने ‘कामायनी’ को कहीं भी पराजय की भावना से ग्रस्त नहीं दिखाया है और न ही इसे कहीं भी संन्यास और निजी मुक्ति का काव्य ही निरूपित या घोषित किया है। ‘दिनकरजी’ को उपनिषदों के मूल संदेश को समझने में भी भूल हुई है। उपनिषदों से ‘तेन त्यक्तेन भुंजीथाः’ का संदेश प्राप्त होता है। उपनिषदों ने घोर संयम और घोर उपभोग का निषेध करते हुए आत्मपरिष्कार का मार्ग दिखाया है। उपनिषदों में निवृत्तिमार्गी संन्यास का संदेश नहीं है, अपितु वह प्रवृत्तिपरक संदेश है, जिसकी व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीता करती है। यह कर्मयोग का संदेश है, पर यह संदेश अपनी प्रकृति में सतोगुणी है। गीता में वह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य इस संसार में जितने भी प्रकार का कर्म संपादित करता है, वह कर्म उसकी प्रकृति संपन्न करती है। यह ‘प्रकृति’ त्रिगुणात्मिका है- तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी। इस दृष्टि से कर्म भी तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी होते हैं। उपनिषद् और गीता और संपूर्ण भारतीय संस्कृति तमोगुण को परित्यागने, रजोगुण को नियंत्रित करने और सतोगुण को अपनाने का संदेश देती है और उस दिशा में चलने हेतु मनुष्य को प्रवृत्त करती है। इसी त्रिगुणात्मक दृष्टि से ‘गीता’ में श्रद्धा, ज्ञान, कर्म, बुद्धि, धृति, कर्ता और सुख के तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी-जैसे तीन-तीन भेद किए गए हैं। ‘कामायनी’ का मनु प्रलय के उपरांत निष्क्रिय, तमोगुणी प्रकृति का है। पुनः वह श्रद्धा की प्रेरणा से तथा इड़ा के संसर्ग में आकर पूरी तरह रजोगुणी हो जाता है। श्रद्धा जब पुनः उसे खोज लेती है तब उसका आत्मपरिष्कार कर उसे सतोगुणी बना देती है। ‘कामायनी’ मनु के शील (Traits) की इस त्रिगुणात्मक यात्रा की कथा है। मानवता की कोई भी भलाई, लोक का कोई भी कल्याण रजोगुणी कामान्धता, अहम्यन्यता, अधिकार-मद, संघर्ष और युद्ध के द्वारा नहीं हो सकता। उसके लिए व्यक्ति के भीतर सतोगुण का विकास अपेक्षित है। उसे सतोगुणी बनाकर, उसका आत्मशोधन करके ही समत्ववादी दृष्टि प्राप्त की जा सकती है। बाहरी संघर्ष कर समानता नहीं लाई जा सकती। बाह्य संघर्ष वाला समाधान अस्थिर और अस्थायी है। इसकी अपेक्षा आंतरिक परिष्कार वाला समाधान स्थायी और चिरंतन समाधान है। अतः ‘कामायनी’ में यदि पलायन है, तो वह तमोगुण और रजोगुण से

पलायन है और इसका गंतव्य वन्य हिमालय का शिखर न होकर आंतरिक हिमालय का सतोगुणी शिखर है। और यह सतोगुण वैयक्तिक मुक्ति देने वाला नहीं, बल्कि लोक कल्याण हेतु मनुष्य का आंतरिक और मानसिक रूपांतरण करने-कराने वाला है। मनु के उपलब्ध (Achieved) व्यक्तित्व का मूल्यांकन इसी दृष्टि से किया जाना चाहिए। साथ ही श्रद्धा के सतोगुण से पूर्णतः उपेत श्रद्धा-पुत्र 'मानव' को इड़ा के पास छोड़ना भी रजोगुण के श्रेयस्कर अंश को संतुलित रूप में ग्रहण कर सतोगुणी लोक-कल्याण में प्रवृत्त होने का ही परिचायक और संदेशवाहक है। यह किसी भी रूप में और किसी भी प्रकार से पलायन और निवृत्ति का सूचक नहीं है।

'दिनकरजी' ने 'कामायनी' में प्रसाद द्वारा निरूपित लोक और मानव के हित में प्रस्तावित प्रत्यभिज्ञात्मक (Self recognized) समाधान को नवयुग की विचारधारा के अनुकूल नवयुग को अग्राह्य और नवयुग के मार्ग से अंतरित कहा है। पर वास्तविकता यह है कि दिनकर प्रसाद द्वारा निरूपित कामादि की समस्या हेतु इस समाधान के स्वरूप का ही सम्यक बोध नहीं कर पाए हैं तभी बहुजन हितास आत्मपरिष्कार-जन्य मनु के सतोगुणी शील को पलायन, निवृत्ति, वैराग्य और निजी मुक्ति से जोड़ बैठे हैं। उन्होंने इसके अतिरिक्त साधन को साध्य मान लेने की भी भूल की है। 'कामायनी' में मनु का प्रत्यभिज्ञात्मक सतोगुणी विकास साधन है, साध्य नहीं; साध्य तो समत्व दृष्टि से संपन्न होकर लोक-मंगल का श्रेयस संपन्न करना है। वहां साधन की प्राप्ति तक की स्पष्ट यात्रा है और साध्य संकेतात्मक रूप में व्यंजित है, क्योंकि 'कामायनी' मुक्तांत (Open ended) काव्यकृति है, वह बद्धांत (Closed-ended) काव्यकृति नहीं है। अब रही दिनकर द्वारा बार-बार नवयुग की दुहाई देकर 'कामायनी' पर आरोप करने की बात; पंत की तरह दिनकर को भी ऐसा लगता है कि संसार की मूलभूत वर्तमान समस्याओं का नवयुग के अनुरूप जो भी समाधान दिया जा सकता है, उसे अनिवार्यतः बाहरी होना चाहिए। पर कामायनीकार ने यहां जो समाधान प्रस्तुत किया है वह मानवीय समस्याओं का शाश्वत और सनातन समाधान है। वह कालांकि न होकर कालातीत समाधान है। आज के जटिल और कुटिल मानवीय परिवेश में ऐसे समाधान की पूरी प्रासंगिकता और सार्थकता है, इसे दिनकर नहीं देख-समझ पाए हैं। 'कामायनी' में जो नवयुग के लिए संदेश निहित है, वह यही कि बाह्य संघर्ष से स्वार्थ-विहीन मानवीय समानता की प्राप्ति नहीं की जा सकती। वहां जो एक तात्कालिक व्यवस्था नजर आती है वह बस नितांत तात्कालिक होती है। उसमें स्थायिता नहीं होती। वहां उसी तात्कालिकता से फिर असमानता प्राप्त होने लगती है; किंतु जो आंतरिकता से प्राप्त समरसता होती है, समदृष्टि होती है, वह स्थाई तौर पर समानता की दृष्टि देती है।

'कामायनी' में, कर्म की स्वार्थ-संघर्षपूर्ण भीषणता को दिखलाकर उसकी जो उपेक्षा की गई है, उसे दिनकर कर्म की निंदा मानते हुए 'कामायनी' पर आरोप करते हैं- 'रहस्य सर्ग में जब श्रद्धा मनु को कर्म-लोक का वर्णन सुनाती है, तब मनु सहसा घबरा जाते हैं और कर्म के प्रति अपनी घोर घृणा व्यक्त करते हुए यह उठते हैं- 'बस अब बौर न इसे दिखा तू/यह अति भीषण कर्म जगत है।'... 'आश्चर्य हमें तब होता है जब हम यह देखते हैं कि कर्म-लोक का



परिचय देते हुए श्रद्धा भी ऐसी बातें कह जाती है, जिससे कर्म की निंदा ध्वनित होती है- 'श्रममय कोलाहल पीड़नमय/विकल प्रवर्तन महायंत्र का/क्षण भर भी विश्राम नहीं है/प्राण दास है क्रिया-तंत्र का।'... यहां सतत संघर्ष, विफलता/कोलाहल का यहां राज्य है/अंधकार में दौड़ लग रही/मतवाला यह सब समाज है।' (पूर्ववत्) दिनकर इस कर्म की तुलना 'इच्छा' से करते हैं और कहते हैं कि जब मनु 'इच्छा लोक' को देखते हैं, तब उन्हें यह घृणा नहीं होती, क्योंकि इच्छा की सृष्टि सुंदर है। इस प्रकार दिनकर 'इच्छा' के प्रति प्रसाद के पक्षपात (?) पर आरोप करते हैं।

कहना होगा कि दिनकर के इस आरोप के मूल में भी उनका 'कामायनी' का पाठ-विषयक भ्रांत बोध ही सक्रिय है। वस्तुतः उनकी भावना-क्षमता 'इच्छा' और 'कर्म' को खंड-खंड में अलगकर ही देख पाती है और साकल्य (विसमदमे) में, पारस्परिकता में उसे अनुस्यूत करने से रह जाती है। दिनकर 'कर्म' के इस संघर्ष को 'इच्छा' से जोड़कर नहीं देख पाते हैं। इस संघर्षमय 'कर्म' के मूल में यह 'इच्छा' ही तो है, जो उसे इस 'कार्य' के लिए अभिप्रेरित करती है। इस भीषण कर्मलोक की ओर प्रेरित करने वाली 'इच्छा' मूलतः रजोगुणी है- 'नियति चलाती कर्म-चक्र यह/तृष्णा-जनित ममत्व-वासना'... 'आकांक्षा की तीव्र पिपासा/ममता की यह निर्मम गति है।'... 'बड़ी लालसा यहां सुयश की/अपराधों की स्वीकृति बनती।' यहां प्रसाद ने 'कर्म' को 'तृष्णाजनित ममत्व-वासना', 'आकांक्षा की तीव्र पिपासा' और 'सुयश की लालसा' कहकर इसे इच्छा से ही अभिप्रेरित-परिचालित बताया है। यही नहीं, 'इच्छा लोक' का निरूपण करते हुए भी प्रसाद ने उसे 'मायाराज्य! यही परिपाटी/पाश बिछाकर जीव फांसना' कहकर उसे कर्म से जोड़ दिया है। इस प्रकार यह 'इच्छा' ही है, जो भीषण कर्म-व्यापार का 'ब्लूप्रिंट तैयार करती है और मनुष्य को स्वानुरूप कर्म करने के लिए प्रेरित और प्रवृत्त करती है। यह 'इच्छा' यद्यपि अपने स्वरूप में तो लुभावनी है, पर अपनी क्रियात्मक पूर्ति में भीषण परिणाम उपस्थित करने वाली है, क्योंकि यह मूलतः रजोगुणी है। 'रहस्य' सर्ग में आंतरिक यात्रा के क्रम में जब मनु श्रद्धा से यह पूछता है कि श्रद्धे, मैं अब किस लोक में पहुंच गया हूं और ये नए ग्रह कौन-कौन हैं, तब श्रद्धा मनु से कहती है- 'इस, त्रिकोण के मध्य बिंदु तुम/शक्ति विपुल क्षमता वाले ये;/एक-एक को स्थिर हो देखो/इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये।' यहां 'त्रिकोण' शब्द का प्रयोग ही यह बता देने में समर्थ है कि ये तीनों परस्पर अंतरावलंबित हैं। इसी सर्ग में आगे चलकर श्रद्धा मनु को कहती है- 'यही त्रिपुर है देखा तुमने/तीन बिंदु ज्योतिर्मय इतने;/अपने केंद्र बने दुःख-सुख में/भिक्ष हुए हैं ये सब कितने।'।

'कर्म' की भीषणता का रहस्य एक और तथ्य में भी निहित है। कर्म प्रायः दो प्रकार के होते हैं- 1. अपकर्म और 2. सत्कर्म। अपकर्म प्रायः तमोगुणी और रजोगुणी होते हैं, जबकि सत्कर्म सतोगुणी होते हैं। 'रहस्य' सर्ग में जिस भीषण कर्म-लोक का वर्णन है, जहां स्वार्थ-लोलुप समाज मतवाला बना है, वह अपकर्म-प्रधान कर्म-लोक ही है। श्रद्धा ने इस 'इच्छा' के मारक कर्मलोक को ही मनु को दिखलाया है। यह स्वार्थ की इच्छाओं की पूर्ति हेतु निरंतर संघर्षरत

कर्मलोक है। विचारणीय यह भी है कि प्रसाद ने 'कामायनी' में अकर्मण्यता की भावना को प्रोत्साहन नहीं दिया है। 'रहस्य' सर्ग में निरूपित इस कर्मलोक का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य को अकर्मण्य नहीं बनाकर सत्कर्म की दिशा में उन्मुख करने वाला है। पर मनुष्य से सत्कर्म तभी संभव है, जब उसकी मानसिकता में स्थाई गुणात्मक परिवर्तन हो चुका हो, उसे आत्मज्ञानपरक, प्रत्यभिज्ञात्मक समत्व बुद्धि प्राप्त हो चुकी हो- 'स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो/इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;/दिव्य अनाहत पर निनाद में/श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।' दिनकर यह उल्लेख भी करते हैं कि प्रलोयपरांत श्मशान वैराग्य भाव से भरे मनु को अकर्मण्यता से मुक्त कर कर्मोन्मुख करने के लिए जिस श्रद्धा ने फटकार लगाई थी उसी श्रद्धा ने यहां कर्म की निंदा और उपेक्षा क्यों की है? पर दिनकर संदर्भ-भेद को नहीं समझ पाते हैं। पहले संदर्भ में श्रद्धा ने मन को तमोगुण से मुक्त कर रजोगुण की ओर प्रवृत्त किया। वहां भी उसने मनु को उसके इस कथन- 'तुच्छ नहीं है अपना- सुख भी/श्रद्धे वह भी कुछ है'- के बाद इस रजोगुण को सतोगुण से परिचालित कराना चाहा- 'अपने में सब-कुछ भर कैसे/व्यक्ति विकास करेगा?/ यह एकांत स्वार्थ भीषण है/अपना नाश करेगा/औरों को हँसते देखो मनु/हँसो और सुख पाओ/अपने सुख को विस्तृत कर लो/सबको सुखी बनाओ।' पर मनु को इस सतोगुणी लोक-कल्याणात्मक परामर्श को नहीं माना। बात में श्रद्धा इसी मनु को उसकी मानसिकता में रूपांतरित करने, उसे घोर रजोगुणी से सतोगुणी बनाने में सफल होती है। इस प्रकार 'कामायनी' की दार्शनिकता पर दिनकर द्वारा किए गए सारे आरोप निराधार सिद्ध होते हैं। विडंबनात्मक स्थिति तो तब सामने आती है जब दिनकर 'उर्वशी' की भूमिका में स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि 'श्रेष्ठ कविता बराबर भौतिक से परे आधिभौतिक होकर सौंदर्य का संकेत देती है, (वह) फिजिकल को लांघ कर मेटाफिजिकल हो जाती है।' ऐसे में दिनकर द्वारा 'कामायनी' के 'मेटाफिजिकल' समाधान को नवयुग की विचारधारा के प्रतिकूल मानते हुए प्रसाद से मानसिक समस्या हेतु 'फिजिकल' समाधान की अपेक्षा रखना कहां तक औचित्यपूर्ण माना जा सकता है?

मार्क्सवादी कवि-चिंतक मुक्तिबोध ने भी 'कामायनी' के दार्शनिक समाधान को खारिज करते हुए उस पर आरोप-पर-आरोप किए हैं। उनका आरोप कामायनी के कथानक, पात्र और जीवन-जगत की समस्याओं के दार्शनिक समाधान-तीनों पर है। पर यहां उनके आरोपों की तथ्यगतता को जांचने-परखने के पूर्व उनके अधोलिखित दो मंतव्यों पर विचार कर लेना अपेक्षित है। प्रथम मंतव्य- 'ध्यान रहे कि छायावादी काव्य में 'कामायनी' ही एक ऐसा ग्रंथ है, जो समाजनीति और राजनीति के क्षेत्र में नए साहसी प्रयासों को लेकर निर्द्वंद्व रूप में आगे बढ़ता है। अतः उपरिलिखित मंतव्य (मुक्तिबोध द्वारा की गई आलोचना) उसके लिए अत्यंत आवश्यक है।' (कामायनी : कुछ नए विचार', आलोचना, अक्टूबर, 1952) यहां मुक्तिबोध ने चार बातें कही हैं। तीन बातें 'कामायनी' के विषय में और चौथी बात अपने मंतव्य के विषय में है। उनके अनुसार 1. पूरे छायावाद में 'कामायनी' समाजनीति और राजनीति को निरूपित करने वाला अकेला काव्यग्रंथ है। 2. छायावाद में यह उनका साहसी प्रयास है। 3. 'कामायनी'

में जीवन-जगत् की समस्याओं के समाधान का निर्द्वंद्व रूप में प्रस्तुतीकरण भी एक साहसी प्रयास है। मुक्तिबोध की ये तीनों बातें 'कामायनी' और प्रसाद की प्रशंसा में जाती हैं। पर इतना लिखने के तुरत बाद मुक्तिबोध बताते हैं कि इसीलिए मेरे द्वारा ऊपर किए गए आरोपों की आवश्यकता है। यानी उनके आरोप बेमानी और गैरजरूरी नहीं हैं। प्रश्न उठता है कि यदि उनके आरोपों की सार्थकता है, तो उन्हें 'कामायनी' में 'समाजनीति' और 'राजनीति' को प्रतिपाद्य के रूप में रेखांकित करने, इस क्षेत्र में उनके 'नए साहसी प्रयासों' का उल्लेख करने और 'निर्द्वंद्व' (सुनिश्चित, सोद्देश्य) रूप में आगे बढ़ने जैसे कथन का क्या औचित्य है? यह औचित्य तो तब होता जब वे यहां 'वैयक्तिक मुक्ति या कि संन्यास' जैसे प्रतिपाद्य का रेखांकन करते, 'नए साहसी प्रयासों' की जगह 'पुरातन उद्भ्रांत प्रयासों' का उल्लेख करते और 'पलायनवादी रूप में' आगे बढ़ने का कथन करते! **द्वितीय मंतव्य-** 'प्रसाद जी कवि-मनीषी थे। उनके काव्यों की शैव-दार्शनिक व्याख्या करना ज्यादाती है। हां, यह सही है कि उन्होंने उस दर्शन से कुछ पारिभाषिक शब्द ग्रहण किए किंतु कवि-दृष्टि के सम्मुख जीवन-तथ्यों के अनुसार उन्होंने उसमें नए अर्थ भर दिए।' (कामायनी : एक पुनर्विचार', मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ-275) मुक्तिबोध के इन मंतव्य को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि उक्त टिप्पणी में मुक्तिबोध 'कामायनी' के पाठ (Text) को सही पाठकीय-भावना दिशा में ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। पर उनका आरोप 'कामायनी' की उस 'शैव-दार्शनिक' व्याख्या पर ही आधारित है, जिसका वे यहां निषेध करते हैं। दूसरे, इस दर्शन के जिन-कुछ पारिभाषिकों को प्रसाद ने 'कामायनी' के व्यवहृत किया है और उनमें जो नए अर्थ भरे हैं, उसका सामान्य सूचीकरण तो यहां मुक्तिबोध कर बैठते हैं, पर उसकी सम्यक् पहचान और परख मुक्तिबोध नहीं कर पाते हैं। 'कामायनी' में प्रसाद जो कुछ कहना चाह रहे हैं या प्रतिपादित कर रहे हैं, मुक्तिबोध उसे ग्रहण नहीं कर अपने पूर्वग्रह के कारण उसे कुछ और समझ ले रहे हैं। तभी वे 'कामायनी' के दर्शन और उस पर आधारित समाधान पर आरोप-पर-पर कर बैठते हैं। वस्तुतः यह टिप्पणीकर्ता मुक्तिबोध और आरोपकर्ता मुक्तिबोध का अंतर्विरोध है।

पहले 'कामायनी' के दर्शन और उस पर आधारित समाधान पर मुक्तिबोध द्वारा किए गए आरोपों पर एक-एक कर विचार कर लें। मुक्तिबोध का पहला आरोप है- 'उसका (प्रसाद का) अंतिम समाधान, निदान वही रहस्यवादी था। यह कोई निदान या समाधान न था, क्योंकि वह इस क्षेत्र से संबंध नहीं रखता था, जिस क्षेत्र से उद्गत वे समस्याएं थीं।' (द्रष्टव्य : 'कामायनी एक पुनर्विचार-13, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) यह आरोप दो मूलभूत बिंदुओं पर आधारित है। पहला मूल बिंदु है कि 'कामायनी' में निरूपित और निर्दिष्ट समाधान या कि निदान भौतिक और यथार्थवादी नहीं है। वह अमूर्त और रहस्यवादी है। यहां इस शब्द का प्रयोग यह संकेत करता है कि यह निदान वही पुराना निदान है, जिसे पहले भी भारतीय दर्शन में निर्दिष्ट किया जा चुका है। वास्तविकता यह है कि यह समस्या तो आपाततः बाहरी दिखती है, पर यह मानसिक समस्या ही है, अतः उसका निदान भी भीतरी है, क्योंकि इस जैसी समस्या

को 'बाह्य निदान से हल नहीं किया जा सकता है। यहां आंतरिक निदान ही स्थाई और चिरंतन या कि सनातन निदान बन पाता है। ऐसी क्षमता बाह्य समाधानों में नहीं होती है। ऐसा समाधान तात्कालिक तो हो सकता है, पर यह स्थाई तौर पर स्थिर नहीं रह पाता है और समस्या पुनः सिर उठा लेती है, जबकि आंतरिक समाधान का सरोकार मानसिकता से होता है। इस आरोप का दूसरा बिंदु भी बाह्य बनाम आंतरिक की संगति को नहीं देखने के कारण ही उभरता है। यह सच नहीं है कि 'कामायनी' में निरूपित समस्याओं का सरोकार बाह्य जीवन-जगत् से है, समाज, शासन-व्यवस्था और राजनीति से है, इससे भी पीछे चलें तो परिवार से भी है, क्योंकि यह सदैव अंतर्जगत से परिचालित है। पर मुक्तिबोध चाहते हैं कि इसका समाधान भी बाह्य व्यवस्था-परिवर्तन से सरोकार रखने वाला हो। यहां वे वह भूल जाते हैं कि इन समस्याओं का जनक, इनका मूल कारण मनुष्य का अंतःकरण (मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार) है। मनुष्य की प्रकृति में तमोगुण और रजोगुण की अतिशयता तथा सतोगुण का नितांत अभाव ही इन समस्याओं को जन्म देता है। अतः समस्याओं के जनक को, उसके मूलभूत कारण को मिटाना, उसे निरस्तित्व करना अत्यंत अपेक्षित है। यदि मुक्तिबोध इस वस्तुस्थिति को समझ सकते, तो वे इन समस्याओं के उद्गम-स्थल से समाधान को असंबद्ध और फलतः असंगत घोषित नहीं कर बैठते।

मुक्तिबोध का दूसरा आरोप है- 'प्रसादजी का दर्शन एक ऐसी भाव-व्यवस्था का नाम है, जो भाव-व्यवस्था व्यक्तियों को अपनी समस्याओं से मनोवैज्ञानिक छुटकारा तो दिला सकती है, किंतु उसकी उन समस्याओं का अस्तित्व समाप्त नहीं कर सकती।... प्रसादजी के दर्शन ने सब जगह गड़बड़ की है।' (पूर्ववत्) यहां मुक्तिबोध ने प्रसाद के दर्शन को 'भाव-व्यवस्था' कहा है। इससे मनोवैज्ञानिक छुटकारा तो मिल सकता है, पर समस्याएं निर्मूल और निरस्तित्व नहीं हो सकती हैं। इस आरोप के संदर्भ में पहले मुक्तिबोध की अपनी एक कविता (अंधेरे में) के विषय में उनके ही द्वारा की गई टिप्पणी द्रष्टव्य है, 'अब कविता कोई निबंध तो है नहीं, जिसमें लोगों को आज के हाल की जानकारी मिले, न वह कोई नाटक है, जिसमें पात्र प्रस्तुत होकर पूर्ण रूप से जीवन-यथार्थ उपस्थित करते हैं। कविता, एक संगीत को छोड़कर अन्य सब कलाओं से अधिक अमूर्त है। वहां जीवन-संघर्ष केवल भाव बनकर प्रस्तुत होता है या बिंब या विचार बनकर। कविता के भीतर की सारी नाटकीयता वस्तुतः भावों की गतिमयता है। उसी प्रकार कविता के भीतर कथा-तत्व भी भाव का इतिहास है।' (द्रष्टव्य : मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृ.-158) स्पष्ट है कि मुक्तिबोध की उक्त मान्यता के आलोक में उनका प्रसाद पर किया गया आरोप अंतर्विरोधी सिद्ध होता है। उनकी अपनी कविता के संदर्भ में जीवन-संघर्ष 'भाव' बन सकता है, भीतरी नाटकीयता 'भावों की गतिमयता', का रूप ले सकती है और कथा-तत्व 'भावों का इतिहास' बन कर उपस्थित हो सकता है, तो वे 'कामायनी' के दर्शन-जन्य समाधान वाली 'भाव-व्यवस्था' को अनुपयुक्त और असंगत क्यों मानते हैं? सच्चाई यह है कि 'कामायनी' का दर्शन एक अपेक्षित और उपयोगी विचार-पीठिका पर आधारित है, जो अंतःकरण' की

स्वेच्छाचारिता को, उसकी ऐसी भाव-व्यवस्था को नियंत्रित करता है। दूसरे, यह दर्शन जो समाधान देता है, वह मनु के तुष्टीकरण का, उसे बहलाने का कोई तथाकथित मनोवैज्ञानिक समाधान नहीं है। तीसरे, यह दर्शन व्यक्ति के आंतरिक रूपांतरण, उसके 'अंतःकरण' के गुणात्मक परिवर्तन का कारक है, जिसकी सफलता समस्या को बराबर के लिए निर्मूल और निरस्तित्व कर देती है। मार्क्सवादी दर्शन संघर्ष और हिंसा का मार्ग पकड़कर भी इस समस्या को निर्मूल और निरस्तित्व नहीं कर सकता है, क्योंकि वह 'अंतःकरण' को रूपांतरित नहीं कर सकता है। रूस (U.S.S.R.) में मार्क्सवादी विचारधारा की सरकार के रहने के बावजूद यह समस्या पुनः सिर उठाती है, 'पेरेस्त्राइका' घटित होता है और मार्क्सवादी समाधान पराजित होता है। मुक्तिबोध मार्क्सवादी दर्शन की इस दुर्घटना को नहीं देख सके। गड़बड़ तो यहां उपस्थित होती है। इसके विपरीत 'प्रत्यभिज्ञा' (Self recognition) पर आधारित प्रसाद का दर्शन बाहर की जगह भीतर से मनुष्य को रूपांतरित करता है, उसमें गुणात्मक परिवर्तन कर जीवन-जगत की समस्याओं को स्थाई समाधान देता है। अतः मुक्तिबोध का उक्त आरोप निराधार, अयुक्तियुक्त और तर्कहीन है।

मुक्तिबोध का तीसरा आरोप है- 'कामायनी में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का वास्तविक सामंजस्य कहीं बताया ही नहीं गया है।... वैसा होना असंभव ही था, क्योंकि इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सामंजस्य वास्तविक जीवन-क्षेत्र में होता है, न कि संसार के पलायन करके हिमालयीन शिखरों पर।... यह सामंजस्य आगे के सर्गों में दृश्यमान नहीं है। इसलिए मूलतः कामायनी का संदेश अकर्मक है, यही नहीं, वरन् यह अकर्मकता को दार्शनिक आवरण में प्रस्तुत करता है।' (पूर्ववत्) यहां मुक्तिबोध का आरोप है कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय, इनका सामंजस्य प्रसाद ने 'कामायनी' में नहीं दिखाया है। यह सामंजस्य वास्तविक जीवन में होता है, हिमालय की चोटी पर नहीं। आगे के सर्गों में यह नहीं दिखता है। इसलिए 'कामायनी' का संदेश अकर्मकता का संदेश है। पर वस्तुस्थिति को देखें, तो 'रहस्य' सर्ग के उपांत में ज्ञान, क्रिया और इच्छा की भिन्नता वाली पंक्तियां आती हैं- 'ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है/इच्छा क्यों पूरी हो मन की;/एक दूसरे से न मिल सके/यह विडंबना है जीवन की।' इसके बाद इस सर्ग में केवल पांच चरण आते हैं, यानी महज बीस पंक्तियां! मुक्तिबोध ने यदि ध्यान दिया होता, तो इसी सर्ग के अंतिम चरण की दूसरी पंक्ति में इनका सुमेल और सामंजस्य उन्हें मिल जाता जिसे स्पष्ट तौर पर प्रसाद ने दिखला दिया है- 'स्वप्न, स्वाप, जागरण, भस्म हो/इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;/दिव्य, अनाहत पर निनाद में/श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।' प्रसाद ने जहां पहले 'त्रिपुर' के तीन ज्योतिर्मय बिंदुओं को अपने दुःख-सुख में केंद्रित रहने के कारण ज्ञान, क्रिया और इच्छा की भिन्नता को निरूपित किया है, वहीं उस 'त्रिकोण' को शक्ति-तरंग से निखर कर गठित होने पर 'इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे' की शक्ति दर्शा दी है। अतः यह कहना कि 'इनका वास्तविक सामंजस्य कहीं बताया ही नहीं गया है, सरासर गलत है। इस प्रकार प्रसाद ने इसी सर्ग में यह सामंजस्य दिखला दिया है तथा दोनों जगहों पर इनके असामंजस्य और सामंजस्य

के कारणों को भी उद्घाटित कर दिया है। ऐसे में आगे के सर्गों में इसके दृश्यमान नहीं होने का प्रश्न ही कहां उठता है? विडंबना तो यह है कि इस सर्ग के बाद 'कामायनी' में केवल 'आनंद' नामक एक सर्ग आता है। आगामी अनेक सर्गों की तो यहां कोई नियोजना ही नहीं है। मुक्तिबोध ने इन तीनों के सामंजस्य की स्थल-चेतना पर भी सवाल खड़े किए हैं। उनके अनुसार इसका उपयुक्त स्थल वास्तविक जीवन-क्षेत्र है, न कि हिमालय का शिखर! यहां फिर मुक्तिबोध ने भूल की है। 'कामायनी' में 'हिमालय' से प्रसाद का अभिप्रेत भौगोलिक हिमालय नहीं होकर मुनष्य के शरीर के अभ्यंतर में निर्दिष्ट किया जाने वाला 'आंतरिक हिमालय' है, गगनमंडल है, सहस्रार-चक्र है। इसका उल्लेख में पहले भी कर चुका हूं। काश! मुक्तिबोध ने प्रसाद की इस संदर्भित पंक्ति पर गौर किया होता- 'दिव्य अनाहत पर निनाद में/श्रद्धायुक्त मनु बस तन्मय थे।' यहां 'परम अनाहत निनाद' आंतरिक हिमालय पर श्रवण होने वाला निनाद ही है। यहीं पहुंच कर, इस स्थिति के सिद्ध होने पर ही इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सुमेल और सामंजस्य हो पाता है। सच तो यह है कि यही सामंजस्य की जन्मभूमि है और जीवन-जगत उसकी कर्मभूमि है, जहां उसका सहज स्वाभाविक अनुप्रयोग होता है। 'कामायनी' में कवि ने दार्शनिक पारिभाषिकों में नए अर्थ भरे हैं। अतः 'कामायनी' के संदेश को 'अकर्मकता' का संदेश मानना भी निराधार और गलत सिद्ध होता है। जैसा मुक्तिबोध ने स्वयं अपनी कविता के विषय में सामान्यीकरण (Generalization) करते हुए कहा है कि कविता में 'जीवन-संघर्ष केवल भाव बनकर प्रस्तुत होता है या बिंब बनकर या विचार बनकर, सो उन्हीं के अनुसार कविता से निबंध या नाटक जैसी विधा के पूर्वपश्च व्याख्यात्मक निरूपण की अपेक्षा करना अनुचित है। मुक्तिबोध ने यदि अपने इस कथन को ही याद रखा होता तो ऐसा अनर्गल आरोप करने से उन्हें उनका ही काव्य-विवेक रोक देता।

मुक्तिबोध का चौथा आरोप है कि 'प्रसादजी का रहस्यवाद पलायनवाद है। इसमें न तो कबीर की आत्मप्रस्थापना है, मस्ती है, फक्कड़पन है और न रवीन्द्र का मूर्त मानवादार्श।... वह (मनु) दयनीय अहंवादी अपनी सारस्वत सृष्टि के नष्ट होने से दुःखी नहीं है; अपनी पराजय से दुःखी है और ऐसी अवस्था में श्रद्धा उसे आकर आश्रय देती है और उसकी कृपा से उसे एकाएक आत्मज्ञान प्राप्त होता है और वह हिमालय जाता है और तपस्या करता है। यह शुद्ध पलायनवाद है, अमिश्रिता अब मानव की विजय मानसरोवर पर होगी... हमारे मनुजी 'मूंड मुंडाय भये संन्यासी।' (द्रष्टव्य : 'कामायनी : कुछ नए विचार', कामायनी : एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ) मुक्तिबोध ने 'कामायनी' के रहस्यवाद को 'पलायनवाद' कहा है। पर 'कामायनी' में रहस्यवाद है कहां? वहां तो 'रहस्य' सर्ग-मात्र है। इसमें जो भी किंचित रहस्यवाद लगता है वह कबीर का भावनात्मक रहस्यवाद नहीं है, क्योंकि इसकी सोद्देश्यता न तो जीव और ब्रह्म का मिलन है, न ही मनु की वैयक्तिक मुक्ति ही। इसकी जगह यहां साधनात्मक रहस्यवाद के एकाध पारिभाषिकों में तद्भव परिवेश के द्वारा नए अभीष्ट अर्थ भरे गए हैं, उसकी नई अर्थ-व्याख्या की गई है। अपनी कामायनी-विषयक पुस्तक में जिस

फंतासी का मुक्तिबोध ने लंबा रचना-प्रक्रियाई विवेचन किया है उस 'फंतासी' की शैलिक अभिव्यंजना को मुक्तिबोध इस सर्ग में नहीं समझ सके हैं। रही बात कबीर के रहस्यवाद में 'मस्ती' और 'फक्कड़पन' की, तो कबीर के यहां दोनों प्रकार के (साधनात्मक और भावनात्मक) रहस्यवाद है। पर 'मस्ती' और 'फक्कड़पन' उनके समाजसुधार और धर्म-सुधार विषमक पदों में है। अगर उनके रहस्यवाद में कहीं 'मस्ती' दीखती है, तो वह भावनात्मक रहस्यवाद में ही और प्रसाद की 'कामायनी' में यह भावनात्मक रहस्यवाद कहीं नहीं है। प्रसाद यहां 'कामायनी' में 'जिज्ञासा' के तत्व तो हैं, पर बिरह और मिलन का चक्कर नहीं है। कबीर की आत्मप्रस्थापना 'आत्मज्ञान' की है, प्रसाद के यहां वही रूपांतरित 'प्रत्यभिज्ञा' है। ऐसे में मुक्तिबोध की उक्त टिप्पणी की निस्सारता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। कवीन्द्र रवींद्र की रहस्यवादी कविताएं ('गीतांजलि' की) भी आत्मा और परमात्मा से या केवल परमात्मा से संबंधित कविताएं हैं। उनकी मूर्त मानवदर्श वाली कविताएं इनसे भिन्न हैं। पर 'कामायनी' ऐसे आदर्श मानव के निर्माण का काव्य है, जो मूर्त मानवदर्श को प्रस्तुत कर सके।

मुक्तिबोध ने इसी को नहीं समझने के कारण एक ओर 'कामायनी' को 'रहस्यवादी' काव्य कह दिया है और दूसरी ओर काव्य में निरूपित 'हिमालय' के अंतर्गर्भी अर्थ की अनभिज्ञतावश उसे 'पलायनवाद' भी मान लिया है। उनके बहुत-सारे आरोपों के मूल में उनके बोध की यह तथ्यगत भ्रांति ही सक्रिय है। आगे अपने आरोप में मुक्तिबोध कहते हैं कि श्रद्धा की 'कृपा से मनु को एकाएक 'आत्मज्ञान' प्राप्त होता है' और वह 'हिमालय' जाकर 'तपस्या' करता है। पर सच्चाई यह है कि मनु को 'एकाएक आत्मज्ञान' नहीं होता, अपितु श्रद्धा पहले उसे 'स्वर्श-दीक्षा' देकर, उसमें 'शक्तिपात' कर मानसिक दृष्टि से उसके अंतःकरण' को अनुकूलित करती है और उसकी 'कुंडलिनी' को जाग्रत कर देती है। यहां से उसकी उन्नयन-यात्रा आरंभ होती है और वह आंतरिक 'हिमालय' तक पहुंचता है। प्रसाद ने 'तपोवन' जैसे प्रतीक से भी इसी की समतुल्यता को संकेतित किया है। यहीं उसे मानसिक हिमालय पर, गगन-मंडल पर सहस्रार चक्र पर पहुंच जाने पर प्रत्यभिज्ञात्मक आत्मज्ञान (Self recognition) प्राप्त होता है। 'ममत्व' चला जाता है, समत्व आ जाता है। 'समरसता' मिल जाती है। मुक्तिबोध का आरोप है कि मनु हिमालय पर आकर तपस्या करते हैं, जो उनका शुद्ध और अमिश्रित 'पलायनवाद' (Escapism) है। पर कामायनीकार प्रसाद ने मनु को केवल ध्यानमग्न दिखलाया है। यह उनके आंतरिक आकाश की उपलब्धिगत तल्लीनता को दिखाता है, जिसका संबंध योग से है। जह यहां हिमालय में जाकर वैयक्तिक मुक्ति के लिए तपस्यारत होने की स्थिति ही नहीं है, हर कहीं समत्व, समरसता और सबकी सेवा को अपनी ही सुख-संसृति मानने की स्थिति है, तब भला इसमें 'पलायनवाद' कहां से आ गया? मुक्तिबोध यहीं नहीं रूकते। वे अपने आरोपों में व्यंग्य-बाण साधने से भी नहीं चूकते- 'अब मानव की विजय मानसरोवर पर होगी... हमारे मनुजी 'मूंड मुंडाय भये संन्यासी'।' द्रष्टव्य है कि 'कामायनी' के 'आनंद' सर्ग में एकाधिक बार 'मानस' शब्द के प्रयोग हुए हैं। एक-दो द्रष्टव्य है- 'है यहां महाहद निर्मल/जो मन की प्यास

बुझाता/मानव उसको कहते हैं/सुख पाता जो है जाता।' फिर दूसरी बार- 'यात्री-दल ने रुक देखा/मानस का दृश्य निराला;। खग-मृग को अति सुखदायक। छोटा-सा जगत उजाला।' यहाँ 'मानस' भी अपना प्रतीकार्थ खोलता है। यह 'अंतःकरण' को प्रतीकित करता है। यह उनके लिए अत्यंत सुखदायी है, जो चंचल 'मृग' से 'खग' (खग=आकाश में गमन करने वाला) होकर, आंतरिक आकाश की यात्रा करने वाला है। अतः 'मानसरोवर' भी अपने अभिधेयार्थ तक सीमित नहीं है। इससे 'रजोगुण' से 'सतोगुण' का वह परिवर्तन संभव है, जहाँ मानव की विजय का तो प्रश्न नहीं उठता, पर मानवता अवश्य विजयिनी हो उठती है। पूरी 'कामायनी' में न कहीं मुक्तिशोध-कथित 'पलायन' है और न कहीं 'संन्यास'! 'आत्मज्ञान' या 'प्रत्यभिज्ञान' प्राप्त करने वाला, अहन्ता और ममता मिटाकर समता-बोध और 'समरसता' प्राप्त करने वाला व्यक्ति संन्यासी नहीं होता- 'हम अन्य न और कुटुंबी/हम केवल एक हर्मी है' तथा 'जीवन-वसुधा समतल है/ समरस है जो कि जहाँ है' और 'मानव कह रे 'यह मैं हूँ'/यह विश्व नीड़ बन जाता'- कहने वाले तथा अभेद दृष्टि प्राप्त करने वाले मनु 'संन्यासी' नहीं हैं, बल्कि लोक-उन्नायक, लोक-सेवक और इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया की एकान्विति के सामंजस्यकर्ता हैं। अतः उन्हें जगत्-विमुख 'संन्यासी' कहना अपनी पूर्वग्रस्त दृष्टि से 'कामायनी' के दर्शन का उपहास करने का निरर्थक प्रयास है।

अपने पांचवें आरोप में मुक्तिबोध पुनः प्रसाद का उपहास उड़ाते हैं- 'हम इस सामरस्यवादी दर्शन का व्यावहारिक रूप क्यों न देखें? हिमालय में बैठे श्रद्धा-समन्वित मनु कहते हैं- 'सबकी सेक न पराई/वह अपनी सुख-संस्मृति है;/अपना ही अणु-अणु, कण-कण/द्वयता ही तो विस्मृति है।/मैं की मेरी चेतनता/सबको ही स्पर्श किए-सी;/सब भिन्न परिस्थितियों की,/है मादक घूंट पिये-सी।' कहने का तात्पर्य यह है कि हिमालय में बैठकर श्रद्धा-मनु सबकी सेवा कर रहे हैं। अगर 'मैं' की चेतनता सर्वाश्लेषी होकर अनगिनत भिन्न परिस्थितियों की मादक घूंट पिए हैं, तो दुनिया का कल्याण हो चुका! एक ही जगह स्टालिन और हिटलर का मजा आ गया!' (द्रष्टव्य : 'कामायनी : एक पुनर्विचार'-7, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) यहाँ मुक्तिबोध ने मनु के अनुभूत ज्ञान-कथन को भ्रान्त रूप में उनके द्वारा संपादित कर्म-यज्ञ समझकर हिमालय पर सेवा करने का आरोप किया है। पर कामायनीकार का अभिप्रेत यहाँ यह दिखाना है कि जो मनु कभी अपनी रजोगुणी प्रवृत्ति से परिचालित होकर 'तुच्छ नहीं हैं अपना सुख भी/श्रद्धे! वह भी कुछ है;/ दो दिन के इस जीवन का तो/वही चरम सब कुछ है' कहता था, और जिसे सतोगुणी श्रद्धा यह कहती थी कि 'सुख को सीमित कर अपने में/केवल दुःख छोड़ोगे;/ इतर प्राणियों की पीड़ा लख अपना मुंह मोड़ोगे', वही मनु आज प्रत्यभिज्ञात्मक आत्मज्ञान प्राप्त कर यह कहता है कि 'सबकी सेवा न परायी...', जो उसकी परिवर्तित सतोगुणी मानसिकता की द्योतिका है। पर प्रसाद की इसी काव्य-प्रोक्ति की अंतिम पंक्ति है- 'द्वयता ही तो विस्मृति है', जिस ओर मुक्तिबोध का ध्यान नहीं जा सकता है। फलतः इसकी तत्काल अगली काव्य-प्रोक्ति की उनकी समझ उद्भ्रान्त हो गई है और 'मैं की मेरी चेतनता' को उन्होंने 'समरसता' की चेतना



से जोड़ दिया है, जबकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। सच्चाई यह है कि यह विचार्य काव्य-प्रोक्ति-‘मैं की मेरी चेतनता’- को ‘द्वयता ही तो विस्मृति है’ की व्याख्या के रूप में निरूपित किया गया है। ‘मैं’ की यह चेतनता-‘अहन्ता’ और ‘ममता’ की स्वार्थपरक रजोगुणी चेतनता है, जिसने सबको ही उनकी मानसिकता में स्पर्श कर रखा है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की यह सारी अहन्ता और ममता जैसे मादकता की घूंट पिए हुई है। इनसे अगली पंक्तियों में भी इनके शयन, जागरण और स्वप्न की स्थिति निरूपित हुई है। पर अब यही मानव चेतना का साक्षी बनता है, अहन्ता और ममता के विकारों से मुक्त हो जाता है, प्रसन्न होता है और अंतःकरण (मानस) के मधुर मिलन की गहराइयों तक पहुंचता है तब वह सार भेद-भाव से परे हो जाता है, ऊपर उठ पड़ता है। समत्व बुद्धि प्राप्त कर लेता है। सबमें अपने ‘मैं’ का ही ‘अस्मि भाव’ देखता है और पूरे विश्व को मानवता का नीड़ बना देता है। पर मुक्तिबोध का संकट ‘पाठ’ की सही पहचान-परख नहीं कर पाने का, उसके ‘कथ्य’ और ‘कथन’ को नहीं समझ पाने का संकट है। फलतः वे ‘द्वयता’ के कथन को, ‘अहन्ता’ और ‘ममता’ की मादक घूंट पिए रहने के कथन को भ्रांत रूप में ‘समरसता’ का व्याख्यात्मक कथन मान लेते हैं’ और प्रसाद पर आरोप करते हुए बहुत ही निम्नस्तर पर जाकर बड़े ही कटूवक्तिपूर्ण, उपहासात्मक ढंग से प्रसाद में और मनु में (?) ‘स्टालिन’ और ‘हिटलर’ जैसे शासकों को एकत्र देखने लगते हैं।

मुक्तिबोध मार्क्सवादी विचारधारा के ऐसे कवि-लेखक हैं, जिनका यह विश्वास है कि दुनिया की सारी समस्याओं का समाधान मार्क्सवाद के पास है और यह भी कि विश्व में मानवीय सामाजिक समानता यही दर्शन ला सकता है और इस तरह का यही अकेला दर्शन है। ‘कामायनी’ की उनकी समझ हर दृष्टि से कच्ची है। न तो वे भारतीय संस्कृति और परंपरा को प्राचीन भारतीय वाङ्मय और दर्शन के आलोक में समझने में सफल हुए हैं और न ‘कामायनी’ जैसी काव्यकृति के प्रतिपाद्य और अभिव्यंजन को तथा उसकी पारस्परिकता को उसकी अर्थगर्भिता के आलोक में, उसकी तलान्वेषिता में गृहीत और उद्घाटित कर पाए हैं। ‘कामायनी’ के भावन और बोधन के क्रम में उन्हें लगता है कि यदि मार्क्सवाद का निर्णायक प्रभाव प्रसाद के युग में हुआ होता, तो संभवतः वे उसे अपनी इस काव्यकृति में ग्रहण कर चुके होते। इस दृष्टि से की गई उनकी यह टिप्पणी द्रष्टव्य है कि ‘...भारतीय समाज के अंदर मार्क्सवादी विचारधारा का उनके जमाने में कोई निर्णायक प्रभाव न होने के कारण तथा तत्कालीन सामाजिक विकास-स्तर की सीमाओं से ग्रस्त होकर वे इस वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता के विश्व को चिरंतन मान बैठे।’ (द्रष्टव्य : ‘कामायनी’-3, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) उनके इस मंतव्य के उत्तरार्ध का यदि हम विश्लेषण करें, तो तथ्य स्पष्ट होते हैं। पहला यह कि ‘कामायनी’ की बुनियादी समस्या वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता से उत्पन्न है। दूसरे, प्रसाद ऐसे भयावह विश्व की ऐसी भयावह समस्या को चिरंतन और स्थाई मान बैठे हैं। यदि ‘कामायनी’ को उसके साकल्य (Wholeness) में देखें और उसकी समस्याओं का तालिकांकन करें, तो उसकी समस्याएं निम्नलिखित रूप में सामने आती हैं-

1. प्रलय के पश्चात् चिंता, निराशा और विषाद-जन्य 'अकर्मकता' बनाम कर्ममयता की समस्या।
2. पुरुष और नारी के बीच अभियोजन की चिरंतन समस्या।
3. स्वार्थपूर्ण आत्मकेंद्रण बनाम समत्वपूर्ण लोकार्पण की समस्या।
4. नारी को भोग्या मानने वाले कामातुर, अधीर पुरुष के द्वारा अधिकृत सहकर्मिणी पर बलात्कार करने की समस्या।
5. शासक बनाम शासित के बीच शासक के द्वारा नियमोल्लंघन की समस्या।
6. शासन के नियमाधीन रहने बनाम नियमयुक्त रहने की समस्या।
7. अधिकारी बनाम अधिकृत के शोषण की समस्या।
8. शासक बनाम शासित प्रजा के बीच आश्रयदाता बनाम संघर्षकर्ता की समस्या।
9. पितृसत्तात्मक (Patriarchy) परिवार और समाज की समस्या।
10. तमोगुण-रजोगुण बनाम सती गुण की समस्या।

अतः 'कामायनी' की समस्या कहीं भी 'वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता' की समस्या नहीं है। मनु और उसकी प्रजा के बीच शासक और शासित के बीच जो संघर्ष होता है, उसका मूल कारण मनु के द्वारा इड़ा का बलात्कार किया जाना है- 'सिंह द्वार अरराया/जमता भीतर आई/ 'मेरी रानी' उसने जो चीत्कार मचाई' तथा 'और इड़ा पर यह जो अत्याचार किया है/ इसीलिए तू हम सबके बल यहां जिया है?/ आज वंदिनी मेरी रानी इड़ा यहां है? /ओ यायावर, अब तेरा निस्तार कहां है? यदि मनु द्वारा इड़ा पर बलात्कार कर उसकी शील-हरण नहीं किया जाता, तो संघर्ष की यह घटना नहीं घटती, क्योंकि प्रजा तो क्षुब्ध प्रकृति-प्रकोप से घबड़ाकर मनु के पास आश्रय लेने आई थी। यहीं मनु की प्रजा को यह स्मरण आता है कि मनु ने प्रजा को योग-क्षेप का वहन करने की अपेक्षा उसे संचय करने का लोभ सिखाया है, उसे आपसी होड़ाहोड़ी करने के लिए विचार-संकट में डाला है। उसने यंत्रों का निर्माण और व्यवहार कर मनुष्य को प्रकृति शक्ति से विरहित कर दिया है। उसने प्रजा-पालन की जगह, राज्य की सुख-शांति की जगह शांति का शोषण किया है और उनका जीवन जर्जर कर डाला है। अतः मुक्तिबोध का उक्त आरोप गलत है। वास्तविकता यह है कि प्रसाद ने मनुष्य के अहंकार, स्वार्थी मोह, लोभ, ममत्व, अधिकार-मद, कामोद्वेग, हिंस्र प्रवृत्ति आदि रजोगुणी गुण को चिरंतन माना है, जिसका विस्तार वर्ग-विहीन और कालविहीन मानव-समाज तक है। इसलिए जो सनातन है, इस समस्या को उन्होंने चिरंतन मान लिया है। इन सारी समस्याओं का आविर्भावक मनुष्य का 'अंतःकरण' है। इसीलिए इसका निदान भी उन्होंने मनुष्य के अभ्यंतर के परिवर्तन से किया है। यह भी द्रष्टव्य है कि यदि मार्क्सवाद उनकी युगीनता में वर्ग-वैषम्य और मानवीय समानता के लिए समाधान के रूप में भारत में प्रस्तावित और प्रचलित हो चुका होता, तो भी प्रसाद उस समाधान को स्वीकार नहीं करते। अपनी उक्त टिप्पणी में मुक्तिबोध ने जिस 'तत्कालीन सामाजिक विकास-स्तर की सीमाग्रस्तता का उल्लेख किया है, वह प्रसादजी के लिए

कोई नई बात नहीं थी। 'कामायनी' के आरंभ में 'चिंता सर्ग' में ही वे ऐसी चरम विकासात्मकता और आंतरिक ऋणात्मकता की परिणति तथा उसका परिणाम निरूपित कर चुके थे।

'कामायनी' की समस्या को मनु के चरित्र से जोड़ते हुए मुक्तिबोध ने इसे नितान्त आधुनिक समस्या माना है और लिखा है कि 'वह सनातन से चली आ रही किसी मानवता की प्रधान समस्या नहीं। रामायण-काल में या तुलसीकृत रामायण-काल में 'कामायनी' की समस्या नहीं थी, न वह रीति-काल में थी, न वह अति प्राचीन वैदिक समाज में थी।' (द्रष्टव्य : 'कामायनी : कुछ नए विचार', मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) कहना होगा कि मुक्तिबोध का यह अभिमत भी उनके मतिभ्रम का ही प्रमाण है। इससे पुनः यह पता चलता है कि वे 'कामायनी' की मूलभूत समस्या को समझ ही नहीं पाए हैं। 'कामायनी' की मूलभूत समस्या है मनुष्य की सभ्यता के उत्तरोत्तर हो रहे बाह्य विकास के अनुपात में ही उसकी प्रकृति में रजोगुणी प्रवृत्ति का अंधाधुंध विकास! सारी समस्याओं की जड़ यह रजोगुणी प्रवृत्ति ही है। यही मनुष्य के 'अंतःकरण' को लोक-विमुख, स्वार्थी, परिग्रही, अहंकारी, विद्वेषी, हिंस्र, कामोद्वेगी, क्रोधी, दुराचारी, अपराधी आदि बनाती है। कहना न होगा कि व्यक्ति मनुष्य और मानव-समाज की यह समस्या पुरातन काल से ही नहीं, अपितु प्राक्तन काल (Primordial age) से ही चली आ रही है। यह तब भी थी और आज भी हैं। इनमें केवल आनुपातिकता का अंतर है। पहले यह केवल फ्रायड-निरूपित इडम (ID) के इर्द-गिर्द थी। अब यह 'अहम' (Ego) में भी है, अर्थात् आवरण ओढ़कर सामने आई हैं आज पूरे मानव-समाज को इसने अपने वशीभूत कर रखा है। यह समस्या रामायण-काल में भी थी और महाभारत-काल में भी। रावण घोर रजोगुणी प्रकृति का है। वह सुपठित है, विद्वान है, तपस्वी है, और है राजा। पर यह घोर अहंकारी, मदोन्मत्त लोक-त्रासक, लोक को रूलाने वाला, घोर परिग्रही, अपने राज्य-अधिकार का विस्तार करने वाला, मायावी, युयुत्सु और भयानक रूप में हिंस्र है। सतोगुण का उसके आचरण में लेश तक नहीं है। कुंभकर्ण, मेघनाद, बालि और सुग्रीव ऐसे ही हैं। द्वापर में, महाभारत-युग में कंस और दुर्योधन ऐसे ही घोर रजोगुणी व्यक्तित्व हैं। वे अहंकार, राज्यमद, अधिकार-मद से भरे अपने बंधु-बान्धव के त्रासक, प्रतिशोधी और उनके प्रति युयुत्सु हैं। वे धर्म, मर्यादा और नैतिकता का तिरस्कार करने वाले छल-छद्म से भरे कुटिल और अनाचारी रजोगुणी व्यक्तित्व हैं। इस तरह के अनेक उदाहरण हमें इन दोनों युगों में प्राप्त होते हैं। भक्तिकाल और रीतिकाल इन दोनों में आक्रांता हैं, युद्ध है, मानव-समाज का कल्लेआम है। गाजर-मूली की तरह का नरसंहार है। धार्मिक स्थलों का, मंदिरों का ध्वंसन है, ग्रंथालयों का अग्निदाह है, बलात्कार है, अत्याचार है। ये सारे रजोगुणी कर्म हैं। वैदिक समाज में लोग सतोगुणी अधिक थे। अतः यह समस्या कम थी। पर उस समाज में भी यह समस्या थी। 'हरिश्चंद्रोपाख्यान' के अनुसार गोधन और मुद्रा-प्राप्ति के लोभ में 'शुनःशेष' को उसक पिता ने नरमेघ के लिए न केवल रोहित के हाथों बेच दिया था, बल्कि और स्वर्णमुद्राएं लेकर वह बलिवेदी पर उसकी बलि देने के लिए भी तैयार हो गया था। इसका सूक्तरूप उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। इस प्रकार मुक्तिबोध का यह आरोप भी गलत सिद्ध होता है।

मुक्तिबोध का एक आरोप यह भी है कि 'सारी 'कामायनी' में नवीन सभ्यता के उत्कर्ष, सुखोल्लास और सफलताओं पर कोई सर्ग नहीं। श्री-वृद्धि, विज्ञानोन्नति और सत्ता-ये तीन बातें नई सभ्यता की सफलताओं में गिनाई जा सकती हैं कि यह समाज विनाश के मुंह में चला जा रहा है।... इस यथार्थ की भीषणता में अगर कुछ कमी की जा सकती है, तो वह शासक की अच्छाई और उसके उदार दृष्टिकोण द्वारा ही संपन्न हो सकती है।' (द्रष्टव्य : कामायनी 3, मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) यहां यह स्मरणीय और द्रष्टव्य है कि 'कामायनी' की रचना के मूल में ही जिस सभ्यता के उत्कर्ष, सुखोल्लास और सफलताओं का आकस्मिक अवसार निरूपित हुआ है, वह आज की नवीन सभ्यता के विकास से कुछ भिन्न नहीं है। प्रसाद ने 'चिंता-सर्ग में मनु के अतीत-स्मरण के ब्याज से मानों इसी सुख-समृद्धि का निरूपण किया है- 'सुख केवल सुख का वह संग्रह/केंद्रीभूत हुआ इतना;/छाया-पथ में नव तुषार का/सघन मिलन होता जितना/सब-कुछ थे स्वायत्त, विश्व के बल, वैभव आनंद अपार;/उद्वेलित लहरों सा होता उस/समृद्धि का सुख-संचार।/कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती/अरुण किरण-सी चारों ओर;/सप्त सिन्धु के तरल कणों में, द्रुम-दल में आनंद-विभार।/शक्ति रही हां शक्ति; प्रकृति थी/पदतल में विनम्र विश्रांत;/कंपती धरणी, उन चरणों से/होकर प्रतिदिन ही आक्राल।' पर इस विकासगत समृद्धि और चरमोपताब्धि का परिणाम क्या हुआ? प्रलय आया और सब-कुछ मिटा गया- 'गया, सभी कुछ गया...।' यहीं से 'कामायनी' की कथा का आरंभ होता है। फिर नया नगर बसता है, नई सभ्यता उभरती है। पर विकास की दिशा बाहरी ही रहती है, आंतरिक नहीं हो पाती है। उसी आंतरिक विकास के संतुलनात्मक अभाव में प्रलय घटित हुआ था। अब पुनः उससे बचाव के लिए और मनुष्यता के सम्यक् आम्यंतर विकास के लिए प्रसाद मनु को 'रजोगुण' से 'सतोगुण' की यात्रा कराते हैं और मनु इसे श्रद्धा के मार्ग-दर्शन से उपलब्ध करता है। यही कारण है कि प्रसाद ने अलग से इसका विस्तृत उल्लेख नहीं कर संक्षेप में सारे संकेत दे दिए हैं। मुक्तिबोध 'कामायनी' में अपने इच्छित सर्ग की नियोजना नहीं होने और प्रलय का विस्तृत बिंबन-विवरण होने के कारण 'कामायनी' के विषय में यहां तक कहने से नहीं चूकते कि 'अपने जन्म से ही यह बालक रोगग्रस्त रहा।' पर वास्तविकता यह है कि इस काव्यग्रंथ का आरंभ रोगग्रस्त नहीं है, बल्कि इसमें निरूपित मनुष्य और उसकी मनुष्यता रोगग्रस्त है। इस समस्या और इसके समाधान की दृष्टि से ही कामायनी में कथा का विकास होता है। प्रसाद के द्वारा बार-बार यह स्मरण कराने पर कि यह समाज विनाश के मुंह में चला जा रहा है मुक्तिबोध मानो अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। मुक्तिबोध यथार्थ की इस भीषणता में कमी करने के प्रसादीय दृष्टिकोण को शासक में 'अच्छाई' और 'उदारता' का दृष्टिकोण समझते हैं। वे मनुष्य के 'अंतःकरण' के सतोगुणी रूपांतरण तक नहीं जा पाते और प्रसाद के समाधान को केवल 'शासक' तक सीमित कर देते हैं; जबकि यह समाधान पूरी मनुष्यता के लिए है। सभी मनुष्यों के 'अंतःकरण' को 'रजोगुणी'- मात्र तक सीमित न रहकर उसे सतोगुण की ओर उन्मुख करने का है। पूरी कामायनी इसके लिए प्रयत्नशील और प्रभावशील है। श्रद्धा को तो यह पहले

से ही उपलब्ध है, अंत में जाकर मनु इसे उपलब्ध कराते हैं। फिर इड़ा और मानव भी। यहां भी मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी विचारधारा को केंद्र में रखकर ही 'कामायनी' पर टिप्पणी की है।

'कामायनी' के चरित्रों पर आरोप करते समय भी मुक्तिबोध के भावना-विवेक पर मार्क्सवाद और आधुनिकता का चश्मा चढ़ा रहता है। फलतः पाठ (Text) के आलोक में उभर रहे पात्रों की शीलगत विशेषताओं पर उनकी दृष्टि नहीं जा पाती है। श्रद्धा के विषय में आरोप करते हुए वे लिखते हैं कि 'वह (श्रद्धा) किसी महान निर्माण के लिए आवश्यक प्रेरणा नहीं बन सकती, न सहकार्य कर सकती है। वह पहले जिस महान संदेश को लेकर उठी थी, उसकी प्रेरणा भी बाद में उसके पास न रही। वह मात्र एक गृहिणी बन गई।' (द्रष्टव्य : 'कामायनी : कुछ नए विचार', मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) पर सच्चाई यह है कि श्रद्धा मनु को जो महान संदेश 'कर्म' सर्ग में देती है- 'अपने में सब कुछ भर कैसे/व्यक्ति विकास करेगा। यह एकांत स्वार्थ भीषण है। अपना नाश करेगा।/औरों को हँसते देखो मनु/हँसो और सुख पाओ;/अपने सुख को विस्तृत कर लो/जग को सुखी बनाओ' अब वह मनु के व्यक्तित्व में उसी संदेश को साकारिता देने हेतु उसकी मार्गदर्शिका बनती है और उसे चरितार्थ कराती है। इस तरह 'कामायनी' में वह इस महान संदेश की प्रेरणा-भर नहीं बनती, बल्कि उसकी चरितार्थकर्म भी बनती है और मनु को 'रजोगुण' की सीमा से निकालकर उसे 'सतोगुणी' बना देती है। इसे 'महान निर्माण के लिए आवश्यक 'प्रेरणा' और 'संबल' न कहा जाए, तो भला और क्या कहा जाए? फिर 'कामायनी' के उत्तरार्ध में मनु के साथ रह कर वह सत्कार्य नहीं करती तो और क्या करती है? मुक्तिबोध ने 'श्रद्धा' को 'गृहिणी' तक सीमित कर दिया है, जबकि श्रद्धा इस सीमा से ऊपर उठती है। श्रद्धा और मनु का गंधर्व विवाह जैसा है। 'विवाह' के प्रयोजन और संकल्प को अथर्ववेद में निर्दिष्ट करते हुए बताया गया है- 'तावेव विवाहवहै। सहरेतो दधावहै। पुत्रान् प्रजनयावहै बहून।' विवाह का प्रयोजन 'वाह' (मैथुन)- कर्म संपन्न करना है, साथ-साथ रेत को धारण करना और अनेक संतानों को जन्म देना है। विवाह के साथ ही नारी गृहिणी बनती है। पत्नी और गृहिणी के रूप में वह संतान की देख-रेख तथा घरेलू कामों को संपन्न करती है। पर श्रद्धा एक ऐसी नारी है, जो केवल वैवाहिक स्तर पर सीमित नहीं है। 'विवाह' में मन और तन का मिलन होता है पर इससे एक स्तर ऊपर 'उद्वाह' होता है, जिसमें आत्मा और आत्मा का मिलन होता है। श्रद्धा एक ऐसी नारी है, जो 'विवाह' से ऊपर-उद्वाह' की स्थिति तक पहुंचती है। मनु से इस आत्मिक मिलन के स्तर पर ही वह 'लोकोत्सर्ग', 'लोककल्याण', का संदेश देती है। इसकी प्रेरिका और उद्बोधिका होने के साथ-साथ वह मनु को इसकी प्राप्ति कराने के लिए सहकार्य भी करती है। पर मुक्तिबोध को यह सब ज्ञात नहीं है। वह तो अपने इच्छित दर्शन के क्षेत्र में श्रद्धा से तदरूप 'प्रेरणा' और 'सहकार्य' की पूर्वाग्रहपूर्ण अपेक्षा रखते हैं। वे 'कामायनी' के पाठ (Text) की भावकीय यात्रा काव्यपाठ के आधार पर उससे गुजरते हुए पूरी नहीं करते, अपितु जो 'कामायनी' का प्रतिपाद्य नहीं है और उसकी कथावस्तु के लिए बेमेल और अवांछित है, अपनी वैसी 'अपेक्षा और मांग' (Demand)

के आधार पर 'कामायनी' की कटु आलोचना तक कर बैठते हैं, जो सर्वथा अनुचित और अविहित (Unjustified) है। यहां मुक्तिबोध 'कामायनी' पर अपने ही उस मत के विपरीत आरोप लगाते दिखते हैं, जो स्वयं उनके आलोचक को ही मान्य नहीं है- 'असल में आपको आलोचना के पूर्वग्रह और अभिरुचि-दोष की व्याख्या करनी होगी, उसके कारणों को प्रस्तुत करना होगा। मतलब यह कि जिस हम पूर्वग्रह या अभिरुचि-दोष कहते हैं, उसके पीछे बहुत बार प्रकृतिगत वैषम्य, जड़ता अथवा कुछ ऐसी प्रवृत्तियां- जो एक प्रकार के जीवन-तथ्यों को समझ सकती है, किंतु दूसरे प्रकार के जीवन-तथ्यों का मर्म समझने से इनकार कर देती हैं- आलोचकों में रहती हैं।' (द्रष्टव्य : मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ-19) कहना होगा कि यह तथ्य पूरी तरह 'कामायनी : एक पुनर्विचार' की आलोचना में मुक्तिबोध पर घटित होता है, क्योंकि इस संदर्भ में वे स्वयं अपनी मान्यता से अलग दूसरे प्रकार के जीवन-तथ्यों का मर्म समझने से इनकार कर देते हैं।

मुक्तिबोध का अगला आरोप इड़ा को लेकर है। उनके अनुसार 'इड़ा स्वयं भी रहस्यवादी है। वह जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय वाले सिद्धांत को विश्व का चिरंतन मूल नियम मानती है, किंतु पूंजीवादी नियम-विधान के प्रतिकूल जाने वाले के लिए उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं। वह यह नहीं समझ पाती है कि वर्ग-भेद के आधार पर उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं। वह यह नहीं समझ पाती है कि वर्गभेद के आधार पर उसके सुविभाजन विषम क्यों हो गए हैं और नियम क्यों टूटते हैं और नए (नियम) क्यों बन जाते हैं। वह अपनी अवनति, अपना हास स्वीकार करती है और समरसता का, अमूर्त समरसता का सिद्धांत मान लेती है।' (द्रष्टव्य : 'कामायनी : कुछ नए विचार', मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4) मुक्तिबोध को इड़ा के 'योग्यतम की विजय' वाले सिद्धांत को विश्व का चिरंतन मूल नियम मानने से शिकायत है। स्मरणीय है कि यह मूलतः डार्विन का सिद्धांत है, 'योग्यतमावशेष' (Survival of the fittest) का सिद्धांत! पर यह नर और नरेतर प्रकृति के पर्थवेक्षण पर आधारित है। संसार में यह आरंभ से ही सर्वत्र दृष्टिगत होता है और यह क्रम अब तक जारी है। मूलतः यह नियम 'यथार्थ' पर आधारित है। हां, इसको आदर्श (Ideal) रूप में काम्य नहीं माना जा सकता। पर जीवन में किसी को अभिप्रेरित, उत्साहित कर उसे स्पर्धा में जयी बनाने के लिए यह नियम कारगर सिद्ध होता है और इड़ा एक बड़ी सोद्देश्यता की दृष्टि से मनु को यह संदेश देती है- 'स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें/वे रह जावें;/संसृति का कल्याण करें/शुभ मार्ग बताएं।' 'कामायनी' में निरूपित नियम-विधान यह बताता है कि नियम का नियंता भी नियम के अधीन है। वह नियम से परे नहीं होता। वह उसकी अनुपालना से मुक्त नहीं हो सकता। पर मनु इस पर प्रश्नचिह्न लगाता है- 'मैं नियमन के लिए बुद्धि-बल से प्रयत्न कर,/इनको कर एकत्र, चलाता नियम बनाकर।/किंतु स्वयं भी क्या वह सब-कुछ मान चलूं मैं,/तनिक न मैं स्वच्छंद, स्वर्ण-सा सदा गलूं मैं!' और फिर उसकी यह मान्यता- 'विश्व बंधा है एक नियम से, यह पुकार-सी/फैल गई है इनके मन में दृढ़ प्रचार-सी।/नियम इन्हीं परखा, फिर सुख-साधन जाना,/वशी नियामक रहे, न ऐसा मैंने

माना।' पर इड़ा नियामक के अधीन नहीं रहने को स्वीकार नहीं कर पाती और कहती है- 'किंतु नियामक नियम न माने, तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ सा निश्चय जाने।' इड़ा के मन में जिस नियम के प्रतिकूल चलने वाले के लिए, नियंता द्वारा नियम को नहीं मानने के लिए सहानुभूति नहीं है, वह कोई पूंजीवादी नियम नहीं है। मनु अपनी कामासक्तता और कामांधता में नियंता होकर अपना ही बनाया नियम तोड़ते हैं। मनु की इसी अतिचरिता से नभ में भयानक हलचल के बीच रुद्र हुंकार होता है। आश्रय पाने आई मनु की आत्मजा प्रजा इड़ा पर मनु का बलात्कार देख मनु के लिए अभिशाप बन जाती है। मनु के द्वार प्रजा की रक्षा के दायित्व का निर्वाह नहीं हो पाता है। मनु के इस हेय कामाचार से राजा और प्रजा के वर्गों के बीच कभी न भरने वाली खाई फैल जाती है। ऐसी स्थिति में अब तक अविरुद्ध रहने वाला प्रजावर्ग मनु के विरुद्ध हो जाता है। मनु प्रहार से युद्ध आरंभ करते हैं। प्रजा नियम की व्यवस्था को पद-दलित कर देती है- 'बड़ा विपक्ष-समूह मौन पद-दलित व्यवस्था।' 'रक्तोनाद मनु का न हाथ अब भी रुकता था; प्रजा पक्ष का भी न किंतु साहस झुकता था।' इस पूरे प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु ने राजा और प्रजा-सभी नागरिकों के लिए जो नियम-व्यवस्था बनाई थी, जिसका वह स्वयं अतिक्रमण कर देता है, यह वही नियम है। वस्तुतः यह राजतंत्र में स्त्री के शील और उसकी यौन-सुरक्षा का लोकतांत्रिक नियम है न कि मार्क्सवादी दर्शन में भर्त्सनात्मक रूप में निर्दिष्ट पूंजीवाद और पूंजीवादियों के हित का कोई नियम। मनु-निरूपित इस नियम में न तो राजा को किसी प्रकार की छूट है और न किसी प्रकार की अपवाद-स्थिति। तभी मनु इड़ा से कहते हैं- 'बाधा नियमों की न पास में अब आने दो।' यानी मर्यादा-विरुद्ध काम को रोकने के लिए नियम की बाधा वर्तमान है। यदि यह नियम-बाधा नहीं होती, यह नियम की छूट या अपवाद के अंतर्गत होता या यह वहां उचित घोषित किया गया होता, तो इसका विरोध न इड़ा कर पाती, न आकाशीय रुद्र, न महाशक्ति और न ही प्रजावर्ग! मुक्तिबोध कहते हैं कि इड़ा यह समझ नहीं पाती है कि उसके वर्ग-भेद आधारित सुविभाजन विषम क्यों हो गए हैं! पर इस विषमता का कारण अर्थ-केंद्रित वर्ग-विभाजन नहीं है, अपितु राजतंत्र में लोकतंत्रात्मक पद्धति पर स्त्री की शील-सुरक्षा के विषय में उसके बनाए गए चालू नियम का स्वयं नियन्ता के द्वारा तोड़ा जाना है। इस तरह यहां विषमता के उस सही कारण को मुक्तिबोध देख नहीं पाते हैं; जिसकी प्रकृति और परिणाम-दोनों से इड़ा अवगत है। शासक और शक्ति के बीच की यह विषमता आज के भारतीय लोकतंत्र में भी परिलक्षित होती है, जहां संविधान और नियमों को शासक वर्ग तोड़ता दीखता है। जहां तक वर्ग-विभाजन का प्रश्न है, यह अर्थ-केंद्रित नहीं होकर श्रम-केंद्रित है और कर्म के आधार पर ही वर्गों का विभाजन हुआ है। यह वर्ग-विभाजन यद्यपि मनु ने ही किया है- 'मैंने ही श्रमभाग किया फिर वर्ग बनाया!' पर यह पूंजीवादी वर्ग-विभाजन नहीं है, क्योंकि यहां प्रजा के लिए भी 'अपने वर्ग बनाकर श्रम का करते सभी उपाय वहां' की स्थिति है। मुक्तिबोध का यह भी आरोप है कि इड़ा को यह ज्ञात नहीं है कि नियम क्यों टूटते हैं और नए नियम क्यों बनते हैं। यहां यह द्रष्टव्य है कि इड़ा और मनु ने मिलकर जो राज्य बसाया,

सभ्यता विकसित की और नियमों की जो व्यवस्था की उसे मनु ने ही तोड़ा और इड़ा जैसी प्रमुख प्रजा पर अपनी कामान्धता में अतिचार-बलात्कार तक किया। 'कामायनी' में प्रजा को 'आत्मजा' कहा गया है। उस रूप में इड़ा भी आत्मजा ही हुई। इड़ा मनु से अपने संबंध को स्पष्ट करती कहती भी है- 'प्रजा तुम्हारी, तुम्हें प्रजापति सबका ही गुनती हूं मैं।' पर मनु इसके ठीक विपरीत उसे उत्तर देता है- 'प्रजा नहीं, तुम मेरी रानी, मुझे न अब भ्रम में डालो।' इस तरह यहां सबसे पहले अपने राज-धर्म और दायित्व का निर्वाह नहीं करने के कारण और राज-मर्यादा का पालन नहीं कर पाने के कारण नियम टूटता है। तभी प्रकृति-प्रकोप से भीत शरण मांगने आई प्रजा इसकी प्रतिक्रिया में इड़ा पर हुए अतिचार को देख विरोध-प्रदर्शन करती है। इसी में नए नियम के निर्माण की संभावनाएं भी निहित हैं। प्रसाद लिखते हैं- 'नियमन एक झुकाव दबा-सा, टूटे या ऊपर उठ जाए।' इड़ा अपने प्रयत्न में इसलिए हार मान लेती है, क्योंकि मनु को बाहर से बदलने के उसके सारे प्रयास विफल हो जाते हैं। वह मनु की व्यक्ति-केंद्रित, स्वार्थी और स्वेच्छाचारी मानसिकता को बदल नहीं पाती है। इड़ा 'संघर्ष' सर्ग में मनु से कहती है- 'यह जीवन उपयोग, यही है बुद्धि-साधना, अपना जिसमें श्रेय, वही सुख की अराधना। /लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में/प्राण-सदृश तुम रमो राष्ट्र की इस काया में।' पर मनु विश्व-कल्याण की इन बातों को नहीं मानता और इड़ा से पूछता है- 'मैं सबको वितरित करता ही सतत रहूं क्या?/कुछ पाने का यह प्रयास है पाप, सहूं क्या?/' 'इड़े मुझे वह वस्तु चाहिए जो मैं चाहूं/तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूं। तुम्हें देखकर सब बंधन ही टूट रहे अब/शासन का अधिकार चाहता हूं न तनिक अब।' इड़ा इसके पूर्व मनु को यह कह चुकी होती है कि क्षितिज-पटी (व्यक्ति हित और लोक हित के बीच करणीय, अकरणीय के द्वंद्व से मुक्त होकर) को उठाकर विश्व-कुहर में लोक-कल्याण का धननाद करते चलो। उसकी संगति में ताल-ताल पर चलो, जिससे इसकी लोक-लय छूट न जाए। तुम अपने स्वार्थ का विवादी स्वर इसमें मत छोड़ो। पर मनु इस आग्रह को ठुकरा देता है- 'तुम कहती हो, विश्व का लय है, मैं उसमें/लीन हो चलूं? किंतु धरा है क्या सुख इसमें!' इस प्रकार वह अपनी मानसिकता को बदलने विषयक सारा आग्रह ठुकरा देता है। ऐसी स्थिति में इड़ा अपने द्वारा अपनाए गए सभी बाहरी उपायों में जब विफल हो जाती है तब जाकर वह 'समरसता' को मनुष्य के अंतःकरण (मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार) में परिवर्तन लाने वाले माध्यम से मनु के व्यक्तित्व का कायाकल्प हो चुका होता है। मुक्तिबोध चाहते हैं कि इड़ा बाहर से 'समानता' लाने के लिए मार्क्सवादी दर्शन को अपनाती, पर 'कामायनी' के प्रतिपाद्य की साकल्यपरक संरचना में इस निदान को खारिज कर दिया गया है। पहले श्रद्धा भी मनु को बाहर से विचारों के द्वारा उसकी मानसिकता को बदलना चाहती है और बाद में इड़ा भी यही करती है। पर इस माध्यम से दोनों का किसी प्रकार की सफलता नहीं मिल पाती है। यही इस बात का संकेत है कि कोई भी बाहरी विचार-दर्शन, जो मनुष्य के अंतःकरण का परिवर्तन नहीं कर सकता, वह इस समस्या का सम्यक् और स्थाई समाधान नहीं हो सकता।



मुक्तिबोध मनुष्य के मन की बाहरी और अंदरूनी सतह का रहस्य समझते थे। उन्होंने लिखा है कि 'मनुष्य साधारणतः मानस की ऊपरी सतह पर रहता है। उसकी विविध इच्छाएं, अभिमान और बौद्धिक ज्ञान भी नहीं छिछले पानी में पनपने से उन्हें बाहर की ओर ले जाते हैं। बाह्य जगत में संतोष नाम की चीज नहीं मिल सकती। अपने अंदर सुख टटोलने के बजाय जब मानवी मन बाहर भटकता फिरता है, तब सिवा भाग्यवाद और निराशावाद के और दूसरा वाद उसे आश्रय नहीं दे सकता। (यदि उसमें कुछ भी भेदक सूक्ष्म दृष्टि है।) आशावाद का दूसरा नाम है आत्मबल। आत्मबल के लिए किसी ऐसी विशालता का आश्रय लेना होता है, जो हमारे जर्जर, अंध मानस को त्राण दे सके : जहां वह अपने प्राणों को टिकाकर- सुरक्षित होकर- जीवन के अंतर्बाह्य संकटों से लड़ सके।' (द्रष्टव्य : 'कुछ और डायरी', मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ-117-178) यहां मुक्तिबोध को समस्या की पहचान-परख तो ठीक है, पर उनका समाधान जिस 'विशालता का आश्रय' लेने पर निर्भर है, वह तो 'मार्क्सवाद' का विचार-दर्शन है। वे 'कामायनी' में निरूपित दर्शन की प्रकृति, उसकी आंतरिक परिवर्तन-क्षमता आदि की उपेक्षा कर अपने विचार-दर्शन को केंद्र में रखकर 'कामायनी' की आलोचना करते हैं। यह उचित नहीं है। यहां जो असंगति है, इसका अहसास मुक्तिबोध को है, पर यही असंगति उनकी इस आलोचना में विद्यमान है- 'यह बात अलग है कि एक विशेष अवधि में विशेष साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिए अथवा अनुत्साहित करने के लिए एक अलग नीति अपनाने के ख्याल से केवल एकदृष्टीय, एकरेखीय आलोचना की जाए।' कहना न होगा कि 'कामायनी' के विषय में उनकी आलोचना इसी एकदृष्टीयता और एकरेखीयता का शिकार हो गई है। (द्रष्टव्य : मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ-60) मुक्तिबोध अपने आरोपों में यहां तक कह देते हैं कि 'कामायनी' में और अध्याय जोड़े जाने चाहिए थे। यह ठीक वैसा ही है जैसा कभी जैनेंद्र ने कहा था कि मैं यदि 'गोदान' लिखता तो वह 125-130 पृष्ठों का उपन्यास होता। पर न जैनेंद्र ने दूसरा 'गोदान' लिखा और न मुक्तिबोध ने 'कामायनी' या वैसा कोई काव्य, जिसमें समस्याओं के स्थाई और सार्थक समाधान के रूप में मार्क्सवादी दर्शन की स्थापना की जाती! मुक्तिबोध ने ही कहीं लिखा है कि ऐसी कृतियों की आलोचना के लिए 'देखने योग्य यह होता है कि कवि ने जो कथा की संघटना की है वह कहीं दोषपूर्ण है क्या?' इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता जाता है कि कामायनीकार ने 'कामायनी' में जो कथा की संघटना की है वह अपने आप में प्रतिपाद्य, उद्देश्य और निरूपण- तीनों ही दृष्टियों से दोषरहित है। हां, मुक्तिबोध के आरोपों के अनुरूप यदि उसकी कथा-संघटना में परिवर्तन किया जाए तो वह न केवल दोषपूर्ण, बल्कि त्रिशंकु कथा-संघटना हो जाएगी। वह अपने संकल्प और साध्य से भ्रष्ट तो होगी ही, पर मुक्तिबोध के अभीष्ट साध्य को भी उसके कच्चेपन और त्रुटिपूर्ण रूप को 'मिसफिट' रूप में दर्शा सकेगी। इस तरह मुक्तिबोध 'कामायनी' की भावना और आलोचना-प्रक्रिया में कहीं भी न्याय नहीं कर पाए हैं, क्योंकि वे स्वयं 'कामायनी' को समझने में असफल रहे हैं। मैं प्रभाकर श्रोत्रिय के उस कथन से बिल्कुल सहमत नहीं हूँ कि 'मुक्तिबोध ने नए सिरे से

‘कामायनी’ का अनुशीलन किया।... लेकिन वे भी उसमें अर्धसत्य ही देख सके।’ (जनसत्ता, रविवारी, 16 मार्च, 2015, पृष्ठ-1) मेरी दृष्टि में मुक्तिबोध ने तारतम्य के रूप में ‘कामायनी’ का साकल्यपूर्ण अनुशीलन नहीं किया और न वे उसके किसी आंशिक सत्य को ही देख सके।

प्रसाद ने ‘कामायनी’ में ही अपने ऐसे प्रत्यालोचकों के लिए मानो अपना बहुत स्पष्ट मत व्यक्त कर दिया है- ‘मन जब निश्चित-सा कर लेता/कोई मत है अपना;/बुद्धि दैव-बल से प्रमाण का/सतत निरखता सपना/... सदा समर्थन करती उसकी/तर्कशास्त्र की पीढ़ी;/ठीक यही है सत्य।/यही है उन्नति-सुख की सीढ़ी/और सत्य।यह एक शब्द तू। कितना गहन हुआ है:/मेधा के क्रीड़ा-मंजर का/पाला हुआ सुआ है।’ (कामायनी, कर्म सर्ग) मुक्तिबोध भी ‘कामायनी’ की पाठ-प्रक्रिया से गुजरने के पूर्व ही ‘कामायनी’ के बारे में अपना विरोधी मत निश्चित कर लेते हैं। वे मार्क्सवाद की कसौटी पर ‘कामायनी’ को कसते हैं, जो कि उसका प्रतिपाद्य ही नहीं है। इसके लिए वे अपने बुद्धि-बल से ‘कामायनी’ की असफलता का प्रमाण ढूंढने लग जाते हैं। पर वे जो प्रमाण जुटाते हैं वे कारगर सिद्ध नहीं हो पाते हैं। मुक्तिबोध की ऐसी आलोचना की मेरे द्वारा ऊपर की गई प्रत्यालोचना इस तथ्य को स्पष्ट कर देती है। फलतः ‘कामायनी’ को असफल कृति घोषित करने का उनका प्रयास एक दुःस्वप्न ही सिद्ध होता है। भले ही मार्क्सवादी ‘कु’ तर्क उनका समर्थन करें और अपने दर्शन को ही उन्नति-सुख की सीढ़ी मानें। पर सत्य है क्या? उसकी प्रकृति क्या है? वह तो बुद्धि-सापेक्ष है- ‘मेधा के क्रीड़ा-पंजर का पाला हुआ सुआ’ है। मुक्तिबोध का सत्य ‘कामायनी’ पर आरोपित है, वह वहां ‘मिसफिट’ है, क्योंकि ‘कामायनी’ के भीतर से उद्भूत होने वाला सत्य कुछ और है। यह सतत अंतःकरण की शुद्धि से उद्भूत है। वह रजोगुणी बाह्य संघर्ष का सत्य नहीं है, बल्कि सतोगुणी ‘प्रत्यभिज्ञा’ का, आत्म-अभिज्ञान का सत्य है। ‘कामायनी’ में आदि से अंत तक इसी सत्य की लय-स्रोतस्विनी प्रवाहित है, कहीं मंद तो कहीं तीव्र और अंतगर्भी!

‘कामायनी’ में प्रसाद ने मानो ‘कामायनी’ की पाठ-प्रक्रिया का भी निरूपण कर दिया है। ‘इड़ा’ सर्ग में इड़ा जब मनु से कहती है- ‘क्षितिज-पटी को उठा बढ़ो ब्रह्मांड-विवर में/गुंजारित घननाद करो इस विश्व-कुहर में;/ताल-ताल पर चलो, नहीं लय छूटे जिसमें/तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें’/ तब वह मनु को स्वार्थ त्यागकर ब्रह्मांड-व्यवस्था को समझने का, लोक-लय को पकड़कर चढ़ने का और स्वार्थ के वशीभूत अहम्मन्यता और कामान्धता के विवादी स्वर नहीं छेड़ने का आग्रह करती है, जिसका मनु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह इस आग्रह को अपने कर्म से ठुकरा देता है और विश्व-व्यवस्था की लय को भंग कर देता है। वह स्वार्थ की क्षितिज-पटी को उठा नहीं पाता। वैश्विक जन-समूह के कल्याणार्थ विश्व के बीच जा नहीं पाता और उसकी लोक-चेतना का घन-नाद भी गुंजारित नहीं कर पाता। उस नाद के ताल-ताल पर चल नहीं पाता। वह वैश्विक एकलयता को भंग करता है और अपना विवादी स्वर छेड़ने लगता है, लोक से संवाद नहीं बना पाता है। ठीक इसी तरह ये पंक्तियां ‘कामायनी’ के पाठकों को भी दिशा-दान करती हैं। ‘कामायनी’ की सही पाठ-प्रक्रिया है उसकी बाह्य-संरचना

(क्षितिज-पटी) को उठाकर कृति के आंतरिक विश्व (ब्रह्मांड) में उतरना। कृति के पाठ में जो प्रतिपाद्य और सभिप्रायता का घन-नाद है, उसे पहचानना और उसे निरूपित करना। आदि से अंत तक मर्म के ताल-ताल पर चलना, उसे आत्मसात करना। अर्थवत्ता की उस आद्यांत प्रवाहित लय को तारतम्य में देखना, जिससे कोई 'लय' 'मिस' नहीं हो, छूट नहीं जाए। जब तक इसकी पूरी पहचान न हो जाए, इससे संवाद न स्थापित हो ले, तब तक किसी भी प्रकार का विवादी स्वर नहीं छेड़ना, नहीं उठाना। इस आलोक में यह पूछा जाना चाहिए कि 'कामायनी' के कितने ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने पाठक के रूप में इस पाठ-प्रक्रिया को पार किया है और कितने ऐसे हैं, जिन्होंने बिना इस पाठ-प्रक्रिया से गुजरे, बिना इस कृति की आत्मा में, इसकी अंतर्गर्भिता में उतरे बिना इसकी पहचान किए और बिना इससे संवाद स्थापित किए ही अपने-अपने विवादी स्वर छेड़ने को महत्वपूर्ण माना है और 'कामायनी' तथा कामायनीकार पर आरोप-पर-आरोप कर डाले हैं- 'मनन कर मनन, शकुति नादान/न पिक-प्रतिभा पर कर अभिमान।'

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि 'कामायनी' पर आरोप-पर-आरोप करने वाले सारे कवि-आलोचक 'कामायनी' के संवेदन-भावन में असफल रहे हैं। वे पूरी 'कामायनी' में अंतर्व्याप्त लोक-लय की पहचान नहीं कर सके हैं। वे 'कामायनी' में व्याप्त उस तनाव को पहचानने में भी असमर्थ सिद्ध हुए हैं, जो रजोगुणी बनाम सतोगुणी प्रकृति का तनाव है, जो भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के बीच का, 'अंतःकरण' (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) के संशोधन-परिवर्तन बनाम बाह्य (स्वार्थ-लिप्सु दैहिक सुख-भोग) की पुरस्सरता का तनाव है। इन आलोचकों ने न तो 'अध्यात्म' की और न ही 'प्रत्यभिज्ञा' की सही पहचान की है। यह इनकी समझ से परे है कि 'अध्यात्म' 'आत्म' को पहचानने की प्रक्रिया का ही विज्ञान है और 'प्रत्यभिज्ञा' भी आत्म की पहचान (Self Recognition) ही है। इन दोनों से मानसिकता निष्कलुष होती है। इसी से स्वहित की परिधि से बाहर निकल कर लोकहित की व्याप्ति में लीनता और परिग्रह से मुक्ति मिल पाती है। अतः 'कामायनी' की पहचान और परख के लिए सम्यक 'भावयित्री प्रतिभा' के साथ-साथ उपनिषद्, गीता और भारतीय संस्कृति का ज्ञान अपेक्षित है। तभी कामायनीकार और 'कामायनी' की मूल संवेदनों की सृष्टि-दृष्टि को समझा जा सकता है।



## आलोचना के परिदृश्य में 'पाठक' और 'पाठकवादी आलोचना'

कुमुद शर्मा

क्या हम साहित्य के खात्मे के युग में जी रहे हैं? साहित्य मनीषियों को यह आशंका उद्बलित कर रही है। इस आशंका के कुछ ठोस कारण हैं जिनमें एक प्रमुख वजह यह है कि हाई टेक्नोलॉजी के युग में संप्रेषण के नए-नए उपकरणों की उपलब्धता और अभिव्यक्ति के अनेक चैनलों की उपस्थिति ने साहित्य के समानांतर अभिरुचियों के नए द्वार खोल दिए हैं। साहित्य गंभीर चुनौती के घेरे में आ गया है। क्लासिकल साहित्य और लोकप्रिय साहित्य का भेद भी मिट सा गया है। यह शंका होने लगी है कि कहीं हम 'साहित्य के खात्मे के युग' में तो नहीं जी रहे हैं। ऐसे में जॉर्ज कोनार्ड की ये पंक्तियां याद आती हैं- 'यह एक खतरनाक समय है/शब्द की गरिमा नष्ट हो रही है/पात्र छिन्न-भिन्न हो रहे हैं;/ स्मृतियां अस्त-व्यस्त /और कोई भी यह कहकर अपने को/तसल्ली नहीं दे सकता/कि स्थितियां बदलेंगी।'

नयी टेक्नोलॉजी, नए संप्रेषण, नए चिंतन और नए दबाव से साहित्यिक परिवेश की यह स्थिति उभरती है कि सृजन और चिंतन अब समय को मूल्यवत्ता प्रदान नहीं करते बल्कि वे समय के द्वारा मूल्यांकित होने के क्रम में हैं क्योंकि समय उत्पादन का महत्वपूर्ण घटक है। समय की कमी, समय की मांग, समय का तनाव, समय का दबाव जैसे पद आज बार-बार दोहराए जा रहे हैं। रचना और आलोचना के बीच का द्वंद्व विकट रूप में सामने आ रहा है। रचना और आलोचना की द्वंद्वात्मकता और समानांतरता की व्यावहारिक चुनौती के संदर्भ में कहा जाता रहा है कि आलोचकों के दिशा निर्देश में लिखा जाने वाला साहित्य जीवंत नहीं हो सकता। यह कहने वाले रचनाकारों की कमी नहीं है कि उन्हें आलोचकों से अधिक भरोसा अपने पाठकों पर है, 'पाठक की उपस्थिति उनके लिखत को निगाह देती है और उनके शब्दों को अर्थ।' पाठ की चुप्पियां पाठकों द्वारा पहचान ली जाती हैं।

पुस्तक संस्कृति का महत्वपूर्ण घटक है पाठक। यह तथ्य विश्व के साहित्यिक फलक पर बार-बार सिद्ध हुआ है। अलबेयर कामू का जब एक जज के फैसले में उसकी खुद की नैतिक गिरावट पर लिखा नॉवेल 'द फॉल' छपा तो यूरोप में तहलका मच गया। फ्रांसीसी कम्युनिस्ट

पार्टी ने उन्हें बहिष्कृत कर रखा था। मगर कामू के उपन्यासों को पाठकों का अथाह समर्थन मिला जिसने उन्हें लोकप्रियता की ऊंचाई पर पहुंचा दिया। उनके उपन्यास 'द फॉल' 'स्ट्रेंजर' या 'आउटसाइडर' जब अमेरिका में प्रकाशित हुए तो पाठकों ने उन्हें हाथों हाथ लिया और कामू रातों-रात विश्व साहित्य के स्टार बन गए। यह पाठकों की शक्ति ही थी जिसके कारण वे कम्युनिस्ट पार्टी के बहिष्कार को तोड़ सके।

हिंदी साहित्य की बात की जाए तो देवकीनंदन खत्री के प्रथम उपन्यास 'चंद्रकांता' ने अपने आकर्षण से हिंदी के अनगिनत पाठक तैयार करके खत्रीजी को जिस तरह चर्चित बनाया वह अपने आप में एक करिश्मा था। यह हिंदी का पहला ऐसा उपन्यास था जिसकी सर्वसाधारण में खूब धूम हुई। उनकी तुलना अंग्रेजी के उपन्यासकार कॉनन डायल से की गयी। खत्रीजी पर अपने समकालीनों के आरोपों की बौछार होती रही कि- 'वे भीष्म और द्रोण की संतानों को भ्रष्ट कर रहे हैं।...हिंदी भाषी की हत्या का पाप ले रहे हैं जो कि नर हत्या से भी भयंकर है।' इसके बावजूद खत्रीजी के उपन्यासों ने उस समय धूम मचायी जब पाठकों के आत्मीय रिश्ते केवल कविता के साथ थे। उनके उपन्यासों ने पाठक समुदाय को अपने चुंबकीय आकर्षण में ऐसे जकड़ा कि पाठक लेखक की उर्वर कल्पना से प्रसूत उपन्यासों के पात्रों को वास्तविक जीवन के पात्रों में ढूंढने लगे। इसी तरह से हरिवंशराय बच्चन की 'मधुशाला' ने जनसाधारण में कविता का शौक पैदा किया। पाठकों द्वारा यह कृति ढूँढ-ढूँढकर पढ़ी गयी। इसने साहित्य के पटल पर साहित्यिकता और लोकप्रियता का द्वंद्व पैदा किया।

यह बहस का विषय हो सकता है कि कौन लेखक बड़ा है, कौन कालजयी। बिकने का आधार ही श्रेष्ठ साहित्य का आधार है या फिर पढ़ने के बाद भी मन में बनी रहनेवाली गूँज श्रेष्ठ साहित्य का निकष है। मगर सच्चा लेखक पाठक और पाठकीय प्रतिक्रिया का मुखापेक्षी होता है। साहित्य के वर्तमान परिदृश्य में जब 'साहित्य के रथ पर तरह-तरह की शक्तियाँ सवार हो गयीं हैं, सारथि एकदम विमूढ़ हो गया है' तब भी साहित्य का वास्तविक संरक्षक पाठक ही है। पाठक के रूप में साहित्य से गहरा लगाव महसूस करने वाले पाठकों की संख्या घटी जरूर है मगर पाठकों का अकाल बिलकुल नहीं है। साहित्य में जीने और रमने वाले ऐसे पाठकों की भारी जमात आज भी है जो साहित्य को जीवन के लिए 'आवश्यक खुराक' मानते हैं। सृजनधर्मी रचनाकारों के लिए 'साहित्य की प्रक्रिया मनुष्य के स्पंदन की प्रक्रिया के साथ जुड़ी हुई है और स्पंदन की प्रक्रिया ही सृष्टि की प्रक्रिया है।' अतः रचनात्मक सृष्टि की सार्थकता का अहम् पहलू पाठक है। पाठक द्वारा पढ़ी जाकर ही कृति का वास्तविक ध्येय सधता है।

आलोचना के परिदृश्य में पाठक कभी सहृदय, कभी चैतन्य, कभी मानव के रूप में समाहित रहा है लेकिन पाठकवादी आलोचना या रीडर रिस्पांस क्रिटिसिज्म ने पाठक और पाठकीय व्यक्तित्व की केंद्रीय भूमिका को पुस्तक संस्कृति का सर्वाधिक सशक्त पहलू माना है। बीसवीं शताब्दी के मध्य तैयार होने वाली पाठकवादी आलोचना की पृष्ठभूमि बीसवीं सदी के अंत तक आते-आते पुष्ट होती गयी। बीसवीं शताब्दी का यह समय 'अंतवाद' का उद्घोषक

बनकर आता है। टी.एस.इलियट ने 'उपन्यास की मृत्यु' की सूचना दी। एडमंड विल्सन ने पद को मरती हुई विधा बताया। इसी शती के पांचवें दशक में लेखक की मृत्यु के साथ मनुष्य के मृत हो जाने की भविष्यवाणी करते हुए कह दिया गया कि 'समुद्र के किनारे बनाए गए चेहरे की तरह मनुष्य का नामो निशान मिट जाएगा।' लेखक के संदर्भ में कहा गया कि एक संस्था के रूप में लेखक मर चुका है। लेखक के अवसान पर बहुतों की सहमति दर्ज हुई और इसी के साथ-साथ पाठक के युग की चर्चा में आलोचना की सैद्धांतिकी की धारा जुड़ गयी।

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक तक आते-आते पाठकवादी आलोचना ने साहित्य के अध्ययन और साहित्य की आलोचना में पाठक की सर्वोच्च शक्ति को स्थापित करने का अभियान चलाया। इससे पूर्व कृति और कृतिकार से उसके संबंधों की प्रकृति पर चर्चा के संदर्भ में कृतिकार की सृजनशीलता ही केंद्र में रहती थी। पाठक और कृति के संबंधों के व्यापक आयामों पर गहराई से विचार मंथन नहीं हुआ। पाठकवादी आलोचना ने पाठक की भूमिका को केवल गृहीता के रूप में ही सीमित न रखकर उसकी सृजनशीलता को भी केंद्र में रखा। कृति के प्रत्येक पाठ को कृति की अर्थवत्ता के नए संदर्भों में देखा। इस आलोचना धारा ने पाठ के अर्थ के लिए पाठक पर पूर्ण निर्भरता दिखाई। पढ़त की प्रक्रिया में पाठक को 'एक्टिव एजेंट' मानकर उसे अस्तित्व संपन्न बनाया। इस आलोचना का विश्वास है कि पाठक की शक्ति कृति के समानांतर नया रच लेती है।

ब्रिटिश और अमेरिकी आलोचना के साथ-साथ जर्मन विचारकों ने पाठकवादी आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया जिनमें स्टेनले फिश, वुल्फगांग ईजर, हांस रॉबर्ट जॉस, नॉरमन हॉलैंड, डेविड ब्लाइच, माइकेल रिफाटियर, जोनाथन कुलर आदि प्रमुख हैं। पाठकवादी आलोचना के विवेचकों की अवधारणाओं में एकरूपता नहीं है। उनके अर्थ ग्रहण के आधार भी भिन्न-भिन्न हैं इसलिए पाठकवादी आलोचना को एक निश्चित सैद्धांतिकी का रूप देना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। सूजन सलेमन ने अपनी पुस्तक 'द रीडर इन द टेक्स्ट : एस्सेज ऑन ऑडियंस एंड इंटरप्रिटेशन' (1980) में पाठकवादी आलोचना की वैविध्यपूर्ण स्थापनाओं को समेटते हुए उसके समस्त प्रवृत्तियों को छह भागों में बांटकर एक व्यवस्थित विवेचन उपलब्ध कराया है। उसने अलंकारशास्त्रीय, संकेतपरक- संरचनात्मक, दृश्य-प्रपंच विज्ञान विषयक, अर्थ -मीमांसात्मक, व्यक्तिनिष्ठ, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्यों में पाठकवादी आलोचना की प्रवृत्तियों और परिवर्तन को समझाया।

ऊपरी तौर पर प्रतीत होता है कि पाठकवादी आलोचना सामान्य प्रभाव डालने वाली वैयक्तिक आलोचना की पक्षधरता में खड़ी है। यह वस्तुपरक पाठ की वैयक्तिक आलोचना है। इसलिए यह अधकचरी, अधपकी स्थापनाओं और निरंकुश व्यक्तिगत टिप्पणियों को 'पाठ' पर थोपनेवाली आलोचना है लेकिन ऐसा है नहीं। सूजन सलेमन की पुस्तक पाठकवादी आलोचना के निर्वैयक्तिक संदर्भों को खोलती है। यह वस्तुतः आलोचना की नई धारा है जो पाठक की अस्मिता को वर्चस्वशाली आयाम देती है। पाठकवादी आलोचना की वैविध्यपूर्ण अवधारणाओं

में मूल मान्यताएं लगभग एक जैसी हैं। इस आलोचना पद्धति ने पाठक को केंद्र में रखकर उसे 'नव्य निर्माता' की भूमिका में प्रतिष्ठित किया और यह मान लेने का दबाव बनाया कि श्रेष्ठ आलोचना पाठकवादी आलोचना ही हो सकती है। इसके प्रवर्तकों ने घोषणा कर डाली कि 'लेखक भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान नहीं है, हर पाठक के हाथों 'पाठ' नए सिरे से रचा जाता है इसलिए हर पाठक 'स्रष्टा' है।' (जेनिस रेडवे, 1987)। इस तरह पाठकवादी आलोचना अर्थग्रहण की प्रक्रिया को अंतहीन बताते हुए पाठ की किसी अंतिम व्याख्या से इनकार करती है।

पाठकवादी आलोचना में 'पाठक के साथ-साथ' पढ़त के प्रकार्य को आधार बनाया गया। इसने उन सारे प्रतिमानों और सिद्धांतों को खारिज कर दिया जो कृतिकार के प्रति रोमानी दृष्टि रखते हुए उसकी 'निजता की पहचान' का आग्रह करते हैं। जो पाठ को एक ही या शाश्वत अर्थ देने की वकालत करते हैं। पाठकवादी आलोचना ने अमेरिकी नई समीक्षा (new criticism) के प्रभुत्व को चुनौती दी। एलिजाबेथ फ्रॉउंड ने अपनी पुस्तक 'द रिटर्न ऑफ द रीडर : रीडर रिस्पांस क्रिटिसिज्म (1987) में पाठकवादी आलोचना का बीज नई आलोचना में दूँडा और यह स्थापित करने की कोशिश की रचना की स्वायत्तता पर पूरा बल देने के कारण यह बीज अंकुरित न हो सका। नई आलोचना के केंद्र में कृति थी। नई आलोचना में कृतिकार के जीवनवृत्तात्मक एवं व्यक्तिपरक जानकारियों पर निर्भर रहने की अपेक्षा कलाकृति और कलाकृति के साक्ष्य पर निर्भरता दिखायी। पाठ के रूपगत और सौंदर्यपरक पक्षों पर बल दिया। नई आलोचना के समर्थकों का कहना था कि कृति जो कि स्थूल है, मूर्त है, जिसका वस्तुपरक अध्ययन किया जा सकता है उसे छोड़कर अमूर्त संदर्भों की खोज में शक्ति क्यों लगायी जाए। कृतिकार, कृतिकार का मानस उसका व्यक्तित्व, उसकी रचना प्रक्रिया, उसके ऐतिहासिक, सामाजिक संदर्भ, सहृदय की प्रतिक्रिया आदि के स्थान पर 'पाठ' को अध्ययन का केंद्र बताया। नई आलोचना के अंतर्गत यह सवाल भी उठाया गया कि सहृदय की प्रतिक्रिया पर आधारित समीक्षा दृष्टि जो कि अमूर्त है उसे अध्ययन का केंद्र कैसे बनाया जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में नई समीक्षा की सीमाओं पर मंथन शुरू हो चुका था। रूपवाद पर आधारित नयी समीक्षा पर काव्य की आत्मा को उपेक्षित करने का आरोप भी लगा। इसके पाठ केंद्रित आधार पर भी प्रश्नचिह्न लगने शुरू हो गए।

नई समीक्षा ने वस्तुपरक प्रतिमान के आलोक में पाठ के स्वायत्त, आत्मनिर्भर और एक शाश्वत अर्थ की वकालत की लेकिन पाठकवादी आलोचना ने इसे उलटते हुए पाठ की स्वायत्तता को प्रश्नों के घेरे में ला खड़ा किया और यह सिद्ध करने की कोशिश की कि पाठ किसी शाश्वत अर्थ का विधायक नहीं होता। पाठ में अर्थ वैविध्य की संभावनाओं से शायद ही किसी को इनकार हो। पाठ पढ़ने के लिए खुला वृत्त होता है- 'रचना मात्र खुला वृत्त होती है।.. उसका पुनः प्रस्फुटन नहीं रोका जा सकता। आपकी रचना आपके शब्दानुभव और जीवनानुभव के सामंजस्य से उदभिन्न हुई, यह सही है; पर वह जब साझेदारी की विवशता से

उन दूसरों के लिए समर्पित होती है, जिनमें अपने को पाने की अभिलाषा जगी होती है, तब वह बंधी कैसे रहेगी? उसका बंधन जैसे ही अपनी डाली से टूट जाएगा जैसे पके फल का डंठल ढीला पड़कर गिरने के पहले टूट जाता है। फल गुरुत्वाकर्षण के कारण, जिस धरती में उगा था, उसी की ओर खिंचता है। रचना का यह मोक्ष रचना की आगे ओर नए रूप लेने की संभावना है। (अनछुए बिंदु-पं विद्यानिवास मिश्र, पृष्ठ 22-23)

वॉल्टर जे स्लाटोफ ने अपनी पुस्तक 'विद रिस्पेक्ट टु रीडर्स' (1970) में इस बात पर बल दिया कि पाठ के संदर्भ में यह प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता कि इतिहास के विभिन्न कालों या भविष्य में पाठक उसे समान रूप से पढ़ें। पाठक स्वतंत्र चेता है, वह अर्थ ग्रहण की आजादी स्वयं ही अर्जित कर लेता है।

पाठकवादी आलोचना की प्रमुख अवधारणा है कि अर्थ का निर्णायक पाठ नहीं बल्कि पाठक है। पाठकवादी आलोचना में पाठक और पढ़त की प्रक्रिया को अतिशय महत्व मिला है। पाठक के अनुभव और उसकी अपेक्षाओं को सम्मान मिला है। इसने लेखक की सत्ता के स्थान पर पाठक की सत्ता को स्थापित करने का मुहिम चलाया। और आलोचना के परिदृश्य में पाठक को 'प्रभुत्वशाली हस्ती' के रूप में प्रस्तुत किया।

पाठकवादी नजरिए की ठोस अपील यह है कि पाठ को अस्तित्व में लाने का काम पाठक ही करता है क्योंकि उसके द्वारा पढ़ी जाने पर ही रचना अस्तित्व में आती है। अतः वास्तविक कर्म पाठक ही करता है। पाठक ही पढ़त की प्रक्रिया में टेक्स्ट के भाषा तंत्र से मुठभेड़ करता है। भारतीय साहित्य के पटल पर भी पढ़त की प्रक्रिया को कम महत्व नहीं मिला है किसी सृजनधर्मी रचनाकार का कहना है कि- 'भाषा एक प्रकार का छल करती है सब कुछ सीधे नहीं कहती, कुछ छिपाकर रखती है यह छिपाया हुआ तत्व सबको नहीं मिलता, यह बहुत मंजने वाले को मिलता है। बहुत गहराई से जो जाता है उसको मिलता है। जो सतह से संतुष्ट रह जाते हैं उनको नहीं मिलता।'

यानी पाठ के बीच की चुप्पियों में पाठक अपने ढंग से रंग भरता है। इसी बात की स्वीकृति मिखाइल बाख्तान की इन पंक्तियों में दिखाई पड़ती है- 'किसी भी सृजनात्मक कृति में कई आवाजें होती हैं। पाठक अपनी पढ़ने की प्रक्रिया में विशेष स्थितियों के अनुरूप इन आवाजों में चयन करता है'। इसको हिंदी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इस तरह समझा सकता है नयी कविता और नयी कहानी का फलक भिन्न-भिन्न प्रकार के पाठकों को भिन्न-भिन्न तरह से कविता और कहानी का अभिप्राय जानने और समझने की छूट देता है।

पाठकवादी आलोचना की सबसे शक्तिशाली स्थापनाएं जर्मन विचारक वुल्फ गांग ईजर की मानी जाती हैं। गांग के अनुसार पाठ अर्थ की संभावना उपलब्ध कराता है, पाठक निर्मित करता है। यहां यह सवाल पैदा होता है कि पाठक अर्थ कैसे निर्मित करता है? इसका जबाब है पढ़त की प्रक्रिया से। ईजर की दृष्टि में पढ़त एक अनुभव है। पाठ को पढ़ने की प्रक्रिया में एक पाठक का अनुभव दूसरे पाठक के अनुभव से भिन्न होता है। इसलिए हर पाठक पाठ



से एक ही अर्थ नहीं निकालता यानी उनका अनुभव एक नहीं होता। ईजर एक उदाहरण से बात स्पष्ट करते हैं- 'रात्रि के समय एक ही तारों के समूह को देखते हुए दो व्यक्तियों में से एक उसमें हल का बिंब देखता है दूसरा उसमें कलछी का बिंब देख रहा होता है।' (द रीडिंग प्रोसेस ए फेनॉमेनालॉजिकल अप्रोच; रीडर रिस्पांस क्रिटिसिज्म (सं-जेन.पी.टाम्पकिन्स पृ.50)

यह उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि पाठ में मौजूद अवकाशों को पाठक अपने ढंग से भरता है इसे गांग सृजन की प्रक्रिया ही मानते हैं- 'इस प्रकार शुरुआत होती है एक पूरी गत्यात्मक प्रक्रिया : लिखित पाठ अपने अलिखित निहितार्थों को आवश्यकता से अधिक धुंधला अथवा मलिन हो जाने से बचाने के लिए उनकी कुछ सीमाएं निर्धारित कर देता है, लेकिन साथ ही ये निहितार्थ भी, पाठक की कल्पना से उत्प्रेरित कर दिए जाने के कारण, प्रदत्त स्थिति को उस पृष्ठभूमि के रू-ब-रू रख देते हैं जो इसे (प्रदत्त स्थिति) इस के द्वारा अनुमानित अपने महत्व की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व प्रदान कर देती है।' (द रीडिंग प्रोसेस ए फेनॉमेनालॉजिकल अप्रोच; रीडर रिस्पांस क्रिटिसिज्म)।

सृजनात्मक कृतियों में अनेक रिक्त स्थान होते हैं, अनेक दबे हुए उप पाठ होते हैं यानी कई बार पाठ का अर्थ जितना दृश्यमानता में होता है उतना अदृश्यमानता में मौजूद रहता है। अर्थग्रहण की प्रक्रिया में पाठक की पाठ से मुठभेड़ विभेदात्मक संबंधों से अर्थ की अनेक संभावनाओं को उपलब्ध कराती है। कोई एक अर्थ दूसरे अर्थ की संभावनाओं के कपाट बंद नहीं कर सकता। ईजर की बात को इस तरह समझा जा सकता है अगर 'मैंने खोकर पाया देश को' इन पंक्तियों का अर्थ भिन्न-भिन्न लोगों से पूछा जाए तो हर व्यक्ति अपने अनुभव वैविध्य से पाठ का भिन्न अर्थ निकाल सकता है। कोई कह सकता है विदेश जाने पर देश के प्रति लगाव बढ़ा। कोई कह सकता है देश की अस्मिता खतरे में पड़ने पर देश प्रेम का जज्बा बढ़ा। देश से निष्कासित व्यक्ति इन अर्थों से भी अलग अर्थ निकाल सकता है। इस तरह वस्तुपरकता जब व्यक्तिपरकता से टकराती है तो अर्थ की अनंत संभावनाएं बनती हैं। यही वजह है कि पाठक क्लासिकल रचनाओं को जब पढ़ता है तो अपने समय के अनुरूप नई अर्थ छवियां गढ़ लेता है। एक फ्रेंच कवि ने सही कहा है कि- 'जब मैं किसी महान कवि को पढ़ता हूँ तो वस्तुतः मैं उसे नहीं पढ़ता वही मुझे पढ़ता है।'।

स्टेनले फिश पाठ के स्थान पर पाठक की व्यक्तिपरकता को एक नई सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं। फिश ने अपनी पुस्तक 'सेल्फ कंज्यूमिंग आर्टिफैक्ट्स' में यह स्पष्ट किया है कि पाठन अनुभव के दौरान साहित्यिक कृतियों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता। उनके अनुसार किसी रचना में अर्थ ऐसा नहीं होता जैसे डेंटिस्ट दांत निकाल देता है वैसे उसको निकाला जा सके। पाठ का अर्थ पाठक सापेक्ष होता है।

पाठकवादी आलोचना के प्रसंग में पाठक के स्वरूप, अर्थ का स्रोत, और अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया से संदर्भित सवाल महत्वपूर्ण हैं। पाठक को अर्थ का वर्चस्वशाली स्रोत मान लेने पर सवाल पैदा होता है कैसा पाठक? आदर्श पाठक की परिकल्पना क्या है? कोई भी पाठक या

फिर खास योग्यता और क्षमता रखने वाला पाठक? पाठक से क्या अपेक्षाएं हैं? क्योंकि पाठक की रचनाधर्मिता के लिए उसमें अनुभव प्रवणता, कल्पनाशीलता, और साहित्यिक समझ अपेक्षित है। पाठकवादी आलोचना की धारा में पाठक के वैशिष्ट्य की आकांक्षा से जुड़े कई विशेषण हैं। योग्य पाठक, जानकार पाठक, अभिप्रेत पाठक। अभिप्रेत पाठक की अवधारणा वुल्फ गांग ईजर की है। उनका अभिप्रेत पाठक ऐसा वांछित रुझान रखनेवाला पाठक है जो पाठ के प्रभाव हेतु जरूरी है। स्टेनले फिश 'विज्ञ पाठक की आकांक्षा रखते हैं। यह विज्ञ पाठक 'भाषिक सामर्थ्य' वाला पाठक है जो 'पाठन-रूढ़ियों में निष्णात' है जिसे साहित्यिक परंपराओं, साहित्यिक विधियों, और साहित्यिक सिद्धांतों की समझ है। माइकेल रिफाटियर अपनी पुस्तक 'सिम्योटिक ऑफ पोयट्री' (semiotic of poetry) में 'योग्य पाठक' को अच्छी पढ़त से पहचानते हैं। उनके अनुसार योग्य पाठक पाठ के स्तर पर उत्पन्न होने वाले अर्थ से आगे की यात्रा करता है। पढ़ने की सही प्रक्रिया में योग्य पाठक की निगाह उन संकेतों पर भी रुकती है जो सामान्य पढ़त में फिसल जाते हैं।

पाठकवादी आलोचना के प्रसंग में महत्वपूर्ण सवाल यह भी है कि वस्तुतः अर्थ कहां है? पाठक की सृजनशीलता का आधार क्या है? कृति की संरचना या कुछ और? ईजर के अनुसार अर्थ न पाठक में है और न पाठ में है बल्कि वह इन दोनों की अन्योन्य क्रिया से उत्पन्न होता है- 'दोनों (पाठ और पाठक) के बीच की इस अन्योन्यक्रिया के किसी भी वृत्तांत में प्रभावों की संरचना (पाठ) और प्रतिक्रिया की संरचना (पाठक) -दोनों को सम्मिलित किया जाना चाहिए।' (द एक्ट ऑफ रीडिंग, बाल्टीमोर : द जॉन हॉपकिंस यूनिवर्सिटी प्रेस, 1980 पृ.21) उनके अनुसार पाठ के अलिखित अंशों को भरते हुए पाठक एक प्रकार की सृजन प्रक्रिया से गुजरता है। पाठक और पाठ की अन्योन्य क्रिया से सृजित कृति को वे पाठ का वास्तविक आयाम मानते हैं।

फिश ने अपनी पुस्तक 'इज दियर अ टेक्स्ट इन दिस क्लास' (1980, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) में यह स्थापित करने की कोशिश की है कि 'पारंपरिक अर्थ में पाठ मात्र एक छलावा है।' और इस तथ्य को विवेचित किया कि जिस तरह वाक्य का अर्थ उसके पाठक के मस्तिष्क में होता है वैसे ही पाठ का अर्थ पाठ की संरचना में नहीं बल्कि पाठक के अनुभव में समाहित होता है।

जॉर्ज पुलेट ने अपने अध्ययन 'फेनॉमेनालॉजी ऑफ रीडिंग' (1969) में स्थापित किया कि मेज पर, किताबों की अलमारी में पड़ी किताब अस्तित्वहीन है। पाठ और पुस्तक के संदर्भ में उन्होंने कहा कि जब कोई पाठक किसी कृति को पढ़ता है तो वह पाठक में प्रविष्ट हो जाती है। बाहर भीतर का अंतर मिट जाता है। पढ़त के दौरान 'वस्तु' गायब हो जाती है। पुस्तक का बाह्य वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है। वह पाठक के आभ्यांतर का हिस्सा बनकर एक नया आंतरिक अस्तित्व प्राप्त कर लेती है। पुस्तक पढ़ी जाने पर वह पाठक के अंदर स्वयं को जीती है।

अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया के संदर्भ में सवाल पैदा होता है कि पाठक के द्वारा अर्थ ग्रहण की पद्धति अथवा अर्थ ग्रहण का विधान क्या है? पाठकवादी आलोचना ने 'पढ़त का रूपक' गढ़ा है। पाठकवादी आलोचना की सैद्धांतिकी ने यह घोषित किया कि 'एक्ट ऑफ रीडिंग इज लाइक अ डायलॉग बिटवीन द रीडर एण्ड द टेक्स्ट' अर्थात् पाठ के साथ पाठक का व्यक्तिगत संवाद होता है क्योंकि हर पाठक अपनी भावनाओं, अपनी रुचियां, और जीवन में उपलब्ध ज्ञान का इस्तेमाल पढ़त की प्रक्रिया में करता है। हर व्याख्या व्यक्तिनिष्ठ और विशिष्ट होती है। इस संदर्भ में पाठकवादी आलोचना की सैद्धांतिकी अर्थ मीमांसा, दृश्य प्रपंच विज्ञान (फेर्नोमेनालॉजी) और मनोविज्ञान का आधार ग्रहण करती है। फेर्नोमेनालॉजी के आधार पर अर्थ ग्रहण की बात जर्मन दार्शनिक एडमंड हुसल ने स्थापित की। उन्होंने दृश्यप्रपंच विज्ञान को गवेषणा की एक विधि के रूप विकसित किया। उनके अर्थ ग्रहण का आधार आनुभविक है। यथार्थ के मानवीय अनुभव की व्यक्तिपरकता की दृष्टि जो दृश्य जगत हमारे बोध का हिस्सा है उसी को वास्तविकता तक पहुंचने का साधन माना।

पाठकवादी आलोचना अर्थ ग्रहण के संदर्भ में मनोविज्ञान से भी सहारा लेती है। इस संदर्भ में नॉर्मन हॉलैंड और डेविड ब्लाइच का नाम उल्लेखनीय है। नॉर्मन हॉलैंड ने अपनी पुस्तकों 'द डायनेमिक्स ऑफ लिटरेरी रिस्पांस' (1068), तथा 'फाइव रीडर्स रीडिंग' (1975) में पाठक व्यक्तिनिष्ठ अनुभवों के धरातल पर साहित्य के वस्तुनिष्ठ पाठ को कैसे पढ़ता है इस पर उदाहरणों के साथ विचार किया है। उनके अनुसार 'मानव के रूप में हम एक ऐसे संसार में रह हैं जो व्यक्तिपरक भी होता है और वस्तुपरक भी।' पाठक पाठ को 'अपने अवचेतन-स्थित प्रेरकों की रोशनी में पढ़ता और समझता है'। उन्होंने 'अस्मिता प्रकरण' का आश्रय लेकर आलोचनात्मक सैद्धांतिकी को समझाया है। उनके अनुसार जब हम किसी पाठ को पढ़ते हैं तो हम अपनी अस्मिता की अनुरूपता की रोशनी में देखते हैं। साहित्यिक पाठ को एक विशेष आचरण और व्यवहार के आधार पर नए तरीके से रचते हैं। हॉलैंड मानते हैं कि- 'चाहे हम शब्द बनाने के लिए काले धब्बों को एक साथ रखने की सामान्य प्रक्रिया की बात कर रहे हों अथवा विषय निर्माण करने के लिए शब्दों को एक साथ रखने की अपेक्षाकृत जटिल प्रक्रिया की बात कर रहे हों अर्थ पृष्ठ पर चिह्नित शब्दों में अंतस्थ न होकर, सौंदर्य की भांति, देखनेवाले की निगाह में होता है।' (पोयम्स इन पर्सिस -1973, पृ.98)

डेविड ब्लाइच ने 'सब्जेक्टिव क्रिटिसिज्म' (1978) में पाठक के व्यक्तिनिष्ठ 'मानसिक पैराडाइम' को केंद्र में रखा। वस्तुपरकता को महज एक भ्रम मानते हुए आलोचना को पूर्णतः व्यक्तिपरक माना। उन्होंने माना कि अर्थपूर्ण अर्थग्रहण की प्रक्रिया के लिए पाठक की उन्मुक्त व्यक्तिनिष्ठ प्रतिक्रिया जरूरी है। उनके अनुसार 'मेरी प्रतिक्रिया और मेरी व्याख्या के स्वरूप एवं विषय दोनों का कारण व्यक्तिपरकता है।' कई बार पाठकों की व्यक्तिपरक प्रतिक्रिया एक जैसी क्यों होती है? या जब प्रत्येक पाठक अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से पाठ को पढ़ता तब एक समूह या समुदाय के सभी लोग उसमें एक जैसा अर्थ क्यों निकालते हैं। इसका कारण

ब्लाइच पाठ की वस्तुपरकता को न मानते हुए पाठकों की साझी व्यक्तिपरकता को मानते हैं।

पाठकवादी आलोचना के अंतर्गत पाठक की वैयक्तिक प्रक्रिया के सामाजिक आधारों की बात करते हुए 'व्याख्याकारों की बिरादरी' (interpretive communities) के संदर्भ में 'प्रतिक्रिया की सामूहिकता समरूपता' पर भी विचार किया गया है। पाठकवादी आलोचना इस प्रसंग में यह मानती है कि समान आस्थाओं, मूल्यों, और विश्वासों वाला विशेष पाठक समुदाय, या समूह एक विशेष पाठकीय रणनीति के तहत अपने पाठकीय व्यवहार को तय करता है। पाठ का विशेष अर्थ निकालता है। पाठ में अपने रंग भरता है। पाठकवादी आलोचना के इस तथ्य को एक उदाहरण की रोशनी में समझा जा सकता है। एक राजनीतिक पार्टी ने महाभारत और रामायण के ऐसे अंशों को एकत्रित करके अपनी पार्टी के राजनीतिक हित में एक खास समुदाय के विरुद्ध उसका पाठ करते हुए बंटवाया और यह प्रचारित करने की कोशिश की कि मनुवादी समाज किस तरह दलितों को दूसरे तीसरे दर्जे का प्राणी मानता है। यहां यह कहा जा सकता है कि जब कोई समूह, समुदाय, नस्लें, जातियां, उपजातियां किसी पाठ से समान अर्थ ग्रहण करती हैं तो वे व्यापक संदर्भ में व्यक्तिवादी हो जाती हैं। यही ब्लाइच की 'व्याख्याकारों की बिरादरी की साझी व्यक्तिपरकता' है और 'बिरादरी का आधार होता है चिंताओं की समरूपता।'

स्टेनले फिश ने अपनी पुस्तक 'इज दियर अ टेक्स्ट इन दिस क्लास? द एथॉरिटी ऑफ इंटरप्रेटिव कम्प्युनिटीज' (1980) में पाठक की वैयक्तिक प्रक्रिया में सामूहिक स्वभाव और परंपराओं की अवधारणाओं को स्वीकार किया है। विशेष अर्थ के लिए समूहगत मूल्य, सामूहिक सांकेतिक रूढ़ियां और वृत्तियां पाठक के मानस को गढ़ती हैं।

पाठकवादी आलोचना के कुछ सूत्र भारतीय काव्यशास्त्र और भारतीय आलोचकों की विचारसरणियों में ढूँढे जा सकते हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र की जमीन पर साधारणीकरण की परिकल्पना में पाठकीय रचनात्मकता का ही संकेत है। भारतीय काव्यशास्त्र में पाठक सहृदय के रूप में पहले से ही समादृत है जब अभिनवगुप्त शब्दशक्तियों की चर्चा में कहते हैं कि व्यंजना परिचित अर्थ से आगे जाकर एक और अर्थ खोलती है और उस अर्थ की प्रतीति केवल गहरी संवेदना से संपृक्त रसिक को ही होती है तो वे सहृदय पाठक का ही संकेत दे रहे होते हैं। साधारणीकरण की प्रक्रिया में सहृदय और कवि के बीच 'हृदय संवाद' की बात कही गयी और कहा गया कि 'हृदय संवाद' के अभाव में साहित्य का ध्येय नहीं सधता। हमारे यहां सहृदय पाठक की विवेचना भी खूब हुई। अज्ञेय पाठक शब्द से उस समुदाय विशेष का बोध कराते हैं जो 'विशिष्ट मानस संस्कारों से युक्त हों, जो परिष्कृत चेतना वाले हों, जिनमें संवेदनशीलता तथा सहानुभूति की विशिष्ट क्षमता हो, जिनमें वस्तुओं के मर्म तक पहुंचकर उनके आनंद-तत्त्व को चीन्ह लेने की उपयुक्त सामर्थ्य हो (नृत्तत्व तथा समाज दर्शन सं, दयाकृष्ण, गोपीचंद्र पाण्डेय पृ. 97)। हमारे चिंतक भी कला कृति को 'अपने में आत्मलीन स्वायत्त इकाई होने पर भी कोई स्थिर या ठहरी हुई सत्ता' नहीं मानते। उसे 'समय के चौखटों में बंद' नहीं मानते।

इस तरह पाठकवादी आलोचना ने कृतिकार की सत्ता को खत्म कर पाठक की सत्ता को स्थापित कर कला और साहित्य के फलक पर पाठक के सृजनात्मक आधार को पुष्ट किया। पाठकवादी आलोचना से पूर्व रचना के साथ पाठक की सहधर्मिता को स्वीकारा गया। यानी पाठ की सर्वांगीण अर्थवत्ता के साथ पाठक की अनुभव प्रवणता और सहधर्मिता का भी महत्व रहा लेकिन यह सहधर्मिता इस रूप में स्वीकृत नहीं हुई कि पाठक को सर्जक की भूमिका में समादृत कर सके।

पाठकवादी आलोचना की इस नई धारा ने उत्तर संरचनावादी दृश्यपटल पर पाठक की अस्मिता के विभिन्न आयामों के साथ पाठक के लोकतंत्र को रचा। इसने यह मानते हुए कि पाठक रचना के सूक्ष्म ब्योरों में अपने रंग भरते हुए शब्दों की अनगिनत व्यंजना के छंदों को पुनः रचता है। पाठक को सत्तावान बनाकर उसे 'पाठ' की व्याख्या का जनतांत्रिक फलक सौंपा लेकिन पाठ की व्याख्या का जनतांत्रिक आधार कोरा वैयक्तिक नहीं है। वस्तुपरक पाठ की व्यक्तिपरक आलोचना का भ्रम पैदा करनेवाली यह आलोचना वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता के द्वंद को समेटती है।

पाठकवादी आलोचना ने साहित्य की आलोचना के एकीकृत शास्त्र और शाश्वत पैमानों को ध्वस्त करते हुए साहित्य के अध्ययन या आलोचना की जो नयी क्रांतिकारी अंतर्दृष्टि प्रस्तुत की है। पाठक की सृजनशीलता को मुक्त होकर एक अलग पाठ रचने की जो छूट दी है। उसके सर्वस्वीकृत होने की दिशा में कई आशंकाएं हैं। इस आलोचना में टेक्स्ट की हर व्याख्या का स्वागत है। परिणामतः मूल पाठ के अवमूल्यन की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता इसीलिए पाठकवादी आलोचना का विरोध हुआ। पाठ के अर्थ के लिए पाठक पर पूर्ण निर्भरता को 'आलोचनात्मक पागलपन' कहा गया। इन सब के बावजूद इस सैद्धांतिकी का प्रदेय है कि इसने साहित्य और कलाओं के मंच पर पाठकों, दर्शकों की हैसियत और भूमिका की बहसों को खोल दिया है। आलोचना के नए आयामों की संभावनाओं के भविष्य का संकेत दिया है और इस बात का संकेत भी दिया है कि आने वाला समय आलोचना की पारंपरिक प्रक्रिया का नहीं होगा। साहित्य और कला के मापदंड के मानकों और उसके निकष पर सवाल उठेंगे। आलोचना का सर्वस्वीकृत पैमाना क्या होगा यह कह पाना किसी भी साहित्य के भविष्यवक्ता के लिए मुश्किल है लेकिन उस पैमाने में पाठक की सत्ता अहम होगी। पाठ की वैविध्यपूर्ण व्याख्याओं से ज्ञांकती पाठक की सत्ता को नकारना मुश्किल होगा। जनसंचार के इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों के बीच साहित्य के प्रति अभिप्रेत पाठक की उत्सुकता, जिज्ञासा और उत्कंठा को जगाने और बनाए रखने की चुनौती अवश्य रहेगी।



## आचार्य रामचंद्र शुक्ल की तर्क पद्धति

गोपाल प्रधान

शुक्लजी की तर्क पद्धति को कोई नाम देना जरूरी नहीं है लेकिन ध्यान तो वह अवश्य खींचती है। यह पद्धति उनके भाव या मनोविकार संबंधी निबंधों में व्यक्त हुई है। कहीं अलग से उन्होंने इसे स्पष्ट नहीं किया है लेकिन 'चिंतामणि- भाग 1' के निबंधों में वह आद्यांत समाई हुई है। आचार्य शुक्ल की यह तर्क पद्धति केवल उनके निबंधों तक सीमित नहीं है बल्कि उनकी आलोचना और विशेष रूप से 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में प्रकट होती है। इतिहास में हजारेक साहित्यकारों का जिक्र होने के बावजूद किन्हीं दो लोगों की साहित्यिक विशेषता के उल्लेख में दोहराव नहीं मिलेगा। ऐसा विश्लेषण अर्थात अलग अलग करके देखने और समझने की अगाध क्षमता से ही संभव है। निबंधों में इस पद्धति की पहचान सबसे अधिक आसानी से होती है।

सबसे पहले हमारा सामना द्वैत में द्वंद को रेखांकित करने वाली दृष्टि से होता है जिसमें परस्पर विरोधी तत्वों की मौजूदगी एक ही साथ दिखाई देती है। मसलन पहले ही निबंध 'भाव या मनोविकार' में पहला वाक्य है- 'अनुभूति के द्वंद ही से प्राणी के जीवन का आरंभ होता है।' यह जोड़ा सुख और दुःख की सामान्य अनुभूतियों का है। एक ही प्राणी में ऊपर से आपस में विरोधी प्रतीत होने वाली अनुभूतियों की उपस्थिति के अलावा उनकी बढ़ती हुई जटिलता की व्याख्या के लिए वे उस समय यूरोपीय चिंतन में प्रभावी एक अन्य दार्शनिक पद्धति की मदद लेते हैं। उसे हम विकासवाद के नाम से जानते हैं और उसका असर भी मौजूद है जब वे जीवन के आगे बढ़ने के साथ इनकी जटिलता को भी बढ़ता हुआ दिखाते हैं। ध्यान देने की बात है कि विकासवाद प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति थी, खासकर वनस्पति विज्ञान की जिसमें किसी वनस्पति में उसके ही आंतरिक गुणों का विकास दिखाई देता था लेकिन आचार्य शुक्ल के लिए विकास का मतलब इन्हीं अनुभूतियों का आंतरिक विकास नहीं बल्कि मनुष्य के सामाजिक जीवन का विकास है जिसके साथ ये अनुभूतियां क्रमशः जटिल होती जाती हैं। सामाजिक जीवन के इस विकास को वे दुनिया के बारे में व्यक्ति की बढ़ती हुई जानकारी से परिभाषित करते हैं- 'नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे संबंध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के भिन्न भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार

कहलाते हैं।' सामान्य मनोभावों से शुरू होकर जटिल मनोभावों की ओर यह विकास अपनी यात्रा में व्यक्ति की उम्र में बढ़ोत्तरी के साथ ही समाजीकरण की बढ़ोत्तरी के चलते उसके ज्ञान के विस्तार को मान्यता देता है। मनोभावों के विकास कि यह समझदारी ज्ञान के विकास के साथ ही मनुष्य की संवेदनशीलता के भी विस्तार के समूचे आयाम समेटे हुए है। संभवतः इसी समझ के विनिवेशन से साहित्य की ऐसी धारणा की स्थापना होती है जिसके अनुसार साहित्य मानव मन के भावजगत से जुड़ा होता है और धार्मिक कृतियों के मुकाबले सार्वभौमिक पहुंच रखता है। जिस मनुष्य के भावजगत को वह संबोधित होता है वह मनुष्य ऐहिक प्राणी है और उसकी भावनाओं का निर्माण इसी दुनिया-समाज में होता है। इसी के चलते साहित्यिक रचना को भी अपना विषय इसी दुनिया-समाज से उठाना पड़ता है तभी वह पाठक के मन में वांछित भावों को उद्बुद्ध कर पाता है।

चूंकि ये भाव यौगिक यानी आपस में मिले हुए होते हैं इसलिए पहला काम उन्हें अलगाकर पहचानना है। इसके लिए शुक्लजी जिस पद्धति का सहारा लेते हैं उसे अरस्तू द्वारा प्रस्तुत परिभाषा की परिभाषा से सबसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। विल ड्यूरो ने अपनी किताब 'द स्टोरी आफ फिलासफी' के दूसरे अध्याय में बताया है कि अरस्तू के अनुसार किसी भी बेहतरीन परिभाषा के दो अंग होते हैं- सबसे पहले जिस चीज की परिभाषा करनी है उसे उससे मिलते जुलते लक्षणों की चीजों के प्रवर्ग में रखना होता है, फिर यह बताना होता है कि उस प्रवर्ग की बाकी चीजों से उसकी भिन्नता क्या है। इस पद्धति को हम शुक्लजी द्वारा भावों को एकदम स्पष्ट करने की चेष्टा में सफलता से लागू करते हुए देखेंगे। पहले हमने जिन दो प्रवर्गों का जिक्र किया अर्थात् सुखात्मक और दुखात्मक अनुभूतियों के प्रवर्ग, उनमें शुक्लजी समस्त भावों को विभाजित करते हैं, उसके बाद उनकी विशेषता बताते हैं। विशेषता बताने के लिए जरूरी है कि किसी भाव को शेष भावों से अलगाया जाए। उदाहरण के लिए दुखात्मक अनुभूतियों के प्रवर्ग में से वे क्रोध और भय को इस तरह पहचनवाते हैं- 'हानि या दुःख के कारण में हानि या दुःख पहुंचाने की चेतन वृत्ति का पता पाने पर हमारा काम उस मूल अनुभूति से नहीं चल सकता जिसे दुःख कहते हैं बल्कि उसके योग से संघटित क्रोध नामक जटिल भाव की आवश्यकता होती है। जब हमारी इंद्रियां दूर से आती हुई क्लेशकारिणी बातों का पता देने लगती हैं, जब हमारा अंतःकरण हमें भावी आपदा का निश्चय कराने लगता है; तब हमारा काम दुःख मात्र से नहीं चल सकता बल्कि भागने या बचने की प्रेरणा करनेवाले भय से चल सकता है।' इससे क्रोध और भय के बीच समानता और अंतर का पता चलता है। समानता यह कि दोनों दुःख से पैदा होती हैं; क्रोध दुःख के चेतन (ज्ञात) कारण के प्रति पैदा होता है जबकि भय दुःख के अचेतन (अज्ञात) कारण से होता है।

भावों की मौजूदगी मात्र का कोई अर्थ नहीं। भावों के फलस्वरूप इच्छा का जन्म होता है जिससे विभिन्न शारीरिक प्रयत्न प्रकट होते हैं लेकिन इन प्रयत्नों से भी महत्वपूर्ण है भाषा जिससे इसकी अभिव्यक्ति में व्यापकता आती है। शुक्लजी कहते हैं- 'बात यह है कि भावों

द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार परिमित होते हैं। पर वाणी के प्रसार की कोई सीमा नहीं। उक्तियों में जितनी नवीनता और अनेकरूपता आ सकती है या भावों का जितना अधिक वेग व्यंजित हो सकता है उतना अनुभाव कहलानेवाले व्यापारों द्वारा नहीं।' इस तरह इस पूरे विवेचन में भाषा भी एक महत्वपूर्ण संकेतक के बतौर विचारणीय हो जाती है। साथ ही 'अनुभाव' जैसी शब्दावली का प्रयोग हमें इस तथ्य के प्रति जागरूक रखता है कि बात मनोविज्ञान की नहीं, काव्यशास्त्र की हो रही है। यह अलग बात है कि वांछित मनोभाव को जगाना साहित्यिक रचना का उद्देश्य होता है इसलिए मनोभावों का काव्यशास्त्रीय विवेचन भी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण पर आधारित है।

भावों का यह समस्त विवेचन बिना किसी कारण नहीं किया गया वरन इसके पीछे निश्चित उद्देश्य हैं। ये उद्देश्य उनके इस वाक्य से स्पष्ट होते हैं- 'समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाए जाते हैं।' इसी बिंदु पर आचार्य शुक्ल भावों के सामाजिक प्रकार्य की दृष्टि से उनका विवेचन करते हैं। भावजगत के परिष्कार का मकसद 'नरसत्ता' का प्रसार है क्योंकि 'रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित नहीं हो सकता।' यहां स्वाभाविक रूप से 'नर' का अर्थ मनुष्य समझना होगा। हम सभी जानते हैं कि उस समय भाषा में लिंग संवेदनशीलता उतनी नहीं थी। लेकिन मनुष्य के प्रति भी बहुत ही व्यापक दृष्टि अपनाई गई है। उसका प्रसार मानव समाज तक तो है ही, प्राणी जगत भी उसी के भीतर समाहित हो जाता है। इससे भी आगे बढ़कर शुक्ल जी के चिंतन में समूची प्रकृति के अभिन्न अंग के रूप में मनुष्य दिखाई पड़ता है। यह बात तब और पुष्ट हो जाती है जब हम पाते हैं कि शुक्लजी कविता का उद्देश्य 'शेष प्रकृति' के साथ मनुष्य के 'रागात्मक संबंधों की रक्षा और निर्वाह' घोषित करते हैं। स्वाभाविक रूप से शेष प्रकृति में किसी एक व्यक्ति के अलावा समस्त मानव समाज, मानवेतर प्राणी जगत और समूची प्रकृति आ जाते हैं। इन सबके बीच आपसी निर्भरता को बचाए रखना ही मानव समाज की स्थिति के लिए भी उन्हें आवश्यक लगता था। इस मामले में आचार्य शुक्ल का चिंतन अपने समय से बहुत आगे तक रोशनी फेंकता है।

दूसरे ही निबंध 'उत्साह' में वे एक वाक्य में कहते हैं- 'दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनंद वर्ग में उत्साह का है।' कैसे? दोनों में ही प्रयत्न की प्रधानता होती है लेकिन एक दूसरे के विपरीत। भय में भागने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है तो उत्साह में कर्म में प्रवृत्त होने का। फिर उत्साह से मिलते जुलते भावों से उसका संबंध बताते हैं- 'धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।' लेकिन साहस भी सभी तरह का नहीं --केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनंद पूर्ण प्रयत्न या उत्कंठा का योग चाहिए।' सामाजिक उपादेयता के नजरिए से इसका मूल्यांकन करते हुए कहते हैं- 'उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है।' साथ ही भावों की अच्छाई बुराई का पैमाना भी तय करते हैं- 'किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति



के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है।' इसी निबंध में वे भावों की निरंतरता भी समझाते हैं और इसके लिए आम जीवन से उदाहरण चुनते हैं।

अगले निबंध 'श्रद्धा-भक्ति' में यह तर्क प्रक्रिया और भी परिपक्व रूप में प्रकट हुई है। उसका रूप वर्णन सबसे पहले इस तरह किया गया है कि उसे पहचानने में कोई कठिनाई न हो- 'किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके संबंध में जो एक स्थायी आनंद-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं।' ये गुण सामाजिक रूप से शुभ परिणामी होने चाहिए तभी 'जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित है।' इसके सबसे निकट का भाव प्रेम है इसलिए उससे श्रद्धा को साफ तौर पर अलगाने की कोशिश अनेक उदाहरणों के सहारे की गई है। उदाहरणों के बाद एकाधिक सूत्रात्मक वाक्य भी आए हैं। 'श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकांत। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है।' मध्यस्थ कोई व्यक्ति नहीं होता, श्रद्धास्पद के कर्म होते हैं। बात पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हो पाई थी इसलिए फिर से जोड़ा- 'प्रेम का कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है; पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुंचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर आ जाती है। एक (श्रद्धा-लेखक) में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरी (प्रेम-लेखक) में कर्मों को व्यक्ति द्वारा। एक में कर्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।' आधुनिक पूंजीवादी समय के स्वार्थी व्यक्तिवाद का प्रतिवाद शुक्लजी की चेतना में समाया हुआ है और उनके इस पहलू का मूल्यांकन होना अभी बाकी है। साहित्य का धर्म ही वे मनुष्य की व्यक्ति-सत्ता को कुछ देर के लिए लोक-सत्ता में विलयित कर देना मानते हैं।

आचार्य शुक्ल की विश्लेषण क्षमता का प्रमाण 'घृणा' शीर्षक निबंध में प्रस्तावित यह विभाजन है 'मनोविकार दो प्रकार के होते हैं- प्रेष्य और अप्रेष्य। प्रेष्य वे हैं जो एक के हृदय में पहले के प्रति उत्पन्न होकर दूसरे के हृदय में भी पहले के प्रति उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे क्रोध, घृणा, प्रेम इत्यादि। अप्रेष्य मनोविकार जिसके प्रति उत्पन्न होते हैं उसके हृदय में यदि करेंगे तो सदा दूसरे भावों की सृष्टि करेंगे। उसके अंतर्गत भय, दया, ईर्ष्या आदि हैं।' इस निबंध में की शुरुआत में ही उनकी तर्क पद्धति की विशेषताओं के दर्शन होने लगते हैं। शुक्लजी के समस्त लेखन की एक बड़ी विशेषता सूत्रवत वाक्य निर्माण है। इसका संबंध उनकी तर्क पद्धति से है। उनका पूरा ध्यान किसी भी वर्ण्य विषय से पाठक को अच्छी तरह परिचित करा देना है ताकि वह उसे पहचानने में भूल न करे। लोग उदासीनता को भी घृणा का नाम देते हैं लेकिन दोनों में महत्वपूर्ण अंतर है। यह अंतर हमारी सक्रियता से जुड़ा हुआ है। लिखते हैं- 'जिस बात से हमें घृणा है, हम चाहते क्या आकुल रहते हैं कि वह बात न हो, पर जिस बात से हम उदासीन हैं उसके विषय में हमें परवाह नहीं रहती; वह चाहे हो, चाहे न हो।' कहने की जरूरत नहीं कि

शुक्लजी की चिंता ऐसी चीजों को न होने देने की है जो 'अरुचिकर' होती हैं। इन चीजों के संबंध में उनका कहना है कि 'घृणा और श्रद्धा के मानसिक विषय' प्रायः सर्वस्वीकृत होते हैं।

घृणा को स्पष्ट करने के क्रम में वे इसके सामाजिक मूल को बताना चाहते हैं। इसी क्रम में मनुष्य के सामाजिक अनुभव में विस्तार आने से इस मनोभाव के पैदा होने की प्रक्रिया को सूत्रवत व्यक्त करते हैं- 'सृष्टि-विस्तार से अभ्यस्त होने पर प्राणियों को कुछ विषय रुचिकर और कुछ अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं।' यहां 'रुचिकर-अरुचिकर' के द्वैत पर अनायास नजर जाती है लेकिन घृणा का संबंध 'अरुचिकर' के साथ है इसलिए दूसरा ही वाक्य इसे स्पष्ट करता है- 'इन अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञान-पथ से उन्हें दूर रखने की प्रेरणा करनेवाला जो दुःख होता है उसे घृणा कहते हैं।' अरुचिकर की उपस्थिति से घृणा के अलावा क्रोध भी हो सकता है इसलिए उससे इसका अंतर करना उन्हें जरूरी लगा। अंतर स्थापित करते हुए फिर से सामाजिक जीवन से उन्होंने जो उदाहरण दिया है वही आचार्य शुक्ल की सामाजिक संवेदनशीलता को समझने के लिए पर्याप्त है। इन दोनों मनोभावों के बीच अंतर है कि 'हम अत्याचारी पर क्रोध और व्यभिचारी से घृणा करते हैं।' कुछ देर बाद ही यह अंतर सक्रियता से व्याख्यायित होने लगता है जब वे कहते हैं- 'घृणा का भाव शांत है उसमें क्रियोत्पादनी शक्ति नहीं है। घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखलाती है और क्रोध प्रवृत्ति का।' क्रोध का ही एक रूप वैर भी होता है, उससे घृणा का अंतर भी ध्यान देने लायक है- 'वैर का आधार व्यक्तिगत होता है, घृणा का सार्वजनिक।' आश्चर्य की बात नहीं कि सामाजिक दृष्टि से घृणा को जरूरी समझने के मामले में आचार्य शुक्ल अकेले नहीं हैं। उन्हीं के समकालीन लेखक प्रेमचंद ने भी 'साहित्य में घृणा की उपयोगिता' शीर्षक निबंध लिखा था। उस समय घृणा की जरूरत को रेखांकित करने की इन साहित्यिक कोशिशों के पीछे कहीं न कहीं सामाजिक और राजनीतिक बदलाव की चाहत थी।

उपर्युक्त विवेचन से शुक्लजी के लेखन की एक और विशेषता स्पष्ट होती है। उनकी साहित्य संबंधी आलोचना और विवेचन के मूल में गहरा नैतिक-सामाजिक दायित्व बोध मौजूद है। यह नैतिकता स्थूल विधि-निषेध पर आधारित न होकर सामाजिक कल्याण की भावना से आप्लावित है। उनके निबंधों के विश्लेषण से पता चलता है कि साहित्यालोचन के लिए केवल साहित्यिक रुचि ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि साहित्यिक रुचि भी सामाजिक कल्याण के नैतिक दायित्व-बोध से उपजती है। इसके अभाव में आलोचना काव्य-कला की पहचान की रीतिवादी रुचि में पतित हो जाने के लिए मजबूर है और साहित्येतिहास भी कवि कीर्तन मात्र रह जाएगा।

आचार्य शुक्ल के साहित्यालोचन के मूल में पूंजीवाद से उत्पन्न व्यक्तिबद्धता और स्वार्थ के बोलबाले तथा समाज के स्वस्थ संचालन के लिए आवश्यक सहज मानवीय गुणों की जगह लोभ की प्रतिष्ठा के प्रति उनकी नैतिक आलोचना है। ठोस रूप से कहें तो ब्रिटिश उपनिवेशवाद में इस पूंजीवादी लोभ को संस्थाबद्ध रूप प्राप्त हुआ था इसलिए इसकी आलोचना भी उनके काव्यालोचन की अंतर्धारा है। सभ्यता को वे मनोभावों पर 'आवरण'

डालने वाली चीज समझते थे और कविता को मनोभावों के सहज प्रकटन का माध्यम मानते थे। इस मामले में उन्होंने अपने समय में उठ रही स्वाधीनता की आकांक्षा का साथ दिया। तभी वे अपने समय की काव्य प्रवृत्ति (छायावाद) की पृष्ठभूमि का निरूपण करते हुए यह चिन्हित कर सके कि उस समय हमारे देश का स्वाधीनता आंदोलन, स्वतंत्रता के एक विश्वव्यापी उभार के अंग के रूप में दिखाई पड़ा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना की इन्हीं विशेषताओं के कारण हिंदी की प्रगतिशील आलोचना ने आम तौर पर उसे विरासत के रूप में ग्रहण किया और आगे बढ़ाया।



## चतुर छलमय पण्य यह

अनिल राय

साहित्य की किसी भी दूसरी विधा की तुलना में आज सबसे ज्यादा प्रश्नों, संदेहों और आरोपों के घेरे में आलोचना है। लेखक से लेकर पाठक तक, यहां तक कि आलोचक तक के मन में इसकी भूमिका को लेकर क्षोभ और असंतोष है। सब अनुभव कर रहे हैं कि आज की हिंदी आलोचना अपने दायित्व का सही तरह से निर्वाह नहीं कर पा रही है और न ही उसकी भूमिका निष्पक्ष तथा ईमानदार रह गयी है। पर सबको यह भी पता है कि यह आज की संपूर्ण आलोचना का सच नहीं है।

आज की समग्र हिंदी आलोचना का यह सामान्यीकरण भला किसे स्वीकार होगा कि इसमें कुछ भी अर्थवान, गंभीर, महत्वपूर्ण और सर्जनात्मक नहीं है! कोई भी कैसे यह नजरअंदाज कर सकता है कि समकालीन रचनाशीलता के समानांतर समकालीन आलोचना ने मानव सभ्यता के इतिहास के सामने आने वाली नयी चुनौतियों, नए संकटों से जुड़े हुए अपने कार्यभारों को ठीक तरह से समझने की कोशिशें की हैं। यह भला कैसे भूला जा सकता है कि नयी वैश्विक परिघटनाओं की ज्ञान-मीमांसा में प्रवेश करने में आज की हिंदी आलोचना ने न केवल दिलचस्पी दिखाई है, बल्कि सार्थक हस्तक्षेप किया है, नई व्याख्याएं की हैं और जरूरत के मुताबिक अपने को तैयार भी किया है। इसके संदर्भ में यह कैसे विस्मृत किया जा सकता है कि शताब्दियों की उम्र वाली हिंदी आलोचना में प्रगतिशील विचारों की नेतृत्वकारी मौजूदगी के बावजूद उपेक्षित-से छूट गए उत्पीड़ितों के समुदायों के लिए इसी ने अलग से विमर्शों का वातावरण तैयार किया है, यह वही आलोचना है, जो आज भी व्यक्तिवाद-कलावाद के पतनशील मूल्यों से संघर्ष करती हुई जीवन के पक्ष में अपनी प्रतिबद्धता का उद्घोष कर रही है, यह वही आलोचना है, जो भारत के परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता की नयी व्याख्याओं की जरूरत अनुभव करती है, नवजागरण के अलक्षित चारित्रिक अभिलक्षणों के संदर्भ में अपनी नयी स्थापनाओं की ओर बौद्धिक जगत का ध्यान आकृष्ट करती है और आज की अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं के ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में उनका अध्ययन करती है। इस आलोचना के बारे में किसे नहीं पता कि यह अपनी दुनिया के अनेक मान्यवरों के निर्णयों के विरुद्ध निरुत्तर कर देने वाले तर्कों के साथ बहस करती हुई उन्हें पुनर्विचार के लिए विवश कर देती है। कौन अस्वीकार करेगा कि

यह वह आलोचना है, जिसमें गंभीर शोध-अध्ययन हैं, साहित्यशास्त्रीय विमर्श हैं, विभिन्न ज्ञानानुशासनों की सैद्धांतिकियों के साथ गहन अंतःक्रियात्मक संवाद हैं। आशय यह कि समकालीन हिंदी आलोचना के पास ऐसा बहुत कुछ है, जो संतुष्ट भी करता है और भविष्य के प्रति आश्वस्त भी। पर, यह सब भी आज की हिंदी आलोचना का पूरा सच नहीं है। यह उसके एक हिस्से का सच है। यह आलोचना मुख्य परिदृश्य के केंद्र में नहीं है। रचना और रचनाकार के मूल्यांकन से जुड़ी एक अलग तरह की व्यक्तिवादी आलोचना ने पूरे वातावरण को इस तरह आच्छादित कर रखा है कि यह अच्छी और सच्ची आलोचना उसमें कहीं खो गयी-सी लगती है। यह नेपथ्य में है और मंच पर कोई अन्य कब्जा जमाए बैठा है।

#### **आलोचना में कोलाहल:**

समकालीन परिदृश्य के केंद्र में उपस्थित आलोचना का यह मंचस्थ चरित्र विचार और चिंता का विषय है। साहित्य-शिविरों, संबंध-समीकरणों, व्यावसायिक प्रबंधन-कौशलों और छलमय युक्तियों के प्रभावों-प्रयोगों के बीच विकसित होती आज की इस मूल्यांकन केंद्रित आलोचना में जिस तरह की भीड़, कोलाहल और अफरा-तफरी के दृश्य हैं, ये सब मिलकर आलोचना के बारे में बनने वाले असंतोष और क्षोभ के भाव-विचार को और सघन बनाते हैं। आज दशा यह है कि यहां सफलता के मान मूल्य सार्थकता के मान-मूल्यों को लगभग अपदस्थ कर चुके हैं। आलोचक का बाजार-भाव उसकी श्रेष्ठता का आधार बना हुआ है। आज आलोचना की सृजनशीलता पर रचनाकारों-प्रकाशकों संपादकों के साथ आलोचक के संबंधों की घनिष्टता भारी है। अपने समय के सच को पकड़ने का दावा करने वाली इस आलोचना का अपना सच यह है कि वह लेखक, पाठक, किसी का भी भरोसा नहीं अर्जित कर पा रही है। आज का बाजार मनुष्य की संवेदना, उसके जीवन व्यवहार को प्रभावित कर रहा है, तो यह कैसे हो सकता है कि उसका प्रभाव अन्य सांस्कृतिक प्रक्रियाओं पर न पड़े! यह प्रभाव कला-साहित्य में और तर्कतः आलोचना में भी दिखेगा ही। फिर एक ऐसी आलोचना-प्रवृत्ति का जन्म होगा, जो बाजार और पण्य के तर्क-संबंधों में अपना स्वरूप निर्मित करेगी। समकालीन रचना-आलोचना के परिदृश्य में बाजार, उत्पाद और व्यावसायिक प्रबंधन के संबंधों तथा व्यवहार का एक दिलचस्प रूपक बनता हुआ अनुभव किया जा सकता है। यह लेखक-प्रकाशक-रचना-पाठक और आलोचक के संबंध समीकरण को व्यक्त करता है। इसमें आलोचक एक ऐसे विक्रय-प्रतिनिधि की भूमिका में होता है, जो उत्पाद की गुणवत्ता का धाराप्रवाह विज्ञापन करता है। इस विज्ञापन में वह जिस भाषा का प्रयोग करता है, उसके साथ उसके अपने विचार-संवेदन का कोई समानुरूप आंतरिक सहसंबंध नहीं होता। वह विशेषणों से भरी हुई उस भाषा के प्रति कोई जवाबदेही नहीं महसूस करता। वह उसका केवल प्रयोक्ता होता है। बाजार का यह तर्क क्रेता-विक्रेता, यानी पाठक और लेखक-प्रकाशक, दोनों को प्रभावित करता है। विक्रेता के भीतर यह मुनाफे की तीव्र लालसा पैदा करता है। लेखक-प्रकाशक के लिए इस विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्र में मुनाफे का रूप थोड़ा भिन्न भी हो सकता है। आलोचक

अर्थात् विक्रय-प्रतिनिधि की दिलचस्पी की वजहें भी थोड़ी अलग हो सकती हैं। वह इतने पर भी संतुष्ट हो सकता है कि उत्पाद के विज्ञापन उसके खुद के विज्ञापन के माध्यम बनकर उसके अपने आलोचना- प्रतिष्ठान का एक उच्चतर भाव-मूल्य निर्मित करते हैं। इस मूल्य की प्रकृति मौद्रिक हो, यह जरूरी नहीं। बल्कि कहें कि हिंदी का आलोचक अभी इतना खुशनसीब नहीं। उसकी अपेक्षाएं भी अभी इतनी बड़ी नहीं। वह नाम, यश, चर्चा, प्रतिष्ठा, संपादित पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं में लेखन-प्रकाशन, संगोष्ठियों परिसंवादों में आमंत्रण, विभिन्न संस्थाओं समितियों में मनोनयन आदि से ही तृप्त हो जाने वाला प्राणी है। वह अपने श्रम-कौशल का अभी प्रायः इतना ही मूल्य चाहता है।

आलोचक एक ऐसा सेल्समैन है, जो साहित्य के हर उत्पाद की मार्केटिंग में एक ही भाषा और तर्क-कौशल का इस्तेमाल करता चला आ रहा है। उसे अपनी युक्तियों की पुनः-पुनः आवृत्ति की चिंता नहीं रहती। वह आश्वस्त रहता है कि उपभोक्ता अर्थात् पाठक उससे इस आशय का कोई असुविधाजनक सवाल नहीं पूछने वाला है कि वह हर उत्पाद को समान रूप से, समान भाषा और समान तर्क योजना में उत्कृष्ट, अपूर्व और अनोखा क्यों बताता जा रहा है? दरअसल, रूपक के प्रसंग में कहें तो आलोचक के पास बाजार की वह भाषा है, जिसमें बेचे जाने वाले रचना उत्पाद के लिए उसकी सीमा चिह्नित करने वाली, या दोष बताने वाली शब्दावली नहीं होती। यहां केवल गुणवाची शब्दों, विशेषणों का एक फैला हुआ संसार है। यहां प्रशंसापरक अतिरंजनाओं का सम्मोहन है, मूल्यांकन का विश्वसनीय वातावरण नहीं। भाषा के विश्वास का संकट इसकी परिणतियों में से एक है। सत्य और छल, यथार्थ और भ्रम की भाषा के विभाजन और पहचान के लक्षण धुंधले पड़ गए हैं। बाजार यही करता है। इस बाजार में विक्रेता, सेल्समैन, विज्ञापन एजेंसियां और संस्थाएं परस्पर स्थाई रिश्ते बनाए रखने के लिए विवश नहीं हैं। अधिक मुनाफा देने वाले उत्पादक से त्वरित रिश्ता कायम करने में आलोचक की दिलचस्पी रहती है। वह बाजार-भाव पर सतर्क नजर रखता है और फायदे के नए रिश्ते के लिए पुराने के प्रति नजरिया बदलने में बेरहम होता है।

#### **गुणवत्ता का संकट :**

आज की आलोचना में दिखने वाली ये प्रवृत्तियां चिंतित करती हैं। आलोचना एक सांस्कृतिक कर्म है। इसके समक्ष इन्हीं बाजार, व्यावसायिक प्रवृत्तियों के प्रति प्रतिरोध रचने की चुनौतियां हैं। यह आलोचना की दुनिया में सक्रिय लोगों का एक बड़ा ऐतिहासिक कार्यभार है। यह एक बड़ी सांस्कृतिक परियोजना का हिस्सा है। ऐसी परियोजना के सापेक्ष जब आलोचना का चरित्र चतुर और छलमय होने लगता है, तो संकट और बड़ा हो जाता है। आलोचना के इस संकट के परिदृश्य निर्माण में चतुर-सुजान आलोचकों के साथ साहित्य के अध्यापक लेखकों की भी एक भूमिका है। अध्यापकीय आलोचना वैसे भी साहित्य के क्षेत्र का काफी दुत्कारा जाने वाला प्रत्यय रहा है। इसका प्रमुख कारण रहा है अध्यापकों द्वारा लिखी जाने वाली आलोचना की गैर सर्जनात्मकता। एक ठस किस्म की, सपाट, भावार्थमूलक, उद्धरणबहुल आलोचना, जो

उच्च शिक्षण संस्थानों के अध्यापकों के लेखों, टीकाओं और व्याख्यानों के माध्यम से सामने आती है। हिंदी के ज्यादातर श्रेष्ठ आलोचक अध्यापक ही रहे हैं, इस सचाई के बावजूद यह पद एक खराब किस्म की आलोचना के लिए प्रचलन में है। आलोचना के समकालीन पतन का एक संदर्भ एक बार फिर अध्यापकों से जुड़ता नजर आता है। पर इस बार यह संदर्भ थोड़ा बदला हुआ है। गैरसर्जनात्मकता के अलावा कुछ अन्य कारण भी इसके साथ अब जुड़ गए हैं।

पत्र-पत्रिकाओं, लेखों और पुस्तकों के प्रकाशन-क्षेत्र में बढ़ आई भीड़ साहित्य के समाजशास्त्र का एक रोचक विषय है। कुछ लोग इसे केवल मुनाफे के अर्थशास्त्र से समझने की कोशिश करते हैं। उन्हें इसके पीछे केवल प्रकाशन और मुनाफे का कारोबार नजर आता है। पर इस भीड़ के समाजशास्त्र को केवल इसी तर्क-सूत्र के सहारे नहीं समझा जा सकता। इसे केवल लेखकीय शौक, बौद्धिक फैशन या नाम-यश-प्रतिष्ठा अर्जित कर लेने के आकर्षण अथवा उसके पीछे की मध्यवर्गीय लेखकीय आकांक्षा के तर्क से भी नहीं समझा जा सकता। इससे भी सचाई का एक पहलू उद्घाटित तो होता है, पर कुछ और कारण भी हैं, जिनपर ध्यान जाता है। इस बीच उच्च शिक्षा की एक नयी परिघटना ने आलोचनात्मक लेखन के पूरे परिदृश्य को बदलकर रख दिया है। यहां अब शोध-पत्रिकाओं की भीड़ है, लेखों-समीक्षाओं, टिप्पणियों की भीड़ है, इस भीड़ में गुणवत्ता का संकट है, यहां केवल उद्धरण हैं, उनके स्थूल भाष्य हैं, विरोध असहमति और बहसें प्रायः अनुपस्थित हैं। आप ध्यान दें, इसके पीछे मौजूद लोगों में एक बड़ी संख्या अध्यापकों की मिलेगी। अध्यापकीय आलोचना के व्यंग्य और विरोध का संदर्भ तब दूसरा था। तब यह गैरसर्जनात्मकता के लिए प्रश्नारोपित की गई थी। आज यह उसके कारण के रूप में मौजूद उच्च शिक्षा के कैरियरिज्म के लिए प्रश्नों में है। उच्च शिक्षा की सेवा शर्तों और प्रोन्नति के लिए अपेक्षित योग्यताओं के दबाव में उपजे शोध-संकलनों, पत्रों, प्रकाशनों के जटिल संजाल में इस आलोचना प्रवृत्ति का विकास हुआ है। इसका प्रबंधन शास्त्र पिछले डेढ़-दो दशकों में अतिसक्रिय होता हुआ देखा गया है। परिणाम यह हुआ है कि साहित्य-सृजन और आलोचना मूल्यांकन का यह मंच कैरियरिज्म के बाजारू समीकरणों और जोड़-तोड़ के छल-छंदों के कारोबार में अपघटित हो गया है। इसे रचनात्मक वातावरण के निर्माण की दिशा में बढ़ रही सक्रियता के रूप में भी देखने की कोशिशें की गयी हैं। पर यहां हड़बड़ी, जल्दबाजी और नकल का जबरदस्त अगंभीर माहौल है। शैक्षणिक परिसरों से निकलने वाली शोध-पत्रिकाओं से तो प्रायः यही दृश्य बनता दिख रहा है। आलोचनात्मक लेखन के नाम पर यहां लेखों का रंग-बिरंगा मेला लगा हुआ है। किसिम-किसिम के के खेल-तमाशे चल रहे हैं। यह चिंता का विषय है। इसे हल्के में लेते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि छोड़िए यह आलोचना का उदाहरण नहीं है, या इस पर इतनी गंभीर चिंता व्यक्त करने की जरूरत नहीं है। सचाई यह है कि अध्यापकों- शोधार्थियों और साहित्य की कक्षाओं के अन्य छात्रों की एक व्यापक परिधि है और ये पत्रिकाएं उनके बीच लगातार पहुंच रही हैं। छात्र-अध्यापक या

जरूरतमंद एक बड़ी संख्या में इन पत्रिकाओं से जुड़ रहे हैं और अपने योग्यता-सूचकांक के आपदा-प्रबंधन में धड़ाधड़ इनका लाभ उठा रहे हैं। इससे एक ऐसा वातावरण बनता जा रहा है, जहां शोधपूर्ण सर्जनात्मक आलोचना के लिए गुंजाइशें बहुत कम हो गयी हैं।

शैक्षणिक परिसरों से अध्यापकों द्वारा निकाली जा रही शोध-पत्रिकाओं के अलावा अन्य पत्रिकाओं की संख्या भी कुछ कम नहीं है। अनियंत्रित प्रकाशनों की भीड़ में अनेक पत्रिकाएं और उनमें भी पुस्तक-समीक्षा के स्तंभ ओपन ट्रेनिंग सेंटर का काम करते हैं। लिखने वाला आलोचना के क्षेत्र में सबसे पहले पुस्तक-समीक्षा में हाथ आजमाता है। यह आलोचना की दुनिया का प्रवेश-द्वार है। यहां बहुत भीड़ है। जहां भीड़ होगी, स्वाभाविक है उसका प्रभाव स्तरीयता पर पड़ेगा ही। पुस्तक-समीक्षाओं के दृष्टिगत आलोचना के इस संकट की सबसे ज्यादा चर्चा की जाती है। पर यह संकट केवल प्रशिक्षुओं से जुड़ा हुआ नहीं है। आलोचना में एक लंबा जीवन गुजार चुके पके- प्रौढ़ लेखक संबंध-समीकरणों और अन्य प्रकार के आग्रहों में जो करतब दिखा रहे हैं, वह दिलचस्प है। आलोचना की ऐसी-तैसी तो यहां हो रही है। पुरस्कार सम्मान की संभावनाओं और अवसरों की तलाश की व्यूह रचना में इस कला के इस्तेमाल के साक्ष्य देखे जा सकते हैं। प्रायोजित आलोचना के शृंखला- बद्ध लेखन के प्रमाण प्रतिष्ठित पत्रिकाओं तक के पृष्ठों पर मौजूद हैं। कैरियरिज्म का एक रूप यह भी है। यह साहित्य में चर्चा, सम्मान-अर्जन का कैरियरिज्म है। सैकड़ों पत्रिकाओं के बावजूद लगातार नयी पत्रिकाओं का संपादन-प्रकाशन प्रश्न और संदेह उत्पन्न करता है। वह भी तब, जब आपके पास अपने संपादकीय में इस नयी पत्रिका के प्रकाशन की अपरिहार्यता के वाजिब कारण बताए जाने के आधार मौजूद न हों। सबको पता है कि यह सारा उद्योग संपादक की सिर्फ व्यक्तिगत यशाकांक्षा और संबंधबनाऊ मंच की निर्माण-योजना की फलश्रुति है जबकि इससे अधिक कुछ नहीं। विडंबना तो यह है कि साहित्य के प्रतिष्ठित मंचों पर भी ये पसरे हुए हैं। एकांत साधकों की चमक इनके आगे फीकी है। इन्होंने आलोचना में आपसी संबंधों का ऐसा ताना-बाना बुन रखा है कि सब पहले से तयशुदा कार्यक्रमों के अनुसार चलता रहता है। कई मिलकर अपने आलोचनात्मक लेखन से किसी एक के प्रति महत्व और सम्मान का वातावरण बनाते हैं। फिर बारी-बारी से यह दृश्य बदलता रहता है। आज की आलोचना इस खेल का सबसे मुफीद मैदान बनी हुई है। खेल दिखाओ और खेलो-खिलाओ। परिधि को केंद्र में और केंद्र को परिधि में बदल दो। जर्ने को आसमान और बूंद को समुद्र बता दो। यह कारोबार आलोचना में चल रहा है। यह व्यापार आलोचना में फल रहा है।

अबाध प्रशंसा-गान इस चतुर और छलमय आलोचना की सबसे मुखर प्रवृत्ति है। यह आलोचना के व्यावसायिक प्रबंधन शास्त्र का अचूक उपकरण है। इस उपकरण के इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति के प्रोत्साहन के लिए साहित्य-क्षेत्र के कुछ बड़े नाम, कुछ लेखक-संगठन, साहित्य सत्ता के संस्थान और प्रतिष्ठान तथा अनेक संपादक जिम्मेदार हैं। इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्तियां लेखन और आयोजन, दोनों में ही समय-समय पर पहचानी जाती रही हैं और



इसे लेकर बहस का भी माहौल रहा है। पर अब यह निरापद, निष्कंटक, निर्विघ्न, विकसनशील और प्रसरणशील है। कुछ साल पहले दो लेखक संगठनों ने अपने शिखर आलोचकों की एक सम्मान-शृंखला का आयोजन किया था। ऐसा नहीं है कि ऐसे आयोजन नहीं होने चाहिए। जरूर होने चाहिए। श्रम और साधना का प्रगतिशील जन-सांस्कृतिक सम्मान होना ही चाहिए। पर, घूम-घूम कर आयोजन, शहर-दर-शहर यात्रा करते हुए उनकी उपस्थिति में उन्हीं के आलोचनात्मक अवदान की प्रशंसाएं। ऐसे आयोजनों के दृश्य जो मूल्य-प्रभाव पैदा करते हैं, उनसे विचार और संस्कृति के क्षेत्र में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के मजबूत पड़ने के जोखिम बढ़ जाते हैं। ऐसे आयोजनों के प्रस्ताव को खारिज करके एक बड़ा प्रगतिशील संदेश दिया जा सकता था। व्यक्तिवादी श्रद्धा और महिमामंडन की योजना को वैधता प्रदान करने की गलती से बचा जा सकता था। इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने की जगह इसकी अभिव्यक्ति के लिए खुला अवसर देने की तरह था यह सब। ऐसा अवसर खोलकर आयोजन में शामिल वक्ताओं की नैतिकता पर सब कुछ छोड़ दिया गया। परिणाम प्रायः वही दिखा, जिसका पहले से अनुमान था। जन-संगठनों में दीक्षित और सामाजिक राजनीतिक कार्यों में लगे रहने वाले वक्ताओं तथा कुछ प्रतिबद्ध विचारकों को छोड़कर प्रायः सभी हरिकीर्तन में डूबे रहे। भक्त भजन गाते रहे और भगवान आंख मूंदे प्रसन्न होते रहे। साहित्य के इन नेतृत्वकारी शक्ति-केंद्रों ने दूरगामी प्रभाव छोड़ने वाली एक गलत शुरुआत को अपनी सहमति प्रदान कर दी। यह प्रसंग कहीं से भी आज की आलोचना से जुड़ा हुआ नहीं भी लग सकता है। कहा जा सकता है कि इस प्रसंग का आलोचना से भला क्या संबंध है! पर ध्यान दें, तो अपनी तार्किक परिणति और प्रभाव फलश्रुति में इसका आलोचना की समकालीन संस्कृति से एक गहरा संबंध बनता हुआ दिखेगा। यह प्रबंधन-चातुर्य में रुचि रखने वाले आलोचकों के लिए प्रोत्साहन की तरह है। बड़ी पीढ़ी नयी पीढ़ी को अपने व्यवहार और अभिरुचियों से ऐसे भी प्रभावित कर रही है और सिर्फ स्तुति के सुभाषित उचारने वाले लोगों के बीच से एक आलोचक पीढ़ी तैयार कर रही है। आलोचना की इस रुग्ण व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का हस्तांतरण प्रायः पिछली पीढ़ी से ही हुआ है। नयी पीढ़ी ने कुछ तो समय के मिजाज को भांपकर एक चतुर युक्ति के रूप में इसे अपनाया है और कुछ स्वाभाविक अनुकरण की प्रक्रिया में। अनुकरण की निर्लज्ज सामग्री दोनों रूपों में मौजूद है। आलोचना में अभिव्यक्त लिखित भाव-विचार के रूप में भी तथा आचरण और बात-व्यवहार के रूप में भी। आचरण के स्तर पर हाथ बांधे पीछे-पीछे दयनीय मुद्रा में चलती, चरण-वंदना करती बड़ी पीढ़ी को देखकर आलोचकों-लेखकों की नयी पीढ़ी स्वाभिमान और निष्पक्षता का, श्रम और साधना का कौन-सा पाठ ग्रहण करेगी! प्रभुओं के चरणों में लोटती, माहात्म्य वाचन करती भाषा सुनकर इन आलोचकों की भाषा की रीढ़ कैसे तनी रह पाएगी! आलोचक इस चतुर पण्य प्रबंधन की दुनिया में किस प्रतिरोध-शक्ति के सहारे खड़ा रह पाएगा, जबकि वह प्रकाशन से लेकर आयोजन तक के मंच पर प्रबंधन के सारे बेशर्म खेल-तमाशे खुली आंखों से देख रहा है। रचना को, समाज को, जीवन को, स्वयं अपनी क्षमताओं और सीमाओं को देखना

तथा पहचानना कोई साधारण काम नहीं है। यह सब आलोचना के गुरुतर कार्यभार हैं। यह राह बड़ी मुश्किल है। ऐसी मुश्किल राह पर सार्थकता, कुशलता और दृढ़ता के साथ आगे बढ़ पाना तो बड़ी गंभीर और सचेत-सक्षम आलोचना के लिए भी अत्यंत चुनौतीपूर्ण है। फिर, आज की इस आलोचना से हम क्या उम्मीद कर सकते हैं। आयोजन-प्रकाशन, नाम-चर्चा, पुरस्कार-सम्मान, शिविरबद्धता और कैरियरिज्म में फंसी हुई इस आलोचना के पास इस कठिन डगर पर चलने का न धैर्य है और न प्रतिबद्धता। आलोचना की इस धारा को पता है कि जिस प्रयोजन से वह यह सारा कारोबार चला रही है, उसका दूर-दूर तक कोई संबंध सर्जनात्मकता के नए अविष्कारों से नहीं है। यह अपने कारोबार को अच्छी तरह से जानती है। यह उसकी शर्तों को भी जानती है और जरूरतों को भी।

#### **आलोचना का अपघटन :**

चतुर छलमय-प्रबंधन में आज की आलोचना के एक बड़े हिस्से का यह अपघटन हमारे समय की सभ्यता समीक्षा की एक बड़ी दुर्घटना है। आलोचना रचना का अनुवर्ती ही नहीं होती, नए जीवन, नए समाज और नयी रचनाशीलता के तत्वों तथा शक्ति स्रोतों के अन्वेषण का माध्यम भी होती है। अतीत के मरणशील तत्वों की पहचान कराते हुए ज्ञान और संवेदना के प्रगतिशील आयामों के नवोन्मेष में आलोचना की युगांतरकारी भूमिका रही है। यह भूमिका कहीं सांस्कृतिक विमर्श के रूप में, तो कहीं रचना-कर्म में उपस्थित दृष्टि की समीक्षा के रूप में सामने आती रही है। आलोचना की इसी भूमिका से जीवन और सृजन के क्षेत्र में जड़ता के इतिहास को चुनौतियां मिलती हैं और एक नए किस्म के प्रस्थान की पीठिका तैयार होती है। आलोचना के इन्हीं सर्जनात्मक हस्तक्षेपों का परिणाम होता है कि साहित्य-सर्जना का इतिहास नए रूपों में, नए मूल्यों मानदंडों के साथ सामने आता है। हिंदी में ऐसी आलोचना मौजूद है पर, दुखद यह है कि उसके साथ और उसके समानांतर ऐसा भी बहुत- कुछ है, जो घोर निराशाजनक और चिंतनीय है। इस संदर्भ में आज आलोचना की मुक्ति का प्रश्न विचारणीय है. संकटों के बावजूद इस मुक्ति की उम्मीद की जा सकती है। आलोचना रचना के इतिहास में विक्षोभ और नए के प्रस्थान का कारण बनती है, तो स्वयं उसका इतिहास भी अपरिवर्तनीय नहीं होता। उसकी प्रकृति भी गतिशील है। यह गतिशीलता अंतर्बाह्य कारणों पर निर्भर होती है। कभी स्वयं अपनी चिंतन प्रक्रिया में उपजे हुए प्रश्नों और द्वंद्वों के समाधान की तलाश में उसके विकास की प्रक्रिया आरंभ होती है, तो कभी अपने समय, समाज, संस्कृति तथा रचनाओं से बनने वाली अंतःक्रियाओं और टकराहटों में इस परिवर्तन के सूत्र मौजूद देखे जाते हैं। इस परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण संबंध सूत्र आलोचना के आत्म-पक्ष से जुड़ा हुआ है। रचना के मूल्यांकन और विश्लेषण के कार्यभार से संबद्ध आलोचना के दायित्व का एक आत्म-पक्ष भी है। द्विस्तरीय परीक्षा की चुनौतियां इस विधा की नियति है। विद्वानों ने आलोचना की इस दोहरी परीक्षा अथवा भूमिका की कई तरह से चर्चा की है। इनमे से एक में आलोचना को उस आंख के रूप में देखा गया है, जिसे रचना को तो देखना ही होता है, खुद

अपनी पुतलियों को, अपनी दृष्टि को, अपने देखने की क्रिया को भी देखना होता है। आशय यह कि दृश्य के साथ दृष्टि पर भी नजर रखनी पड़ती है। यही आलोचना के कार्यभार का आत्म-पक्ष है। आत्मावलोकन या आत्म-निरीक्षण का पक्ष। इसी से उसके आत्म-संघर्ष और आत्म-परिष्कार का संदर्भ जुड़ता है। यहीं से आलोचना अपनी सीमाएं पहचानती है और उससे बाहर निकलने के आत्म-संघर्ष में शामिल होती है। यहीं उसे अब तक के स्रोतों, मान-मूल्यों और सरोकारों की शक्ति, सार्थकता, अपर्याप्तता तथा विचलनों का अनुभव और ज्ञान प्राप्त होता है। यहीं वह नए के आविष्कार की संभावनाओं पर विचार करती हुई उस दिशा में प्रवृत्त होती है। हिंदी आलोचना के लिए यह आत्म-संघर्ष कोई सैद्धांतिक परिकल्पना नहीं है। उसके इतिहास में यह चेतना और व्यवहार के रूप में मौजूद है। आलोचना के एक सृजनशील हिस्से में आभ्यंतरिक और बाह्य द्वंदों के भीतर से अपने को परिष्कृत, संतुलित और विकसित करते रहने की प्रक्रिया निरंतर जारी है। इस आलोचना से यह उम्मीद की जा सकती है कि वह वैचारिक संघर्ष चलाकर चतुर प्रबंधन में फंसी हुई आलोचना के भीतर आत्म-संघर्ष और मुक्ति की प्रगतिशील चेतना के प्रति सम्मान का भाव सृजित करने का कार्यभार अवश्य स्वीकार करेगी।

बिना साक्ष्यों और उद्धरणों के यहां आलोचना की जिन पतनशील प्रवृत्तियों की चर्चा की गयी है, उन्हें बहुत आसानी से पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में देखा जा सकता है। वे सर्वव्यापी हैं। पृष्ठ-दर-पृष्ठ मौजूद हैं। जहां देखिए, वहीं प्रकाशमान हैं। हम प्रतिपल उन्हें देख रहे हैं, उनका मजा भी ले रहे हैं और क्षुब्ध भी हो रहे हैं। इसलिए आज की आलोचना के इतने जाने पहचाने इस परिदृश्य के लिए साक्ष्यों के उद्धरण अपरिहार्य नहीं प्रतीत हुए। लगा कि उनके बिना भी इसमें मौजूद प्रवृत्तियों के बारे में अब तक के अपने निरीक्षणों, मन पर पड़ने वाले प्रभावों और अनुभवों के आधार पर एक त्वरित टिप्पणी संभव है। आज की आलोचना में ऐसी ढेर सारी प्रवृत्तियां हैं, जो गंभीर विचार और विश्लेषण की मांग करती हैं। उन पर यहां चर्चा नहीं हो पायी है पर, यहां जिनकी चर्चा हुई है, वे भी कम चिंतनीय नहीं हैं। हिंदी साहित्य-समाज इन्हें लेकर चिंतित है और इनसे आलोचना की मुक्ति चाहता है।



## समकालीन हिंदी आलोचना : कुछ नोट्स

जितेन्द्र श्रीवास्तव

आलोचना साहित्य का विवेक है, यह एक निर्विवाद सत्य है लेकिन वही आलोचना साहित्य का विवेक बनने की योग्यता रखती है जो पारदर्शी होने के साथ-साथ एकांगी न हो। हमारे समय के साहित्यालोचन की स्थिति संकटपूर्ण है। आज की आलोचना में पारदर्शिता का घोर अभाव है। वह एकांगी भी है क्योंकि उसका जन्म साहित्येतर कारणों से होने लगा है। आलोचकों की रुचि का दायरा सिमट गया है। अधिकतर आलोचकों की गति कला और ज्ञान के दूसरे अनुशासनों में लगभग न के बराबर है। यदि आलोचना का एक बड़ा कार्य 'भाष्य' को मानें तो भी स्थिति उत्साहजनक नहीं है। इधर आए उल्लेखनीय भाष्यों को ऊंगली पर गिना जा सकता है। बात सहमति-असहमति की भी नहीं है। सहमति-असहमति का प्रश्न तब उठता है जब काम सामने आए।

हिंदी आलोचना का एक संकट यह भी है कि यह नायक की तलाश में रहती है। कभी यह नायकत्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को मिला, कभी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को, कभी डॉ. रामविलास शर्मा को, कभी डॉ. नगेन्द्र को, कभी डॉ. नामवर सिंह को। हमेशा इस अनुसंधान में लगे रहने वाले पिछले तीन दशक से अधिक समय से 'नामवर सिंह के बाद कौन' जैसी बहस में लगे हुए हैं। उनकी दिलचस्पी इस अवधि में आए आलोचनात्मक लेखन के मूल्यांकन में बिलकुल नहीं है। इस प्रसंग में यह जानना भी रोचक है कि आलोचना के नायक को डंडा-झंडा उठाने वालों में अधिक संख्या उनकी होती है जिन्होंने अपने 'नायक' की कोई एक भी किताब पूरी नहीं पढ़ी होती है। सच तो यह है कि हिंदी प्रदेशों में आलोचनात्मक विवेक का विकास भी आधा-अधूरा ही हुआ है।

नायक केंद्रित आलोचना की कई विडंबनाएं हैं। सबसे बड़ी विडंबना तो यह है कि यह आलोचना के मूल स्वभाव के विपरीत भक्तों का सृजन करती है। आलोचना का नायक भी ईश्वर न सही, देवरहवा बाबा तो हो ही जाता है। समय-समय पर वह अपनी चरण-धूलि भक्तों को समर्पित करता रहता है। इस पूरी प्रक्रिया में जिस 'विवेक' नामक तत्व का क्षरण होता है, उसकी ओर कोई ताकना भी नहीं चाहता। नायक केंद्रित आलोचना ने साहित्य में असंतुष्टों

(जिन्हें कुंठित भी कह सकते हैं) का एक वर्ग भी तैयार किया है। ठीक-ठीक कहें तो ये प्रसाद वंचित लोग हैं और ऐसा इसलिए प्रतीत होती है क्योंकि कभी-कभी नायक जब इनमें से किसी के प्रति कृपालु हो जाता है तो वह अपनी मंडली छोड़ यहां-वहां हर जगह उसका कीर्तन करने लगता है- प्रभु, मेरे अवगुन चित न धरो।

**आलोचना : सृजन की पाठशाला :**

आलोचना विद्वता के प्रदर्शन की नहीं, उसके सृजन की पाठशाला है। जब तक हम लोग आलोचना को आश्रित विधा मानते रहेंगे तब तक उसे दार्शनिक हस्तक्षेप के योग्य नहीं बना पाएंगे, जो कि उसका मुख्य कार्य है। मेरे लिए आलोचना का आशय रचना की साहित्यिकता की परख के साथ ही इस पक्ष की परख भी है कि वह 'मानुष-मर्म' के संधान का उद्यम करती है या नहीं। यदि आलोचना किसी रचना में निहित मानवीय जिजीविषा और गरिमा का विश्लेषण नहीं कर पाती या उससे बचने का मार्ग खोजती है तो मेरे लिए वह बुद्धि विलास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आलोचना के स्वेद कण पाठक के आलोचनात्मक विवेक के विकास में जीवद्रव्य की भूमिका निभाते हैं। वाग्जाल क्षणिक संतोष भले ही दे, लेकिन उसका मूल दाय लंबा और असमाप्त असंतोष ही होता है। मेरे लिए आलोचना में 'अंतर्वस्तु का सौंदर्य' मूल्यांकन की कसौटी है। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि मैं 'रूप' को अस्वीकार कर रहा हूं। आखिर ऐसा कर भी कैसे सकता हूं जबकि शमशेर की कविताएं और उनका 'कहन' मुझे विशेष प्रिय है। लेकिन यहां यह कहना जरूरी है कि अतिरिक्त कलाई और चकमाव के पक्ष में वे ही होते हैं, जिनकी अंतर्वस्तु आभाहीन होती है। रुधिर के ताप और रंगवाली अंतर्वस्तु अपने रूप से अभिन्न और अविभाज्य होती है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने चित्तवृत्तियों के बदलाव को साहित्य के संदर्भ में बेहद महत्वपूर्ण माना है। पिछले बीस-बाईस वर्ष के साहित्य को समझने के प्रयास में 'चित के बदलाव' को समझना बेहद आवश्यक है। हमें विस्मरण नहीं करना होगा कि इस काल-खंड में वर्ग, वर्ण और धर्म-भेद बहुत गहरा हुआ है। समाज की बिल्कुल नई पीढ़ी के पास आकांक्षाओं का कोई ठोस नैतिकशास्त्र नहीं है। वे विभ्रम में हैं। अधिकांश की आकांक्षा का एवरेस्ट अमेरिका है जिसके पास स्वयं कोई नैतिकशास्त्र नहीं है। ऐसे समय में जबकि चित्त के बदलाव को भी ठीक-ठीक परिभाषित करना मुश्किल हो तब साहित्य का संघर्ष बड़ा हो जाता है। कोई माने या न माने, परंतु सच है कि आजादी के बाद बहुत-सी मुश्किलें आईं, लेकिन ऐसा 'दिग्भ्रमित समय' इससे पूर्व न आया था। पिछले बीस-बाईस वर्ष 'साहित्य के आत्मसंघर्ष' के भी बीस-बाईस वर्ष हैं।

हिंदी साहित्य में सन् 1990 के बाद रुचियों की कट्टरता कम हुई है। खासकर बड़े और अग्रज रचनाकारों के संदर्भ में। अब अज्ञेय और मुक्तिबोध को एक साथ पढ़ने और सद्भाव के साथ व्याख्याचित करने वाले बढ़ रहे हैं, लेकिन समकालीनों के बीच मार-काट मची हुई है। अभी अपने समकालीनों को पढ़ने, समझने और सराहने की उदारता न के बराबर है। सौंदर्य-बोध और ईर्ष्या की यह जकड़बंदी हिंदी साहित्य के स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद नहीं है।

कविता या संपूर्ण साहित्य यदि 'शेष सृष्टि के साथ रागात्मक संबंधों की रक्षा और निर्वाह का साधन है' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), तो उसमें ईर्ष्या के लिए जगह नहीं होनी चाहिए। यह समय साहित्य की ताकत और उसके परिसर को बढ़ाने के यत्न का है। पिछले बीस-बाईस वर्षों में दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्शों के उभार ने बहुत से नए प्रश्न खड़े किए हैं। दलित और आदिवासी साहित्य का व्यापक विस्तार हो रहा है, लेकिन इस सवाल से नहीं बचा जा सकता कि जिसे मुख्य धारा का साहित्य कहा जाता है, उसमें इनकी उपस्थिति बहुत कम है। दलित और आदिवासी जीवन हमारी बहुत कम कविताओं और कहानियों में आया है। संभव है, ऐसा करने पर अनुभूति और सहानुभूति का प्रश्न खड़ा किया जाए। यह भी संभव है कि खारिज करने की कोशिश की जाए, लेकिन इसका आशय यह नहीं कि इस कारण उधर से मुंह फेर लिया जाए। साहित्य अनिवार्य रूप से सुविधा का क्षेत्र नहीं है।

इधर के वर्षों में कविता को खेल समझने का भी प्रचलन बढ़ा है। यह महज कविता के लिए नहीं, संपूर्ण साहित्य के लिए चिंता का विषय है। साहित्य खेल नहीं, जीवद्रव्य होता है। वह मनुष्य को उबारता है। यहां हारने-जीतने का कौशल महत्वपूर्ण नहीं होता, मनुष्य-संस्कृति की चिंताएं महत्वपूर्ण होती हैं। आज के जटिल समय में खेल तो चिंता का विषय हो सकता है लेकिन मनुष्यता की चिंताएं खेल नहीं हो सकती हैं। उन्नीस सौ नब्बे के तुरंत बाद सोवियत संघ के पतन और भूमंडलीकरण-उदारीकरण के वेश में मुक्त पूंजी के वहशी नृत्य ने बहुत सारी चीजों को धुंधला कर दिया। साहित्यिकों के बीच का एक बड़ा वर्ग भी जाने-अनजाने दिग्भ्रमित हुआ। साहित्य को खेल समझने और खेल में बदलने की प्रवृत्ति भी 'इसी दिग्भ्रम या अतिरिक्त चालाकी' को कोख से पैदा हुई है। यहां अलग से कहने की जरूरत नहीं कि इस प्रवृत्ति से आर-पार का संघर्ष बेहद जरूरी है। यहां यह याद करना भी आवश्यक है कि पिछले वर्षों में हिंदी कविता में स्वयं पर संदेह करने और अपने को दुरुस्त करने की प्रवृत्ति का हास हुआ है। अधिकांश की स्थिति यह है कि वे स्वयं को सर्वोत्तम और दूसरों को निकृष्टतम मानने-मनवाने की होड़ में लगे हैं। अपना सब कुछ अच्छा और दूसरों का दो कौड़ी का भी नहीं। यही वजह है कि आज हम-सब विविधता के विरुद्ध खड़े हैं। आज हिंदी आलोचना को जितनी जरूरत प्रतिबद्धता की है, उतनी ही जरूरत बौद्धिक उदारता की भी है। यह सत्य अप्रिय है फिर भी कहना होगा कि प्रतिबद्धता का आशय विभाजित है। एक जैसा स्वप्न पालने वाले लोग भी बौद्धिक और सत्तागत अनुदारता के कारण किसी बड़ी लड़ाई को संभव नहीं कर पा रहे हैं। कभी गोरख पांडेय और सफदर हाशमी ने 'एका' का स्वप्न देखा था। अब ऐसा लगता है जैसे यह 'एका' भी एक स्वप्न ही रह जाएगा। आज आलोचना की चुनौती यह भी है कि वह बांटकर देखने के 'क्रानिक' हो चुके मर्ज की दवा बने।

#### **आलोचना क्यों?**

आलोचना में अनुभव अथवा विचार पर सोचते हुए में एक सहज-स्वाभाविक प्रश्न पैदा होता है- आलोचना क्यों?

आलोचना का अर्थ ही होता है - किसी वस्तु या रचना को संपूर्णता में देखना। प्रकारांतर से रचना की कमियों और अच्छाईयों को बिना लाग-लपेट के उद्घाटित करना ही आलोचना का चरित्र होता है। यहां सवाल उठता है कि रचना में गुण अथवा दोष बताने का आधार क्या होगा? किसी व्यक्ति की दृष्टि में 'गुलाब' में गुण ही गुण हैं तो किसी की दृष्टि में वह एक वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करता है। यह दूसरी दृष्टि उसके सौन्दर्य को आदर्श या श्लाघ्य नहीं कह सकती। आशय यह कि समाज में कम से कम दो दृष्टियाँ तो काम करती ही हैं। ऐसे में आलोचना का आधार क्या होना चाहिए? आलोचना में किस दृष्टि को महत्व मिलना चाहिए और उस दृष्टि का विकास किससे होना चाहिए-विचार से या अनुभव से या इन दोनों से जुड़ी इनके आगे की किसी चीज से। बात को आगे बढ़ाने से पहले यह स्पष्टीकरण जरूरी है कि यहाँ आलोचना से आशय साहित्य या कला की आलोचना से है। वैसे तो आलोचक की जो दृष्टि होती है, वह उसके द्वारा सम्पादित हर कार्य में निर्णायक भूमिका में होती है।

प्रेमचन्द ने जब साहित्यकारों को स्वभाव से ही प्रगतिशील कहा होगा तो उनके मन में यही बात रही होगी कि साहित्यकार व्यष्टि से निकलकर समष्टि की ओर बढ़ता है। वह अकेले की मुक्ति नहीं चाहता वरन पूरे समाज में सुख-शांति और भाईचारे के परिवेश का सृजन करने की ओर बढ़ता है। आचार्य शुक्ल इसे ही लोकमंगल कहकर रचना से इसकी मांग करते हैं और मुक्तिबोध यह कहते हुए कि 'मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते' करोड़ों-करोड़ शोषित-पीड़ित जनता की अभिव्यक्ति बन जाते हैं। आशय यह कि शोषित-पीड़ित जनता की अभिव्यक्ति बने साहित्य की जो आलोचना महत्व दे, वही सही आलोचना है। आलोचना का धर्म है कि वह रचना से लोकमंगल की मांग करे और 'रचना से यह मांग' आलोचक की पक्षधरता तय करती है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब 'आलोचना का चरित्र' समष्टि के हितों से जुड़कर महान बनता है तब आलोचना ऊर्जा कहां से ग्रहण करे? क्या आलोचक का जीवनानुभव ही आलोचना के लिए पर्याप्त है? वैसे तो जब आलोचक 'लोकमंगल' की कामना में लगे साहित्य को उत्कृष्ट कहता है तो तुरंत ही वह अनुभव से विचार तक ही यात्रा पूरी कर लेता है। लोकमंगल की कामना अपने में एक पूरी विचारधारा है। शुक्लजी के वहां यह विवादास्पद जरूर रही है लेकिन 'मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन' का आधार ही है- यथार्थ पर बल देना और लोकहित ही चिंता करना। लोकहित अर्थात् सर्वहारा का हित, शोषित-पीड़ित जनता का हित। जो आलोचना लोकहित की चिंता करती है, वह सिर्फ अनुभव से संचालित नहीं होती, वह अपने भीतर एक विचार भी रखती है।

आलोचक जिस समाज में रहता है, उस समाज की अच्छाईयों-बुराईयों को देखता-परखता है, ऐसे में उसके पास अनुभव इकट्ठे होते रहते हैं। और जब ये अनुभव एक विशेष प्रकार का अर्थ देने लगते हैं तो आलोचक के भीतर विचार का जन्म होता है। फिर उसके सामने कोई रचना आती है तो वह उसमें सिर्फ अनुभव नहीं ढूँढता बल्कि अनुभव से निःसृत विचार भी पाना चाहता है। कुछ ऐसा ही प्रयास करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा होगा कि 'कविता शेष सृष्टि

के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंधों की रक्षा और निर्वाह का साधन है।' आशय यह कि आलोचना के लिए महज अनुभव पर्याप्त नहीं है और बिना अनुभव के विचार पैदा नहीं होते। लेनिन की स्वीकारोक्ति है कि - अनुभव सीमित होता है। ज्ञान में अधिक समग्रता होती है। मार्क्स ने भी कहा है- 'अगर अनुभव ही पर्याप्त होता तो विज्ञानों का आविष्कार न होता।' अनुभव गति को सम्पूर्णता में व्याक्त नहीं कर सकता है। उदाहरण के लिए मीर तक़ी मीर के इस शेर को देखा जा सकता है -

*'नाजुकी उसके लब की क्या कहिए  
पंखुड़ी एक गुलाब की सी है।'*

यहाँ होठों की तुलना गुलाब की एक पंखुड़ी से की गई है। यह तुलना सिर्फ अनुभव से संभव नहीं हो सकती थी। होंठ तो अनुभव में है लेकिन उसका तुलनीय विचार के द्वारा ही आया है। शेर में भाषा का प्रयोग देखिए, उसमें 'की सी है' पर जो अतिरिक्त बल है, उसे देखिए, तब अनुभव और विचार की एकता का मर्म समझ में आएगा। प्रो. मैनेजर पाण्डेय का कहना बिल्कुल सही है- 'हम अनुभव से प्रकाश की गति नहीं प्राप्त कर सकते, उसके लिए विचार की आवश्यकता होती है।' आशय यह कि अनुभव और विचार एक दूसरे के पूरक हैं। इनमें से किसी एक को लेकर आलोचना कर्म में संलग्न होना उचित नहीं है क्योंकि ऐसी आलोचना एकांगी और अधूरी होगी।

जैसा कि पहले कहा गया है कि अनुभव के बिना विचार पूरा नहीं होगा लेकिन किसी खास विचारधार के द्वारा विचार जरूर मिल सकते हैं, और उन विचारों के माध्यम से आलोचक रचना से अपना सम्बंध बना सकता है। लेकिन तब यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि अनुभव से प्राप्त विचार और विचारधारा से प्राप्त विचार में आलोचना के लिए कौन उपयुक्त होगा? जाहिर है, इस प्रश्न का उत्तर आसान नहीं है।

किसी भी अन्य मनुष्य की तरह आलोचक भी किसी न किसी समाज में ही रहता है। उस समाज में रहते हुए अनुभव बटोरता है और इस अनुभव की कोख से विचार जन्म लेते हैं, जिनके माध्यम से वह आलोचना करता है लेकिन एक व्यक्ति का अनुभव और उस अनुभव से निःसृत विचारों की एक सीमा है। यह सीमा कई बार कमजोरी का भी रूप ग्रहण कर लेती है, अगर आलोचक अपने विचारों को व्यापक मानव समाज के अनुभवों से प्राप्त विचारों से न जोड़ ले। आशय यह कि अपने अनुभव से प्राप्त विचारों पर केंद्रित हो जाने से व्यक्तिवादी हो जाने का खतरा बना रहता है। दूसरी ओर किसी विचारधारा से प्राप्त विचारों की आंच में रचना के खरेपन का मूल्यांकन भी उस स्थिति में इकहरा ही होगा, यदि लेखक के पास अपने जीवनानुभव से प्राप्त विचार नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यह खतरा बना रहता है कि आलोचक एक खास चश्मे से चीजों को देखेगा और जो उसमें 'फिट' बैठेंगी, उन्हें श्रेष्ठ और अन्य को कूड़ा-करकट कहकर किनारे कर देगा। इतना ही नहीं, कई बार सिर्फ विचारधारा से प्रेरित आलोचक हर रचना में विचारधारा के केंद्रीय विचार ढूँढ निकालता है और रचना के साथ अन्याय हो जाता है। ऐसे



लोगों को ध्यान में रखकर ही मार्क्स ने कहा है, 'कुछ लोग कला के साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा मजिस्ट्रेट मुजरिम के साथ।' मार्क्सवादी विचारधारा के आलोक में आलोचना करने वाले कुछ आलोचक सिद्धांत निरूपण करते हुए रचना को उदाहरण के रूप में पेश करते हैं। आशय यह कि वे 'रचना की आलोचना' के स्थान पर उसे सिद्धांत की व्याख्या के लिए उपयोग में लाते हैं। इससे लगता है कि उनके लिए रचना का कोई स्वतंत्र महत्व नहीं है। जो है, वह विचारधारा ही है। यह अतिवाद का दूसरा छोर है जो विचारधारा से प्राप्त विचारों के आलोक में की गई आलोचना की सीमा है। विचारधारा से संचालित आलोचना का एक खतरा यह भी है कि कुछ आलोचक उन रचनाकारों की रचनाओं का मूल्यांकन ही नहीं करते, जो उनके खेमे से बाहर के हैं। वैसे इस तरह के आलोचकों को लेनिन से सीखना चाहिए कि किस तरह उन्होंने टालस्टाय का मूल्यांकन किया है और अलग से यह बताने की जरूरत नहीं है कि टालस्टाय मार्क्सवादी न थे। दरअसल विचारधारा का काम दिशा-निर्देश का होना चाहिए, जैसा कि लेनिन मानते भी थे। टेरी इगल्टन ले लिखा ने कि 'यदि मार्क्सवाद का उद्देश्य समाज को समझना और बदलना है तो मार्क्सवादी आलोचना का भी यही उद्देश्य होना चाहिए।' आलोचना में चीजों को जड़ से पकड़ने की कोशिश होनी चाहिए। हम उन रचनाकारों पर अपनी दृष्टि केंद्रित करें जो मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति पूरी तरह समर्पित थे लेकिन विचारधारा के आलोक में अपने जीवनानुभव से प्राप्त विचारों का संयोग करके ही महान रचनाएं दे सके। बेखत और गोर्की जैसे लोग महान उदाहरण हैं। हिंदी में प्रेमचन्द हैं जो जिस-जिस विचारधारा से प्रभावित हुए, उसके प्रभाव को अपने जीवनानुभव से मिलाकर ही अविस्मरणीय रचनाएँ दे सके। कहने का आशय यह कि आलोचक को भी यह समन्वय करना चाहिए। उसे आलोचना करते समय रचना को एक सांचे में बिठाकर उसके निकले हुए अंगों को काटने की बजाय उसमें गहरे पैठकर उसमें चित्रित जीवन और वर्णित कथ्य को समझने की कोशिश करनी चाहिए। फिर किसी वैज्ञानिक विचारधारा और ईमानदार जीवनानुभव से प्राप्त विचारों के आलोक में मूल्यांकन करना चाहिए। आलोचना के लिए अनुभव, अनुभव से प्राप्त विचार और एक वैज्ञानिक विचारधारा का सहयोग आवश्यक है। इनमें से किसी एक के माध्यम से की गई आलोचना इकहरी और अधूरी होगी।



## आलोचना का विश्व

### रघुवंशमणि

पश्चिमी जगत में अरस्तू और प्लेटो जैसे दार्शनिकों ने भले ही साहित्य में बारे में आलोचनात्मक लेखन प्रारंभ किया हो, फिलिप सिडनी, विलियम वर्डस्वर्थ, पी. बी. शेली, टी. एस. एलियट जैसे लेखकों ने सृजनात्मक कर्म के साथ ही साथ आलोचना का काम भी हाथ में लिया है। हिंदी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचकों के साथ-साथ यह कार्य जयशंकर प्रसाद, निराला और पंत जैसे कवियों ने भी संभाला था। इसका एक स्पष्ट कारण यह था कि छायावाद के दौर में वे कवि जिस प्रकार का सृजन कार्य कर रहे थे, उसके बारे में स्थापित आलोचकों का दृष्टिकोण पारंपरिक था और यह दृष्टिकोण किसी भी प्रकार से उनकी सर्जना के बारे में बुद्धिसंगत सैद्धांतिक या व्यावहारिक समीक्षा नहीं प्रस्तुत कर सकता था परिणामतः उन्हें अपनी सर्जनात्मकता के सैद्धांतिक पक्ष को स्वयं ही प्रस्तुत करना पड़ा। यह एक प्रकार से रचनाकारों द्वारा साहित्य जगत में अपनी कविता का पक्ष प्रस्तुत करना था।

कविता अथवा साहित्य के सैद्धांतिक पक्ष को प्रस्तुत करने के पीछे रचना के प्रति पाठकों में एक तरह की समझदारी विकसित करना होता है जिसके बिना साहित्य को समझ पाना अथवा ठीक तरह से समझ पाना कठिन होता है। सर्जनात्मकता के संदर्भ में आलोचना इसी प्रकार से अपनी प्राथमिक उपयोगिता सिद्ध करती है। अकसर आलोचकों से निराश कवियों की दुनिया आलोचकों की उपस्थिति को ही खारिज करने लगती है और बहुत से रचनाकार यह कहते नजर आते हैं कि आलोचकों की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है वे तो पाठकों के लिए लिखते हैं। तमाम कवियों ने अपनी कविताओं में आलोचकों का मजाक भी उड़ाया है परंतु मूल्यांकन के लिए उन्हें भी आलोचक की जरूरत पड़ती ही है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि सृजनशीलता के लिए पाठकों की अनिवार्यता है। मगर देखें तो यह पाठक भी एक प्रकार का आलोचक ही होता है। रचना के प्रति प्रशंसा अथवा निंदा का भाव, अन्य रचनाओं की तुलना में उनका मूल्यांकन पाठकों द्वारा किया ही जाता है, जो अनौपचारिक रूप से आलोचना ही है। रचनाकार भी अपनी रचना प्रक्रिया में अपनी रचनाओं का आलोचक तो होता ही होता है। रचना प्रक्रिया के दौरान रचना में परिवर्तन करना, एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द को रखना, और कभी-कभी तो रचना के किसी अंश को पूरी तरह

खारिज करते हुए उसे पुनः लिखना, ऐसा ही कार्य होता है। यही कारण है कि कभी-कभी आलोचना और रचना के भेद को समाप्त करने के प्रयास भी होते रहे हैं। इस प्रयास को हम अपने पुराने काव्यशास्त्र में भी स्थान पाते देखते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत साहित्य में समादृत काव्यशास्त्रकार राजशेखर कवि और भावक में कोई भेद न करते हुए दोनों को एक ही मानते हैं। दूसरी तरफ अठारहवीं सदी के अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. जॉनसन यह मानते हैं कि कवियों की कविताओं पर निर्णय देना कवियों का कार्य है। कवियों में भी यह कार्य सर्वश्रेष्ठ कवि ही कर सकते हैं। यहां निश्चित रूप से इन वक्तव्यों के पीछे यह तर्क कार्य करता है कि कविता अथवा साहित्य की समझदारी के लिए पाठक अथवा आलोचक को संवेदनशील होना चाहिए अन्यथा वह कवि के धरातल पर नहीं पहुंच पाएगा। हालांकि राजशेखर आगे कालिदास का उदाहरण देते हुए कवित्व से भावकत्व को पृथक करते हैं।

राजशेखर या डॉ. जॉनसन के समय में शायद यह बात इतनी स्पष्ट न रही हो, मगर अब यह स्पष्ट है कि हमारे समय में आलोचक और रचनाकार पृथक-पृथक हो गए हैं। आज आलोचना को हम स्पष्टतः साहित्य में अलग स्थान पाते हुए देखते हैं। अखबारों और पत्रिकाओं में पुस्तकों की समीक्षाओं का व्यावसायिक रूप सामने आया है और लेखकों की एक ऐसी पूरी जमात है जिसका काम सिर्फ समीक्षा या आलोचना के क्षेत्र में काम करना रहा है। वे सृजनात्मक लेखन के क्षेत्र में नहीं होते। यह तथ्य इस बात को रेखांकित करने वाला है कि कवित्व और भावकत्व में अंतर अवश्य है, भले उनके अंतर्संबंध बने ही रहते हों। इस पारंपरिक शब्दावली से अलग आज आलोचना अपना अलग स्थान सुनिश्चित करती है।

एक दौर था जब आलोचना को दूसरे दर्जे का काम माना जाता था। अक्सर यह कहा जाता था कि आलोचना का काम रचना के पीछे-पीछे चलने वाला है। अठारहवीं सदी के अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक जोसेफ एडीसन में अपने एक मनोरंजक लेख में इस बात का जिक्र किया था कि आलोचकों का काम दोगम दर्जे का है। इस लेख में न्याय की देवी न्याय करने के लिए पृथ्वी पर अवतरित होती हैं। वह न्याय करते समय सृजनात्मक लेखन में लगे लेखकों को प्रथम पंक्ति में स्थान देती है जबकि आलोचकों को रचनाकारों का पिछलगू बताकर पीछे की पंक्ति में खड़ा करती हैं। हिंदी में यह कहावत तो बहुश्रुत है कि आलोचक असफल रचनाकार ही होते हैं यानी रचना के कार्य में सफल न होने पर लोग रचना में कमियां निकालने का धंधा शुरू कर देते हैं। यह देखने की बात रही है कि आलोचना का कार्य रचना में कमियां निकालने तक सीमित नहीं है। हमारे समय में उसका एक स्वतंत्र व्यक्तित्व विकसित हो चुका है। यह बात ध्यान देने की है कि यह व्यक्तित्व आलोचना को आखिर किस प्रकार प्राप्त हुआ है?

किसी कृति की सर्जना में रचनाकार का महत्व असंदिग्ध है और इसी कारण उसे संस्कृत साहित्य में प्रजापति का दर्जा भी दिया गया है। यह स्वाभाविक ही था कि रचनाकार की यह केंद्रीयता लंबे समय तक साहित्यशास्त्र में बनी रहती है लेकिन यह भी एक तथ्य है कि कृति की सृष्टि के पश्चात पाठक का एक अस्तित्व सामने आता है जिसका महत्व स्वयं में कुछ कम

नहीं। इसी सिलसिले में एक विशिष्ट किस्म के पाठक का सामने आना अवश्यभावी हो जाता है, जो रचना के बारे में विशिष्ट राय रखता है और उसके बारे में कुछ सामान्यीकरण भी करने लगता है। वास्तव में ये सामान्यीकरण जो आलोचना के सिद्धांतों की ओर ले जाते हैं, सिर्फ पाठक का पक्ष नहीं होते, वे रचनाकार और पाठक के बीच की अंतर्क्रिया के रूप में सामने आते हैं। ये पाठकों के बीच से उभरने वाली अभिरुचि के रूप में भी होते हैं।

रचना और उसके निर्वचन की विशिष्ट पाठकीय प्रक्रिया, जिसे आलोचकीय प्रक्रिया कहते हैं, एकमुखी नहीं होती। उसकी बहुलता में ही साहित्य का सौंदर्य और उसका विकास निहित होता है। यह बहुलता किसी रचना के प्रति आलोचकों के विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों के कारण होती है। यह दृष्टिकोण ही बाद में आलोचना की विभिन्न अवधारणाओं का कारण बनता है। रचना की पाठकों के सामने आने वाली विभिन्न छवियां वास्तव में विभिन्न दृष्टिकोणों के कारण ही होती हैं। ये विभिन्न छवियां ही रचना को अधिकाधिक अर्थपूर्ण बनाती हैं, और दीर्घजीवी भी।

इस प्रकार पाठक और फिर विशिष्ट पाठक से आलोचक तक की यात्रा होती है। मगर क्या आलोचना बस रचना के पीछे चलने वाली विधा भर है। वास्तव में 19वीं सदी से ही रचना के पाठ के सिलसिले में ज्ञान की विभिन्न सरणियां उपयोग में आने लगीं। यह तो रचना की प्रकृति ही रही जिसके सिलसिले में विभिन्न ज्ञान के क्षेत्र आलोचना में प्रवेश पाने लगे। अब इतिहास से जुड़ी रचनाओं के सिलसिले में इतिहास को खंगालना ही पड़ता था। इसी प्रकार रचना में आए मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को समझने के लिए मनोविज्ञान की उपस्थिति आलोचना में अनिवार्य हो गयी। ऐसे ही रचना की विषयवस्तु में राजनीतिक तत्वों के उतरने के उपरांत राजनीति विषय को आलोचना से दूर रखना संभव नहीं रह जाता।

आलोचना के क्षेत्र में नए-नए दृष्टिकोण भी ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से अवतरित हुए पहले वे बहुत स्पष्ट नहीं रहे पर बाद में उनकी उपस्थिति बहुत साफ होती गयी। उदाहरण के लिए अपनी ऐतिहासिक दृष्टि को भले ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सैद्धांतिक जामा न पहनाया हो, वह उनकी आलोचना प्रक्रिया में साफ दिखलायी देता है। डॉ. जॉनसन की आलोचना में भी यह दृष्टिकोण निहित है, भले ही उसका प्रतिपादन उन्होंने बाद के आलोचकों की तरह न किया हो मगर ताइन जैसे आलोचकों के लेखन में यह सिद्धांत प्रतिपादन मिलता है।

ज्ञान के इन क्षेत्रों का साहित्य से कैसा संबंध बने, यह एक महत्वपूर्ण सवाल है। इंग्लैंड में एडवर्ड फ्रीमैन जैसे इतिहासकारों ने साहित्य को इतिहास के एक अंग के रूप में देखने की जिद की, जिसे एक तरह की अति ही समझना चाहिए। इंग्लैंड में जब विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी साहित्य को एक अलग विषय के रूप में रखने की बात आई थी, तो एडवर्ड फ्रीमैन महोदय ने इसका विरोध करते हुए कहा था कि साहित्य तो भाषा और इतिहास का ही एक हिस्सा है। इसे अलग से विषय के रूप में क्योंकर पढ़ाया जाना चाहिए? फ्रीमैन महोदय के इस दृष्टिकोण ने अंग्रेजी साहित्य को कुछ समय तक ऑक्सफोर्ड जैसे विश्वविद्यालयों से दूर रखा। इतिहास

के विद्वान फ्रीमैन महोदय का यह चिंतन वास्तव में एक प्रकार की अति ही थी। 1887 में उन्होंने अपने तर्क रखते हुए कहा था कि साहित्य के समर्थकों द्वारा यह बताया जाता है कि साहित्य के अध्ययन से अभिरुचि का परिष्कार होता है, सहानुभूति की शिक्षा मिलती है और मनोमस्तिष्क उदार होता है। ये अच्छी बातें हैं, फ्रीमैन महोदय स्वीकार करते हैं, मगर वे सवाल करते हैं कि क्या अभिरुचि और सहानुभूति की परीक्षा हो सकती है। उन्होंने कहा कि परीक्षकों के पास परीक्षा के लिए तकनीक और सकारात्मक सूचनाएं होनी चाहिए। फ्रीमैन महोदय ने इस प्रकार साहित्य को भाषा अध्यापन का हिस्सा ही बना रहने देने की वकालत की जिसमें वे सफल भी रहे।

फ्रीमैन के इस व्याख्यान का असर अंग्रेजी आलोचना पर दोहरा और दूरगामी रहा। इसकी प्रतिक्रिया में कैंब्रिज में साहित्य की अस्मिता तलाशते हुए आई.ए. रिचर्ड्स, विलियम इम्पसन, और एफ.आर. लिविस जैसे बड़े आलोचक सामने आए। इस तुलना में हमारे देश में आलोचना की स्वतंत्र अस्मिता बनी रही है और साहित्यशास्त्र पुराने समय से पढ़ाया भी जाता रहा है। मगर अन्य विषयों से उसके शास्त्रार्थी टकराव होते रहे हैं। व्याकरण के लोग साहित्य को कमतर समझते रहे हैं, और फिर दर्शनशास्त्र के विद्वानों के लिए दर्शन तो विज्ञानों का विज्ञान रहा है। मगर साहित्यशास्त्र अपना क्षेत्र बनाए रहा है।

साहित्य जगत में फ्रीमैन जैसे लोगों की अतियों को स्वीकृति नहीं मिली क्योंकि यह साहित्य की अस्मिता को ही संकट में डालने की बात थी। यही कारण है कि आलोचना के क्षेत्र में ज्ञान की अन्य सरणियों से आए सिद्धांतों को साहित्य की सापेक्षिक स्वतंत्रता के संदर्भ में ही देखने की बात की जाती है। जिन आलोचकों पर समाजशास्त्र या इतिहास हावी हो जाता है, उनकी अवधारणाएं अक्सर एकपक्षीय होती हैं।

मगर यह भी एक तथ्य है कि ये एकपक्षीय लगने वाली अवधारणाएं साहित्य जगत में महत्वपूर्ण बहसों को भी जन्म देती रही हैं। किसी भी प्रकार की परिवर्तनकारी अवधारणा अपनी शुरुआत में एकपक्षीय ही लगती है। अंग्रेजी में एक कथन है, 'एवरी थिसिस इज ए वनसाइडेड आरग्यूमेंट।' इस अर्थ में कोई भी नई अवधारणा लोगों के लिए अजीब होती है और उसे स्वीकार कर पाना परंपरागत लोगों के लिए बहुत कठिन होता है। छायावाद से लेकर आधुनिकता की विभिन्न अवधारणाओं के साथ प्रारंभिक दौर में ऐसा ही होता रहा है। बाद में ये अवधारणाएं साहित्य जगत में अपने को बुद्धिसंगत सिद्ध करती हैं। यदि ये ऐसा नहीं कर पातीं तो वे दीर्घजीवी नहीं रह सकती हैं।

आधुनिकता के दौर में छलांग लगाते हुए हम यह पाते हैं कि आलोचना सृजनात्मक साहित्य से अलग अपनी स्वतंत्र अस्मिता बना लेती है। बीसवीं सदी में यह क्षेत्र क्रिटिकल थियरी या आलोचनात्मक सैद्धांतिकी के माध्यम से बनता है जहां एडोर्नो, होर्खाइमर और हाबरमास जैसे आलोचक स्वयं को पूरी संस्कृति के समीक्षक के रूप में स्थापित करते हैं। इसी प्रकार मिशेल फूको जैसे आलोचक भी ज्ञान की आलोचना को अपना क्षेत्र मान लेते हैं जहां वे वर्चस्व के

नियमों को रेखांकित करते हैं। हिंदी में भी आलोचना सभ्यता समीक्षा तक पहुंचती है। नामवर सिंह जैसे आलोचक 'कविता के नये प्रतिमान' जैसे कविता केंद्रित ग्रंथ से 'वाद विवाद संवाद' जैसी पुस्तक तक पहुंचते हैं जो वास्तव में सभ्यता समीक्षा की ओर जाने की दिशा है। हिंदी साहित्य में परोक्षतः यह प्रक्रिया आचार्य रामचंद्र शुक्ल से ही प्रारंभ होती जा सकती है। शुक्लजी आलोचना, समीक्षा इतिहास लेखन के साथ 'रिडिल्स ऑफ युनिवर्स' का अनुवाद भी प्रस्तुत करते हैं। यह आलोचक के ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की प्रारम्भिक प्रवृत्ति थी। लेकिन प्रत्यक्षतः हम इस विकास को उन आलोचकों के लेखन में देखते हैं जो जीवन के विभिन्न पक्षों को वीक्षण के दायरे में लाते हैं।

आलोचना का यह स्वतंत्र अस्तित्व उसके भाषा केंद्रित आलोचना से अलग हटने के कारण बनता है। साहित्य में भाषा से जुड़े तत्वों को लेकर मूल्यांकन की प्रवृत्ति बहुत ही पुरानी है। यह भी सुनिश्चित है कि भाषा के द्वारा ही साहित्य का निर्माण होता है और आलोचना उसे छोड़कर साहित्य की समीक्षा नहीं कर सकती। मगर आलोचना जब रचना में भाषा तत्वों और भाषिक चमत्कारों से अलग हटकर चर्चा केंद्रित करती है तो आलोचना का सभ्यता समीक्षा वाला पक्ष सामने आने लगता है। इसे हम मुक्तिबोध द्वारा की गयी जयशंकर प्रसाद की कृति 'कामायनी' की आलोचना में देख सकते हैं। इस प्रकार आलोचना आगे बढ़कर कृति से परे वृहत्तर क्षेत्र में बढ़ती है। एडवर्ड सैड की कृति 'ओरिएंटलिस्म' इस बात का उदाहरण है कि तुलनात्मक आलोचना किस प्रकार अपनी सीमा को तोड़ती हुई उपनिवेशवादी दृष्टिकोण की आलोचना बन जाती है।

आलोचना का एक कोण तब बनता है जब आलोचक ऐतिहासिक आधार पर किसी कृति का आकलन करता है। मगर यह भी संभव है कि आलोचक अपने समय में विकसित हो रही किसी आलोचना दृष्टि के तहत कृति पर विचार करे। पहला तरीका तो पारंपरिक है जिसके तहत हम लेखक के समय को ध्यान में रखते हुए कृति का मूल्यांकन करते हैं, जिसकी वकालत डॉ. जानसन ने शेक्सपियर के नाटकों के सिलसिले में की थी। इसी तरह हम अपने समय की भी कृति को समय सापेक्ष देख सकते हैं और यह भी एक प्रकार से ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ही होगा। दूसरे तरीके में रचना को देखने का परिप्रेक्ष्य वह दृष्टिकोण होगा जो आलोचक का है।

हिंदी में इधर उभरकर सामने आने वाला दलित विमर्श आलोचना की दिशा में आये महत्वपूर्ण बदलाव को रेखांकित करता है। हिंदी जगत में विगत के बहुत सारे निर्वचन संबंधी विवाद दलित लेखन के ही सिलसिले में उभरे हैं। यदि ध्यान दें तो दलित विमर्श हिंदी जगत में ऐसे क्षेत्र का निर्माण करता है जो साहित्य को समेटते हुए भी साहित्य तक सीमित नहीं रह गया है। यह विमर्श आलोचना का ऐसा क्षेत्र है जो ज्ञान की विभिन्न सरणियों का इस्तेमाल करते हुए भी अपनी अलग इयत्ता रखता है। यह आलोचना के क्षेत्र में आ रहे बदलाव का ही द्योतक है।

साहित्य की कृतियों से जीवन की ओर चलते-चलते आलोचना जीवन को केंद्र में रखने

लगती है। यह तथ्य केवल इस ओर इंगित करता है कि जीवन और साहित्य एक दूसरे से घुले मिले हैं और आलोचना इन दोनों से जुड़ती है। सभ्यता, संस्कृति अथवा जीवन की ओर प्रस्थान करने का मतलब साहित्य को छोड़ना नहीं है। आलोचना अपने इस समकालीन अधिवास के चलते साहित्य से दूर नहीं हो जाती। दरअसल इसी धरातल से साहित्य और जीवन के बीच आलोचना की आवाजाही जारी रहती है।

हमारे समय की आलोचना में विभिन्न प्रकार की क्रियाएं एक साथ परिलक्षित होती हैं लेकिन यह सुनिश्चित है कि परंपरागत आलोचना पद्धतियों का प्रभाव बहुत अधिक नहीं पड़ता दिखाई देता। उदाहरण के लिए एक खास अंदाज में छपने वाली समीक्षाएं नीरस हो चली हैं। लोग उन्हें पढ़ते-पढ़ते उकता गये हैं लेकिन विभिन्न ज्ञान क्षेत्रों को सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य से रचना और जीवन को जोड़ने वाली आलोचना अपनी अहमियत को साबित करती है। उदाहरण के लिए स्त्री से जुड़े प्रश्नों ने हिंदी आलोचना के लिए नया क्षेत्र ही प्रस्तुत किया है। स्त्री विमर्श ने न केवल नए साहित्य को समझने का नया मार्ग प्रशस्त किया है, बल्कि स्त्री के मुद्दे को भी आलोचना का एक विषय बनाया है। इस प्रकार स्त्री विमर्श आलोचना का एक विशिष्ट क्षेत्र ही बन गया है। हमारे समय के समाज को देखते हुए आलोचना की इस प्रकार की भूमिका अधिक से अधिक बढ़ती जा रही है। आलोचना का क्षेत्र विस्तार भविष्य में अपार संभावनाओं से भरा हुआ है।



## सबॉल्टर्नवादी (उपाश्रयी) आलोचना का स्वरूप

शशि कुमार 'शशिकांत'

पिछले कुछ दशकों में साहित्य के अध्ययन एवं मूल्यांकन की एक ऐसी दृष्टि सामने आई है जिसे 'सबॉल्टर्न या उपाश्रयी आलोचना दृष्टि' कहा जाता है। यह आलोचना दृष्टि भारतीय इतिहास लेखन के क्षेत्र में उभरी एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो आधुनिक भारत के इतिहास के अध्ययन एवं लेखन से प्रभावित है। इतिहासकार गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक के अनुसार सबाल्टर्न अध्ययन औपनिवेशिक कालखंड में अभिजात्य यानी आधिकारिक स्रोत से इतर जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता का इतिहास विनिर्मित करने की प्रविधि है। बीसवीं सदी के नौवें दशक में आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन के क्षेत्र में शुरू हुई इस प्रविधि पर आधारित लेखों के संकलनों में रणजीत गुहा एवं उनके साथी इतिहासकारों- गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक, शाहिद अमीन, ज्ञानेंद्र पांडेय, डेविड हार्डिमान, रामचंद्र गुहा, स्वप्नदास गुप्ता, गौतम भद्र, डेविड आर्नल्ड, दीपेश चक्रवर्ती, वर्नार्ड, एस. कोहन का योगदान महत्वपूर्ण है।

'सबाल्टर्न' मूलतः सेना का शब्द है। शब्दकोशों में इसका अर्थ 'कैप्टन के नीचे के सैनिक अधिकारियों' एवं 'छोटे पदों' के रूप में मिलता है। इतिहासकार द्वय प्रो. शाहिद अमीन और प्रो. ज्ञानेंद्र पांडेय के मुताबिक चिंतन और लेखन के क्षेत्र में इस शब्द को लाने का श्रेय इटली के मार्क्सवादी चिंतक अंतोनियो ग्राम्शी को प्राप्त है। ग्राम्शी ने अपनी कृति 'प्रिजन नोटबुक्स' में सबाल्टर्न पद की स्वसंदर्भित व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने 'सबाल्टर्न' शब्द समाज के गौण, दलित, उत्पीड़ित और समाज के हाशिए पर के लोगों के लिए इस्तेमाल किया था। भारतीय इतिहास के अध्ययन एवं लेखन के लिए इस दृष्टि के उपयोग के पीछे रणजीत गुहा एवं उनके साथी इतिहासकारों का सरोकार 'भारतीय समाज में प्रभुत्व और मातहती के बहुआयामी रूप के सामने लाने का, वर्ग संघर्ष और आर्थिक द्वंद्व की कोरी आर्थिकता के कटघरे से आजाद कर उसके सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिरूप और विशिष्टताओं का करीब से विवेचन करने का रहा है।' इस अध्ययन दृष्टि की खासियत इतिहास में आदिवासियों, दलितों, स्त्रियों, गरीब किसानों, चरवाहों, कामगारों वगैरह की भूमिका को उजागर करना है।

'सबाल्टर्न अध्ययन दृष्टि की विचारधारात्मक अवधारणा यह है कि भद्रलोक प्रभुत्वशाली



वर्ग की राजनीतिक दुनिया से बाहर और उसके समानांतर एक राजनीतिक क्षेत्र और है जिसके केंद्र में उत्पीड़ित जनों के नायक हैं। भद्रलोक की राजनीति से संपर्क होने के बावजूद यह एक स्वायत्त केंद्र है, जिसकी भाषा चेतना और क्रियाशीलता भद्रलोक से स्वतंत्र और भिन्न है।' सबाल्टर्न अध्ययन दृष्टि ऐतिहासिक संघर्षों में उन्हीं उत्पीड़ित समुदायों की क्रियाशीलता, भाषा चेतना और उनकी अभिव्यक्ति की प्रणालियों के अध्ययन पर जोर देती है, क्योंकि भद्रलोक की राजनीतिक अभिव्यक्ति में इनको न तो मान्यता मिली है न स्थान ही।' सबाल्टर्न अध्ययन दृष्टि के मूल में ग्राम्शी का चिंतन तो है ही साथ में उत्तर संरचनावाद और विखंडनवाद का भी प्रभाव दिखता है।

सबाल्टर्न चेतना से हमारा तात्पर्य अधीनस्थ, मातहत, उत्पीड़ित एवं निम्न जन से है चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, जो मानव सभ्यता के विकासक्रम में लंबे समय तक से व्यवस्था में हाशिए पर रहे हैं या रखे गए हैं। सबाल्टर्न इतिहासकारों के अनुसार, इस श्रेणी में सामान्यतः 'आम जनता'- गरीब, किसान, चरवाहा, कामगार, मजदूर, दलित जातियां, स्त्री समाज आदि आते हैं। वस्तुतः किसी भी समुदाय समाज या राष्ट्र के निर्माण में केवल अभिजात्य वर्ग की ही भूमिका नहीं होती लेकिन पूरी व्यवस्था चाहे वह सामाजिक हो या राजनीतिक अथवा आर्थिक या सांस्कृतिक भी- पर यदि अभिजात, प्रबुद्ध, पढ़े-लिखे, आधुनिक एवं शहरी लोगों की पकड़ हो और शेष लोगों को हाशिए पर धकेल दिया गया हो तो उस समुदाय, समाज और राष्ट्र का स्वरूप कैसा होगा- आज के दौर में क्या यह एक विचारणीय सवाल नहीं है?

आज यह भी समझने की जरूरत है कि 'कोई भी समाज केवल अभिजात वर्ग का समाज नहीं हो सकता और हमारी राय में किसी भी समाज का इतिहास सिर्फ उसके अभिजात वर्ग का इतिहास नहीं हो सकता।' मध्यकालीन हो या आधुनिक समाज व्यवस्था बल्कि अतिशय उपभोक्तावाद, भूमंडलीकृत, उत्तर आधुनिक समाज व्यवस्था को भी देखें तो हमें कई चीजें हैरान करती हैं। हम पाते हैं कि मध्यकालीन समाज में सामंती व्यवस्था के अंतर्गत एक तरफ सामंत वर्ग था तो दूसरी तरफ साधारण प्रजा और महाजन, यहां तक कि नवाबों एवं राजा-महाराजाओं के शान-शौकत के लिए मंत्री, सैनिक, दरबारी या प्रजा का होना जरूरी था। इसके बावजूद राजा-महाराजाओं के मातहत क्रियाशील श्रमजीवी समाज को क्या राजनीतिक, आर्थिक और (धार्मिक भी) क्षेत्रों में निर्णय लेने या मंत्रणा अथवा सलाह-मशविरा करने का अधिकार प्राप्त था? यहां गौर करनेवाली बात यह है कि मंत्री, सेनापति, सैनिक, दरबारी आदि प्रजा के साथ नवाब एवं राजा-महाराजाओं अथवा शासकों के मातहत दिखते हैं लेकिन सच बात तो यह है कि ये सभी प्रजाओं को छोड़कर शासक वर्ग के अधीन रहकर भी राजकाज के क्रियाकलापों में भागीदार थे और प्रजा की नजर में उत्पीड़क थे इसीलिए राजा और उसके मातहत पूरी प्रजा को सीधे-सीधे दो वर्गों में बांटकर देखना नाकाफी होगा क्योंकि हम देखते हैं कि मंत्री, सेनापति, दरबारी और सैनिकों की स्थिति मध्यकालीन व्यवस्था में प्रजाओं की अपेक्षा बेहतर तो थी ही व्यवस्था में उनकी हिस्सेदारी भी थी और निर्णय लेने का भी थोड़ा

बहुत अधिकार प्राप्त था। इसी तरह सेनापति, मंत्री, दरबारी और सैनिकों आदि में भी कई तरह की आधिकारिक भिन्नताएं थीं।

जमींदारी व्यवस्था में भी हम देखते हैं कि दरबारी, मुंशी, जोतदार और असामी जमींदारों के मातहत थे और जमींदारों के उत्पीड़न के शिकार भी होते थे लेकिन मुंशी और दरबारी की अपेक्षा क्या जोतदार और असामी अधिक उत्पीड़ित नहीं थे? इसी नजरिए से स्वाधीनता आंदोलन में राष्ट्रीय नेताओं के बनिस्वत छोटे आंदोलनकारियों और आम जनता के योगदान और स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास में उल्लेख किए गए उनके स्थान को देखा और समझा जा सकता है। वस्तुतः साहित्यिक कृतियों के माध्यम से सामाजिक संरचना की इस जटिलता को समझना और अधीनस्थ चेतना के अंतर्गत इसे आलोचना दृष्टि में शामिल करना ही हमारा सरोकार है।

सबाल्टर्न चेतना किसी भी समुदाय समाज या राष्ट्र के निर्माण में शहरी, अभिजात, आधुनिक, पढ़े-लिखे, प्रबुद्ध लोगों की एकमात्र भूमिका को नकारती और चुनौती तो देती ही है, साथ ही अधीनस्थ, मातहत, उत्पीड़ित जनों को एकांगी रूप में न स्वीकार कर दोनों के बीच में पनपे आपसी संबंध, आश्रय और द्वंद्व अथवा टकराहट को समझने में मदद भी करती है। इस तरह कहा जा सकता है कि सबाल्टर्न चेतना से हमारा तात्पर्य मानव सभ्यता के विकास में हाशिए पर रखे गए साधारण जनता की चेतना और उसकी स्वायत्तता से है।

उत्तर उपनिवेशवादी चिंतन के इस दौर में यह साबित हो गया है कि किसी भी दौर में व्यवस्था पर पूरी पकड़ अभिजात्य वर्ग की होती है चाहे वह समाज मध्यकालीन हो या आधुनिक अथवा उत्तर-आधुनिक बल्कि तथाकथित लोकतांत्रिक राज्य में भी चूंकि शासन, व्यवस्था, सत्ता या प्रतिपक्ष में भी अभिजात, प्रबुद्ध, पढ़े-लिखे पुरुषों की ही पकड़ होती है। एक धनी माने केवल करोड़पति नहीं नहीं, अच्छे खाते-पीते मध्यमवर्गीय लोग, दूसरे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग और तीसरे ऊंची जाति वाले यानी अर्थ, समाज और शिक्षा तीनों पर शासक वर्ग का कब्जा है। इतना ही नहीं, धर्म, राजनीति, कानून एवं दंड-व्यवस्था वगैरह के स्वरूप का निर्धारण भी बहुत हद तक यही सब मिलकर करते हैं जबकि साधारण जन उनके द्वारा बनाई गई व्यवस्था, नियम-कानून वगैरह का पालन करते हैं। आजादी के लगभग सात दशक की लोकतंत्र यात्रा के मूल्यांकन के बाद क्या समाज और राष्ट्र का यही स्वरूप हमारे सामने नहीं है?

सबाल्टर्न चेतना को व्याख्यायित करते हुए प्रो. शाहिद अमीन और प्रो. ज्ञानेन्द्र पांडेय ने लिखा है कि 'गौण से गौण, तुच्छ, निर्बल गुट या व्यक्ति चाहे स्त्री हो या पुरुष मनुष्य तो होता ही है- सोचता-विचारता है, अपने अगले कदम तय करता है, दुनिया में जीने का, बढ़ने का, प्रीत लगाने या फिर बदला लेने का रास्ता ढूंढता है।' इतना ही नहीं, समाज के हाशिए पर के मनुष्य समूहों मसलन दलित, आदिवासी या 'अनपढ़', अथवा तथाकथित 'मूर्ख' एवं 'गंवार' व्यक्तियों के भी अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धर्मिक-सांस्कृतिक सरोकार होते हैं चाहे उसका स्वरूप जैसा भी हो। इसके अंतर्गत उनके सामाजिक संबंध, कर्मकांड, आस्था, विश्वास,

नैतिकता, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक वगैरह सभी कुछ आ जाते हैं। शिक्षित, आधुनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से जीवन को देखने-परखने और समझने वालों के लिए इनके विश्वास भले अवैज्ञानिक, मध्यकालीन, बेतुके या अतार्किक हों लेकिन ये लोक विश्वास, लोक आस्था या कर्मकांड उनके जीवन के अभिन्न अंग होते हैं।

सबाल्टर्न चेतना के इस स्वावलंबी रूप को सिर्फ इतिहास और साहित्य के लेखन एवं मूल्यांकन तक ही सीमित नहीं रखा जाना चाहिए बल्कि राजनीति, समाज, अर्थ, संस्कृति वगैरह क्षेत्रों के अध्ययन में भी इस दृष्टि को अपनाने की जरूरत है। प्रख्यात चिंतक पूरनचंद्र जोशी, जो कि मनुष्य की समाजार्थिक एवं राजनीतिक विकास के ऐतिहासिक सृष्टि का नियामक संस्कृति को मानते हैं, ने प्रसिद्ध नवैज्ञानिक मैलिनास्की को उद्धृत करते हुए लिखा है, 'मानव जाति की समस्त सामाजिक विरासत' या मानव की समस्त संचित सृष्टि का नाम ही संस्कृति है।' आगे वे लिखते हैं, 'संस्कृति में मूल्य, मान्यता, चेतना, विश्वास, विचार, भावना, रिवाज, भाषा, ज्ञान, धर्म, कर्म, जादू-टोना आदि वे सभी अमूर्त स्वरूप भी शामिल हैं, जिनसे मानव सृजित कृत्रिम जगत सार्थकता और महत्व पाता है। संस्कृति की रचना के मूल में है मानव और प्रकृति का गतिशील संबंध, जिसमें सामंजस्य और द्वंद्व, दोनों के तत्व और संभावनाएं विद्यमान हैं। मानव और प्रकृति के निरंतर गतिशील संबंध मानव और मानव के निरंतर विकासमान और बदलते संबंधों में भी रूपांतरित होते रहे हैं। उसी से मानव के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विकास के इतिहास की सृष्टि हुई है।'

हालांकि हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए सबाल्टर्न इतिहास दृष्टि कोई नई बात नहीं है क्योंकि प्रकारांतर से ही सही भक्ति साहित्य खासकर संत साहित्य में इसके पर्याप्त सूत्र मिलते हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य में भी प्रेमचंद, मुक्तिबोध, निराला, रघुवीर सहाय, फणीश्वरनाथ रेणु वगैरह प्रगतिशील रचनाकारों की रचनाओं में भी इसके सूत्र देखे जा सकते हैं। बावजूद इसके इतना जरूर है कि सबाल्टर्न अध्ययन दृष्टि हिंदी साहित्य और मानव समाज एवं इतिहास को सोचने, समझने और देखने-परखने की एक नवीन दृष्टि हमें देती है इसीलिए इसमें हिंदी साहित्य की नवीन आलोचना दृष्टि के विकास की पूर्ण संभावना दिखाई देती है।

सबाल्टर्न चेतना के स्वावलंबन से तात्पर्य मातहत, उत्पीड़ित या अधीनस्थ जन के व्यवहार और रीति-रिवाज तक अपने को सीमित रखना नहीं बल्कि एक समग्र मानवीय समझ का निर्माण करना है जो अभिजन चेतना के दायरे से बाहर निकल कर लंबे समय से व्यवस्था के अंदर हाशिए पर जी रहे मनुष्य की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को भी परखे और उनके सोच-विचार तक पहुंचे। इसके लिए जरूरी है कि हमारा प्रयास भारतीय समाज में प्रभुत्वशाली एवं मातहत समुदाय या समाज के बहुआयामी रूप को सामने लाना और उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रतिरूप और विशिष्टताओं का करीब से विवेचन करने का होना चाहिए।

वस्तुतः किसी भी समाज में प्रभुत्व केवल बलबूते पर ही कायम नहीं रहता। हाशिए पर के लोगों को उसके मातहत या अधीनस्थ होने का अहसास हमारी सांस्कृतिक गतिविधियों,

सामाजिक संबंधों, रहन-सहन वगैरह के द्वारा रोजमर्रा तौर पर कराया जाता रहा है। दरअसल एक अभिजात शख्स और एक अधीनस्थ जन के बीच कई तरह के फासले होते हैं। वेशभूषा, बोलचाल, घर-द्वार, जात-पांत, देवी-देवता- सभी तो अभिजन के बड़े होते हैं। कपड़े उनके स्वच्छ, बोली उनकी साफ, अटरिया उनकी ऊंची, जात उनकी बड़ी, शिवालय उनके पक्के, देवगण उनके शक्तिमान, लठैत उनके बलवान होते हैं और इन्हीं स्थितियों के बीच व्यक्ति की चेतना बनती है। जाति, धर्म, वर्ग, शूद्र, दलित, ब्राह्मण, मुस्लिम, हिंदू, गरीब, अमीर, अनपढ़, शिक्षित वगैरह लोगों की चेतना क्या इन्हीं पूर्व निर्धारित सामाजिक संबंधों के द्वारा तय नहीं होती, जिसमें धर्म, शिक्षा, संस्कृति, परंपरा वगैरह की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है? क्या ब्राह्मण या उच्च जातियों को दलित और शूद्रों की अपेक्षा अधिक सामाजिक श्रेष्ठता प्राप्त नहीं है? इतना ही नहीं, धनी और पढ़े-लिखे लोगों की भी तो समाज में सम्माननीय जगह होती है और गरीब, अनपढ़, शूद्र, दलित और स्त्री (भी) को समाज में दोगम दर्जा प्राप्त है। यह स्थिति पूरे हाशिए पर के लोगों के साथ लागू होती है।

दरअसल आज के समय में यह समझने की जरूरत है कि कोई व्यक्ति यदि विपन्न है और सामाजिक, आर्थिक या किसी अन्य परिस्थिति वश गरीब या अनपढ़ रहने को बाध्य है तो क्या यह उस व्यक्ति का दोष है या उस समाज का अथवा इतिहास का, जिसमें वह जी रहा है। शासन, सत्ता अथवा विपक्ष या नौकरशाही- सभी में उच्च पदों पर पहुंचने के लिए यदि अर्थ, राजनीतिक तोड़-जोड़, शिक्षा या योग्यता प्रतियोगिता भी आदि यदि सीढ़ी का काम करती है तो हमारे समाज का एक बहुत बड़ा तबका क्या इनसे वंचित नहीं है?

हालांकि यह भी ही कहा जा सकता कि राजनीति, सत्ता, नौकरशाही, व्यवस्था वगैरह का अंग हो व्यक्ति अभिजात और उत्पीड़क हो जाता है। वस्तुतः स्थिति इतनी सरल भी नहीं है, क्योंकि व्यवस्था का अंग होकर भी व्यक्ति किसी न किसी के मातहत रहता है और उत्पीड़न का भी शिकार होता है। बावजूद इसके डॉ. राम मनोहर लोहिया के शब्दों में- 'जनता के लिए तो सरकार वही है, जो उसके संपर्क में आए चाहे वह छोटे से छोटा नौकर क्यों न हो?' जबकि साधारण जन व्यवस्था या समाज और राष्ट्र में हाशिए पर रहकर लगातार उत्पीड़ित रहने को बाध्य होता है।

फिर हम देखते हैं कि वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्राह्मणों का वर्चस्व दलितों और शूद्रों पर तो होता ही है ब्राह्मणेतर उच्च जातियों पर भी होता है यानी उच्च जातियों को ब्राह्मणों की अपेक्षा समाज में कम श्रेष्ठता प्राप्त है जबकि दोनों उच्च वर्ग में आते हैं। बात सिर्फ ब्राह्मणों और ब्राह्मणेतर उच्च जातियों तक ही सीमित नहीं। ब्राह्मणों के अंदर भी श्रेष्ठता तय की जाती है- 'बड़ जात ब्राह्मण और छोट जात ब्राह्मण।' इतना ही नहीं दलित जातियों के अंदर भी एक-दूसरे के बीच श्रेष्ठता को लेकर तकरार होती है। मसलन गिरीश कर्नाड रचित 'रक्त कल्याण' नाटक में एक मोची का यह संवाद कि- 'हम चमार भले हैं लेकिन हम सूखा चमड़ा काटते हैं। हम मरे जानवरों की खाल नहीं खींचते वह काम तो डोम और दूसरी जातियां करती हैं।'

कहने का तात्पर्य यह कि समाज को सीधे-सीधे अभिजात और अधीनस्थ के रूप में विभाजित कर देखना उचित नहीं है, क्योंकि चेतना के स्तर पर अभिजन और मातहत-दोनों में परस्पर संबंध, आश्रय और द्वंद्व है इसीलिए सबाल्टर्न चेतना से हमारा सरोकार हर प्रकार के प्रभुत्व और मातहती के दर्जे को- चाहे वह आर्थिक हो या सांस्कृतिक, शक्ति, बाहुबल या सेना या फिर वर्ण, जाति या लिंग की श्रेष्ठता के आधार पर हो- मनुष्य समाज के स्वरूप को दर्शाता है।

सबाल्टर्न चेतना के स्वरूप विवेचन के अंतर्गत उनके कर्म, क्रिया और चेतना पर अपनाध्यान एवं चिंतन केंद्रित कर ही हम एक समग्र मानवीय समझ पैदा कर सकते हैं। इतिहास हो या साहित्य अथवा अन्य समाज विज्ञान- हम देखते हैं कि निम्न जन पर अमूमन अभिजन लोग ही लिखते रहे हैं। चाहे मजदूर-किसान आंदोलन हो या आदिवासी आंदोलन बल्कि दलित साहित्य और स्त्री लेखन को भी ले लें तो हम देखते हैं कि इन पर लिखने वाले बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो इस समुदाय से ही आते हैं। इतना ही नहीं, एक अनपढ़ व्यक्ति जब न्याय की गुहार के लिए अदालत में आता है तो वहां न्याय पाने के लिए उसे अंग्रेजीदां वकील का सहारा लेना पड़ता है, क्योंकि साधारण जन न तो न्यायालय की भाषा जानता है न वहां के कायदे-कानून।

ब्रतोल्त ब्रेख्त के 'खड़िया का घेरा' नाटक के एक प्रसंग का जिक्र करना यहां प्रासंगिक होगा। नाटक की एक पात्र - गरीब नौकरानी गूसा व्यंग्यात्मक लहजे में जज अजदक से कहती है- 'तुम हमारे ऊपर इसीलिए टूट पड़ते हो कि हम उन लोगों जैसी लच्छेदार बातें नहीं कर सकते, जो वकीलों को लेकर आते हैं।' यहां तक कि थानेदार के सामने जब वह अपने ऊपर ढाए जुल्म का बयान करता है तो उसकी रिपोर्ट में भी थानेदार की भाषा में है, जिस पर बहुत हद तक न्यायालय का फैसला निर्भर करता है। इस स्थिति में चेतना, क्रिया और इन दोनों की अदालती प्रस्तुति दस्तावेज में ऐसी सिलवटें पैदा कर देती हैं कि लिखित होने पर भी शब्दों का आंशिक अर्थ और रूप ही उभरकर ही सामने आता है। ऐसे कानून और न्याय व्यवस्था के साथ अभिजन या पढ़ा-लिखा समुदाय जितना जुड़ पाता है उतना देश की अनपढ़ और निरक्षर जनता नहीं। ऐसी स्थिति में आदिवासी कबीलों एवं गांव-देहातों में समानांतर रूप से कार्यरत 'पंचायती कानून' हमारे सामने लाजिमी सवाल पैदा नहीं करते हैं?

'हिंद स्वराज' में गांधीजी कहते हैं, 'अक्षर-ज्ञान शिक्षा नहीं है। अक्षर-ज्ञान से दुनिया को फायदे के बदले नुकसान ही हुआ। शिक्षा का साधारण अर्थ अक्षर-ज्ञान ही होता है। लोगों को लिखना, पढ़ना और हिसाब करना सिखाना बुनियादी या प्राथमिक या प्राइमरी शिक्षा कहलाती है।' गांधीजी पूछते हैं, 'एक किसान ईमानदारी से खुद खेती करके रोटी कमाता है। उसे मामूली तौर पर दुनियावी ज्ञान है। अपने मां-बाप के साथ कैसे बरतना, अपनी स्त्री के साथ कैसे बरतना, बच्चों से कैसे पेश आना है, जिस देहात में वह बसा हुआ है वहां उसकी चाल-ढाल कैसी होनी चाहिए, इन सबका उसे काफी ज्ञान है। वह नीति के नियम समझता और उनका पालन करता है लेकिन वह दस्तखत करना नहीं जानता। इस आदमी को आप अक्षर-ज्ञान देकर क्या करना चाहते हैं? उसके सुख में आप कौन सी बढ़ती करेंगे? क्या उसकी झोपड़ी और

हालत के बारे में आप उसके मन में असंतोष पैदा करना चाहते हैं?’ दरअसल मानवीय संस्कृति का एक स्तर ऐसा होता है जिसे लोक प्रवृत्ति और लोक मानस की विशिष्ट धारणाओं द्वारा अधिक सुगमता से समझा जा सकता है, जो शिष्ट और अधिकृत संस्कृति से बहुत अर्थों में भिन्न होती है।

सबाल्टर्न जनचेतना एवं कर्म को समझने के लिए इतिहासकार आम लोकगाथा, लोकगीत एवं लोक संस्कृति, लोक विश्वासों के अध्ययन की जरूरत महसूस करते हैं। यहां यह उल्लेख कर देना जरूरी है कि हिंदी का आदिकालीन और मध्यकालीन साहित्य लोकगाथा, लोकगीत, लोक स्मृतियों से भरा पड़ा है। इतना ही नहीं, हम देखते हैं कि संस्कृत भाषा के बाद प्राकृत और अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य अपने स्वभाव और प्रवृत्ति में लोक साहित्य के निकट है जो एक अपरिमार्जित सहजता के कारण शिष्ट समाज द्वारा उपेक्षित रहा है।

इस संदर्भ में सबाल्टर्न इतिहासकारों द्वारा इतिहास लेखन के क्षेत्र में लोक चेतना और कर्म से जुड़ने का प्रयास महत्वपूर्ण तो है ही सार्थक भी है। बावजूद इसके सबाल्टर्न इतिहासकार इसको लेकर कुछ कठिनाई महसूस कर रहे हैं, जैसा कि शाहिद अमीन और ज्ञानेंद्र पांडेय लिखते हैं, ‘लोक साहित्य के अपने ही आयाम होते हैं। लोककथाओं और लोकगीतों के लेखन का समय, उनका कार्य संदर्भ, उनकी मंशा जानने का मसला अपनी जगह रहता ही है और ये स्रोत उतने पारदर्शी भी नहीं जैसा कि कई रचनाकारों की मान्यता है।’

वस्तुतः सबाल्टर्नवादी आलोचना के अंतर्गत हमारा सरोकार सत्तारूढ़ या अभिजात और पढ़े-लिखे लोगों के साथ अनपढ़ एवं सामान्य जन की स्मृति, भाषा, रीति-रिवाज वगैरह को नए नजरिए से देखने एवं समझने का होना चाहिए। साहित्यिक दृष्टि से भी इसका महत्व कम नहीं क्योंकि साहित्य के विषयवस्तु और रूप को इसने बहुत हद तक प्रभावित किया है, जो प्रकारांतर से सांस्कृतिक प्रतिफलन ही है।

भाषा - सबाल्टर्नवादी आलोचना के स्वरूप को समझने के लिए उनके कर्म, लोक विश्वास, रीति-रिवाज वगैरह को समझना या उनका अध्ययन करना जितना जरूरी है, उनकी भाषा से जुड़ना भी उतना ही निवार्य है। क्योंकि किसी भी समुदाय, समाज या राष्ट्र का स्वरूप उनकी भाषा, संस्कृति, इतिहास वगैरह से ही निर्मित होती है। हिंदुस्तान के अंदर भाषा शुरू से ही राष्ट्रीय चिंतन का एक विषय रहा है। भाषा को लेकर यहां लंबे समय से विवाद चलता रहा है लेकिन इस भाषा विवाद का स्वरूप क्या रहा है? चाहे दक्षिण भारतीय भाषा विवाद हो या हिंदी-अंग्रेजी विवाद, पढ़ा-लिखा वर्ग अपनी भाषा को लेकर ही तो संघर्षरत रहा है।

भाषा को लेकर चल रहे तमाम विवादों के बीच आज एक सवाल यह भी है कि क्या देश की आधी आबादी की भाषा को लेकर कोई आंदोलन या विवाद हुआ? बेशक नहीं। ऐसे में जॉक देरिदा का यह कहना शायद ठीक है कि ‘समाज में जो शासक समुदाय है और उसके जो बुद्धिजीवी हैं वे संस्कृति और कला के क्षेत्र में एक केंद्रीय परंपरा बनाए रखना चाहते हैं और दूसरी परंपरा हमेशा हाशिए पर रखने की कोशिश करते हैं’ - यह समझने की जरूरत है। हाशिए

पर का एक आदमी या साधारण जन देश के राज-काज में प्रचलित भाषा और उसके कायदे-कानून के बारे में यदि अनभिज्ञ है तो क्या यह गंभीर मुद्दा नहीं है? यहां पर यह उल्लेख करना जरूरी है कि इन विभेद को सिर्फ अशिक्षित और पढ़े-लिखे लोगों की भाषा के रूप में हमें नहीं देखना चाहिए।

दरअसल अनपढ़ लोगों के बनिस्वत पढ़े-लिखे और भारतीय भाषाओं के जानकार लोगों की स्थिति अच्छी है लेकिन देश के अंदर राजकाज में तो अंग्रेजी भाषा का ही वर्चस्व है। जिसने हिंदुस्तान के करोड़ों लोगों के मन में हीनता का भाव भर दिया है। करोड़ों लोग यही सोचते हैं कि हम तो अंग्रेजी नहीं जनते, राज कैसे चलाएंगे। इस तरह लोकलाज में करोड़ों लोग ही ग्रस्त हो गए हैं। छोटी सी जायदाद के शासक बड़ी सी जायदाद के शासितों पर अपना रौब जितना गोली से चलाते हैं उससे ज्यादा बोली से कायम करते हैं।

वस्तुतः अंग्रेजी शुरू से ही क्षेत्रीय भाषाओं और हिंदी या हिंदियों के लिए एक चुनौती बनी हुई है। अधीनस्थ जनचेतना पर विचार विमर्श करते हुए अभिजात वर्ग की भाषा चेतना को समझने की जरूरत है। एक अनपढ़ व्यक्ति यदि पढ़े-लिखे लोगों के सामने हीनता से ग्रसित रहता है तो अंग्रेजीदां सोसायटी में अंग्रेजी न पढ़ने, बोलने, समझनेवाले की भी तो यही स्थिति होती है। डॉ. राम मनोहर लोहिया के शब्दों में यदि कहें तो 'भाषा और भूषा का यह अलगाव शासितों के मन में हीन भाव पैदा करता है। उनको लगता है कि शासक उनसे बहुत ऊंचा है। और वे खुद इतना नीचे हैं कि राजकाज उनके वश की चीज नहीं है। आजादी के बाद जिस सुनियोजित नीति के तहत यह सब किया गया है उसका प्रतिरोध भी होता रहा है और आज एक बार फिर इसका विरोध-प्रतिरोध जरूरी हो गया है, क्योंकि किसी सामंती समाज को खत्म करने के लिए और जनता में आत्मविश्वास पैदा करने के लिए यह जरूरी है कि सामंतों की भाषा और भूषा से जनता नफरत करना सीखे। कम से कम उसका तिरस्कार तो जरूर करे।'

वस्तुतः अभिजात चेतना के समानांतर अधीनस्थ जनचेतना को सम्मान दिलाने के लिए डॉ. रामनोहर लोहिया ने जो प्रयास किया उसके तहत अपनी किताब 'भाषा' में उन्होंने लिखा, 'हमने साफ कर दिया है कि एक तरफ तो लोकभूषा, लोकभाषा, लोक भोजन और लोक भवन है और दूसरी ओर सामंती भूषा, सामंती भाषा, सामंती भोजन और सामंती भवन।'

सबाल्टर्नवादी आलोचना दृष्टि के माध्यम से अधीनस्थ जनचेतना को हाशिए से चिंतन के केंद्र में लाने का मतलब यह नहीं कि हम सिक्के को पलटना चाहते हैं। दरअसल हमारी कोशिश साहित्य की एक नई समीक्षा दृष्टि विकसित करने की है। एक ऐसी समीक्षा दृष्टि जो अभिजात परिवेश और सोच-विचार से बाहर निकलकर अधीनस्थ या उत्पीड़ित लोगों की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को परखने और उसके साथ-साथ अभिजात और अधीनस्थ को दो अलग-अलग पटरियों पर न धकेलकर, इन दोनों के पारस्परिक संबंध, आश्रय और द्वंद्व के बदौलत हमारे साहित्यिक लेखन, अध्ययन और मूल्यांकन की पद्धति को सशक्त और मजबूत करे।

## भारतेंदुयुगीन हिंदी गद्य और सामाजिक प्रश्न

राकेश कुमार सिंह

नवजागरण को लेकर बौद्धिक व अकादमिक जगत में बहस जारी है। इस बहस के मूल में 19वीं सदी की परिस्थितियां जिम्मेदार हैं। इस परिवेश को लक्षित करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने हिंदी लेखन व नवजागरण को अपने चिंतन में विस्तार दिया। यह बहस रामविलास शर्मा के हिंदी नवजागरण से होते हुए वीरभारत तलवार तक आते-आते हिंदू नवजागरण के रूप में सामने आती है। इन दो विरोधी ध्रुवों को समझने के लिए तत्कालीन इतिहास, समाज व साहित्य को एक साथ देखना होगा। हिंदी के बौद्धिक विमर्श में एक बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है, जो अपने इतिहास, धर्म, संस्कृति व पुराने ग्रंथों को विरचनावादी दृष्टि से व्याख्या करने के नाम पर सिर्फ संकीर्णता, सांप्रदायिकता, अलगाववाद, कट्टरता आदि के खांचों में रखकर देखने में दक्ष हैं। ऐसे विद्वानों की दृष्टि समग्र के बरक्स खंड में देखने की आदी है।

इतिहास का सच यही है कि हमारा स्वाधीनता आंदोलन और नवजागरण साथ-साथ चलते रहे। हां यह जरूर है कि स्वाधीनता की भावना से पहले भारतीय समाज में सुधार की भावना पहले जन्म लेती है। भारतीय समाज सुधारक पहले सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का आंदोलन चलाते हैं। यह मात्र संयोग नहीं है कि भारतेंदुयुगीन हिंदी लेखन में राष्ट्रीय भावना प्रबल रूप में दिखती है। इस युग के सभी लेखक स्वतंत्रता से पहले सामाजिक सुधार पर जोर देते हैं। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि नवजागरण की पूरी तस्वीर को समझने के लिए सामाजिक प्रश्नों के आलोक में भारतेंदु मंडल के लेखन की पड़ताल की जाए। यह इसलिए भी जरूरी है कि आज भी कई सामाजिक प्रश्न कुछ हू-ब-हू और कुछ बदले हुए रूप में जैसे कि कट्टरता, सांप्रदायिकता, भ्रूण हत्या, स्त्री पराधीनता, नशाखोरी, रुढ़िवादिता, जातिवादिता व साम्राज्यवादी मानसिकता आदि के रूप में उपस्थित है।

भारतेंदुयुगीन लेखकों की सोच में तब के सामाजिक प्रश्नों- बाल-विवाह व बहु-विवाह का विरोध, विधवा-विवाह एवं स्त्री शिक्षा का समर्थन, जाति-पाति, छूआछूत, अंधविश्वास आदि का तीव्र विरोध दर्ज हुआ था। 19वीं सदी स्त्रियों के लिहाज से विशिष्ट है, क्योंकि इस सदी



में संपूर्ण विश्व में स्त्री की समस्याएं, उसकी अच्छाइयां, बुराइयां, उसकी सीमाएं, संभावनाएं आदि नवजागरण के विमर्श का हिस्सा बनीं। भारतीय समाज में मुख्य रूप से महाराष्ट्र व बंगाल में समाज सुधारकों ने स्त्रियों की दशा पर आवाज उठानी शुरू की थी। इसी कड़ी में सती प्रथा, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह, अशिक्षा, भ्रूणहत्या आदि स्त्री केंद्रित मुद्दे खास तौर पर ध्यान आकृष्ट किए।

भारतेंदु युग का साहित्य केवल स्त्री के सम्मान और आदर की ही बात नहीं करता बल्कि उससे आगे बढ़कर स्त्री और पुरुष की बराबरी की भी बात करता है। वह उनके अधिकारों की बात करता है। स्त्री की उपेक्षा किसी भी समाज और देश के विकास के लिए अच्छा नहीं होता है। बकौल बालकृष्ण भट्ट- 'बाहर हम कितनी ही तरक्की करें व बड़े से बड़ा इम्तहान पास कर उशना और बृहस्पति के प्रतिनिधि हो जाएं, स्त्रियों की दशा में जब तक परिवर्तन न होगा कुछ न हो सकेगा।'<sup>1</sup> उनका साफ मत है कि 'जिस ईश्वर ने पुरुष को बनाया है उसी ने स्त्री को भी' ऐसा ही प्रतापनारायण मिश्र भी मानते हैं- जो प्रतिष्ठा, जो अधिकार, जो गौरव पुरुषों का है वही स्त्रियों का भी है। इसी कारण से रामविलास शर्मा ने भारतेंदुयुगीन साहित्य को 'जनवादी' कहा है।<sup>2</sup>

भारतेंदु का विचार है कि बेहतर भारत के निर्माण में स्त्री-मुक्ति का सवाल गंभीर है, उससे टकराए बिना भारत की उन्नति एक कोरी कल्पना ही रहेगी।<sup>3</sup> इस युग के साहित्य में स्त्रियों की गिरती दशा पर न केवल चिंता व्यक्त की गई है अपितु स्त्रियों की दशा को सुधारने के प्रयास भी किए गए। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद विद्यासागर, ज्योतिबा फुले, महादेव गोविंद रानाडे, विरेशलिंगम आदि समाज सुधारकों ने स्त्रियों की दशा को सुधारने की भरपूर कोशिश की। इन सुधारकों से भारतेंदुयुगीन लेखक अवश्य ही जुड़े हुए थे या फिर प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे। इन सभी के प्रयासों का ही प्रतिफल था कि सतीप्रथा जैसी भयानक कुप्रथा पर रोक लगा दी गई।

भारतेंदु मंडल के सभी लेखकों ने विधवा-विवाह के पक्ष में अपनी कलम चलाई। पश्चिमोत्तर प्रदेश में विधवा-विवाह के साथ-साथ स्त्री की स्थिति को सुधारने के काम को स्वामी दयानंद 'सरस्वती' ने आगे बढ़ाया। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' (1877 ई.) उपन्यास लिखकर विधवा-विवाह का कड़ा समर्थन किया। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनंद-कादंबिनी' में एक लंबा निबंध 'विधवा विपत्ति वर्षा' शीर्षक से छपा। उनकी दृष्टि में विधवा-विवाह के मुद्दे पर अवस्था आड़े नहीं आती जबकि बालकृष्ण भट्ट ऐसा नहीं मानते। उनका विचार था कि केवल बाल विधवाओं के विवाह की ही अनुमति होनी चाहिए। दरअसल भट्टजी इस विधवा समस्या के मूल में बाल-विवाह के प्रचलन को मानते थे, उनका कहना था कि अगर बाल-विवाह की प्रथा को बंद कर दिया जाए तो यह समस्या स्वतः समाप्त हो जाएगी अथवा बहुत कम रह जाएगी। इस संदर्भ में 'हिंदी प्रदीप' में उन्होंने एक महत्वपूर्ण बात कही- यदि बाल-विवाह बंद कर दिए जाएं तो पुरुषों की मृत्यु संख्या इतनी घट जाए कि विधवा-विवाह

की आवश्यकता ही न पड़े।<sup>4</sup> इस समस्या को देखते हुए भारतेंदु ने 'कविवचन सुधा'<sup>5</sup> (11 मार्च 1878) तथा 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में 'भ्रूण हत्या' (मार्च, 1875) शीर्षक से एक लेख लिखा। इस लेख में भारतेंदु समस्या की जड़ में जाते हैं और इस कुरीति के विरुद्ध सरकार से कानून बनाने की अपील करते हैं- हम सरकार से, अपने सब आर्य भाइयों से हाथ जोड़कर निवेदन करते हैं इसको सब लोग एक बेरे चित्त देकर और हठ छोड़कर सुनें। यदि सरकार कहे कि हम धर्म विषय में नहीं बोलते तो उसका पहले हमसे उत्तर सुन लें- प्रजा के प्राण की रक्षा राजा को सबसे पहले मान्य है। वैसे ही जो हम कहेंगे उसमें भी प्रजा के प्राण से संबंध है। अभी बनारस में बूला नाले से एक लड़की नाले में से निकली है- ऐसी हत्या सारे हिंदुस्तान में यदि सब पकड़ी जाएं और गिनी जाएं तो प्रति महीने में एक हजार होती हैं। इस हत्या के कारण और दोष भागी कौन लोग हैं? हमारे ही आर्यगण और धर्माभिमानी लोग।<sup>6</sup>

भारतेंदुयुगीन लेखक विधवा-विवाह का समर्थन तो करते हैं, लेकिन अधिक उम्र की विधवा-विवाह के बरक्स बाल-विधवा यानी कि कम उम्र की विधवा-विवाह के लिए ही पहल दिखाई पड़ती है। मिश्रजी ने भी बाल-विधवाओं के विवाह पर बल दिया है लेकिन दूसरी अन्य विधवाओं को समाज के परंपरागत, रूढ़िवादी बंधनों में रहने की वकालत करते हैं। वे इस तरह की विधवाओं के केश कटवाने को सही समझते हैं। 'ब्राह्मण' (15 जनवरी 1890 ई.) में 'सोशल कांफ्रेंस' शीर्षक लेख में एक प्रस्ताव के तहत कहा गया कि 'विधवा होने पर जब तक पंचों और मजिस्ट्रेट के सामने अपने केश कटवाने की सम्मति न दे दें तब तब उसके बाल न काटे जाएं।' इस प्रस्ताव पर मिश्रजी लिखते हैं कि वाह री नई सभ्यता! भारतीय विधवा न ठहरी वीरांगना ठहरी। इसमें उसे कष्ट क्या होता है? हानि क्या होती है?<sup>7</sup> मिश्रजी के इस विचार पर वीरभारत तलवार ने लिखा है कि उन्हें 'कौन समझाए कि इससे विधवाओं को क्या कष्ट होता है, मिश्रजी पितृसत्तात्मक समाज के स्वाभाविक नेता थे जिनमें लिंग-भेद पर आधारित अन्याय के प्रति कोई संवेदना नहीं मिलती।'<sup>8</sup>

ध्यान देने की बात यह है कि वीरभारत तलवार द्वारा 'पितृसत्तात्मक समाज के स्वाभाविक नेता' कहना उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि मिश्रजी के लेखन में ऐसा बहुत कुछ है, जिससे तदुयुगीन समाज को एक दिशा मिलती है। मिश्रजी के विचारों के मूल्यांकन की प्रक्रिया में समग्र के बरक्स खंड की दृष्टि के आलोक में एक सरलीकृत निष्कर्ष दे डालते हैं। हां इतना जरूर है कि यहां पर मिश्रजी के विचार नवजागरण की चेतना को अवश्य ही सीमित करते हैं। निःसंदेह ही नवजागरण की प्रकृति के विपरीत विचारों की आलोचना की जानी चाहिए, लेकिन तदुयुगीन समाजसुधारकों व साहित्यकारों के विचारों में जो प्रगतिशीलता के स्वर हैं, उनकी अनदेखी भी नहीं की जानी चाहिए। किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचते समय हमें यह नहीं भूलना होगा कि हम संक्रमणकालीन एक ऐसे दौर का अध्ययन कर रहे हैं, जहां एक तरफ सामंती समाज की जकड़न है और दूसरी तरफ औपनिवेशिक गुलामी। शायद इन्हीं परिस्थितियों के कारण भारतेंदु जैसा लेखक भी सामाजिक प्रश्नों के कई बिंदुओं पर अंतर्विरोधों की प्रक्रिया से गुजरता हुआ जान पड़ता है।

भारतेंदुयुगीन हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में जो गद्य-साहित्य उपलब्ध है उसमें बाल-विवाह की सामाजिक विसंगति पर खूब प्रहार किया गया है। 'समाज में अनुचित शब्द की कोई परिमित परिभाषा नहीं है जैसे समाज में बाल्य-विवाह की प्रचलित कुरीति को कोई बुरी और अनुचित नहीं मानता पर वह बालिका जिसका विवाह अत्यंत छोटी उम्र में कर दिया गया कदाचित विधवा हो गई और कामदेव की असहय वेदना के परवस हो व्यभिचार में तत्पर हो गई तो समाज के सभी लोग उसे बुरा कहने लगते हैं और उससे घिनाते हैं- सच पूछों तो इसमें उस बालिका बेचारी का क्या अपराध? आप समाज की कुरीति क्यों न शुद्ध कर डालें... पर वहां तो यह कुसंस्कार सवार है। 10 वर्ष की न ब्याहेगी तो कन्यादान का पुण्य न होगा, भैंस का दान कहलाएगा और ब्याह के पहले कहीं रजोदर्शन हो गया तो पुरखें नरक में धकेल दिए जाएंगे...।'<sup>9</sup> बालकृष्ण भट्ट के लेखन में ऐसे कई उदाहरण हैं जिसके आधार पर वे सिद्ध करते हैं कि बाल-विवाह करना धर्म-सम्मत नहीं है। किसी भी धर्म-ग्रंथ में इसका अनुमोदन नहीं है, हां इतना अवश्य है कि धर्म-ग्रंथों में सुयोग्य वर को कन्या सौंपने की बात कही गई है, और पुत्र का विवाह करना पिता का धर्म नहीं माना जाता। यद्यपि शास्त्रों में यह विवेचन है कि उचित गुण और विद्या प्राप्त करने के पश्चात् अगर पुत्र की रुचि हो तो वह विवाह करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करे, नहीं तो स्वतंत्र रहकर लोक या परलोक का काम करे। कुछ लोग ऐसा भी मानते थे कि लड़के का विवाह बचपन में कर दिया जाय तो उसके बिगड़ने की गुंजाइश नहीं रहती है या बिगड़ने की संभावना कम हो जाती है।

प्रतापनारायण मिश्र के समय में लड़के, लड़कियों के विवाह संबंध केवल नाइयों के द्वारा पक्के कर दिए जाते थे। लड़के, लड़कियों की सहमति का प्रश्न ही नहीं उठता था, यद्यपि वे इतने अल्प वयस्क भी होते थे कि वे अपनी राय व समझ देने की स्थिति में भी नहीं होते थे, हां कई बार नाई या पुरोहित माता-पिता से बातचीत किये बगैर वैवाहिक संबंध का निर्णय ले लेते थे। ऐसी परिस्थिति में लालच में आकर नाई व पुरोहित लड़की का विवाह उसके दादा की उम्र के व्यक्ति से करा देते थे, अपने लेखन में मिश्रजी इस प्रथा का विरोध करते हैं। उन्होंने लिखा है कि नाई व पुरोहितों की प्रसन्नता के लिए साठ बरस और आठ बरस के वर कन्या की जोड़ी मिलाना दोनों का जन्म नशाना है।'<sup>10</sup> मिश्रजी का विचार था कि लड़के, लड़की के माता-पिता बातचीत करके विवाह निश्चित करें, यद्यपि उन्होंने यहां तक माना था कि विवाह में वर और कन्या की सहमति होनी चाहिए। उनका मत है कि 'वस्तुतः बुरा नहीं है जो लोग कहते हैं कि विवाह वर-कन्या की इच्छा से होना चाहिए।' या 'मां-बाप की इच्छा से विवाह होना दूषित नहीं है। वरन् वर-कन्या की इच्छा से कुछ अधिक ही गौरवमान है।'<sup>11</sup> वर-कन्या जब वयस्क होंगे तभी सहमति से विवाह संभव है। तभी वे विवाह संबंधी जिम्मेदारियों को समझेंगे और निर्णय ले सकेंगे। यही कारण है कि मिश्रजी विवाह की उम्र वर के लिए पच्चीस और कन्या के लिए सोलह वर्ष मानते हैं।'<sup>12</sup> इतना ही नहीं उन्होंने इस संबंध में ईश्वर तक से प्रार्थना कर डाली है कि 'देश में यही चाल चल जाए कि ब्याह 24-26 वर्ष में हुआ करें।'<sup>13</sup>

प्रतापनारायण मिश्र के स्त्री से संबंधित विचार कई प्रसंगों में परंपरागत व रूढ़िवादी किस्म के दिखाई पड़ते हैं, लेकिन यहां उनका यह मानना है कि 24-26 वर्ष की वर-कन्या की उम्र ऐसी है कि वे अपने विवाह के बारे में स्वतंत्र निर्णय ले सकेंगे। उनकी यह सोच समाज को एक सकारात्मक दिशा देने वाली थी। मिश्रजी अपने 'स्त्री' संबंधी लेख में खुले तौर पर विचार रखते हैं कि, वर-कन्या की इच्छा के बगैर विवाह को उनकी जीवन-यात्रा में बाधक मानना चाहिए। वे लिखते हैं कि 'विवाह केवल वर और कन्या की इच्छा से होना ठीक है नहीं तो दोनों की जीवन-यात्रा में बाधा पड़ना संभव है।' <sup>14</sup> यहां पर कहा जाना चाहिए कि मिश्रजी की यह सोच स्पष्टतः नवजागरणकालीन चिंतन को नई दिशा देने वाली है।

भारतेंदुयुगीन लेखकों ने अन्य सामाजिक कुरीतियों जैसे- दहेज-प्रथा, विवाह के अवसर पर अत्यधिक खर्च, वेश्यावृत्ति और जुला खेलना आदि का भी विरोध किया। प्रतापनारायण मिश्र 'ब्राह्मण' (15 फरवरी 1884) में विवाह के अवसर पर अनेक प्रकार के खर्च करने के प्रचलन पर लिखते हैं- लाला खुसटदास ने जो कुछ गरीबों की नरी काट-काटकर लैया पूंजियां जोरी थी, लड़के के ब्याह में डाढ़ी वाले, आतिशबाजों और रेडिकादेवियों के चरणारविंदों में समर्पण कर दिया। 'भाई वाह क्या बारात निकली, क्यों जी ऐसे रुपये वाले न जान पड़ते थे?' 'अरे यार इनके हौसलों को तो देखों कि अगले ने घर फूंक तमाशा देखा है, घर सब गिरा दिया है, और ऊपर से कर्ज काढ़ा है फिर जानते ही हो नानी मेरे नाम को'। 'छिह' 'ऐसी फिजूलखर्ची क्या बुद्धिमानी का काम है?' वाह 'ऐसा न करें तो चार भाइयों में क्या मुंह दिखावें, बुजुर्गों की नाट न कट जाए।' हां हां, तीन दिन की धूम के लिए लाख का घर लीख न करेंगे तो पुरखों की नाक कट जाएगी, पर लहनदार दुआरे पर पिटावेंगे, खलक खुदा का, मुलक बास्साह का. .. तब पुरखों की नाक ऐसी बढ़ेगी कि सरग छू लेगी।' <sup>15</sup> इस तरह मिश्रजी अनावश्यक खर्च को और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'दो दिन की वाह-वाह के लिए ऋण काढ़ के सैकड़ों की आतिशबाजी छिन भर में फूंक के संतान के माथे कर्ज गढ़ जाना' है। <sup>16</sup>

भारतेंदुयुगीन लेखक आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की चेतना से तत्कालीन समाज को जोड़ते हैं। इस ज्ञान-विज्ञान की चेतना का ही परिणाम है कि प्रतापनारायण मिश्र ने चेचक जैसी भयावह बीमारी के संदर्भ में आमजन में पफैले अंधविश्वास (शीतला माई की पूजा) के प्रति जागरूक किया है- 'शीतलाजी का पूजन एक विश्वास की बात है। गदहों को खिलाना और जीव मात्र की रक्षा करना पुण्य का काम है पर इन बातों से विस्फोटक का कोई संबंध नहीं।' <sup>17</sup> इस भयावह बीमारी से बचने के लिए वे पूजा के बरक्स टीका लगवाने पर बल देते हैं। वे टीका (Vaccination) लगाने के सरकारी प्रयास की सराहना भी करते हैं। इस प्रसंग में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी 'भारत दुर्दशा' (1875) नाटक में लिखा है- 'डॉक्टर और विद्वान इसी विस्फोटक के नाश का उपाय टीका लगाना इत्यादि कहेंगे तो भी ये सब उसको शीतला के डर से नहीं मानेंगे और उपाय आछत अपने हाथ प्यारे बच्चों की जान लेंगे।' <sup>18</sup>

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'भारत दुर्दशा' नाटक के माध्यम से समाज में व्याप्त अनेक समस्याओं

के प्रति जनता को जागरूक किया। इस नाटक में अविद्या, आलस्य, अकर्मण्यता, निर्लज्जता, दुर्भावना, मदिरापान, छूआछूत आदि सामाजिक समस्याओं की व्यंग्यपूर्ण शैली में सटीक समीक्षा की गयी है।

भारतेंदुयुगीन लेखन में तत्कालीन समाज सुधारकों की भांति जात-पांत, छूआछूत, रिश्वत, शराबखोरी और वेश्यावृत्ति आदि का विरोध स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। वस्तुतः जाति-प्रथा हिंदू धर्म का लौह ढांचा थी, आदमी का सामाजिक अस्तित्व उसके जन्म पर निर्भर था, न कि उसकी योग्यता और संपत्ति पर।<sup>19</sup> जन्म समाज विभाजन का आधार होने के कारण जाति परिवर्तनीय नहीं थी। जाति-वर्ण-व्यवस्था जनतांत्रिक नहीं थी और समता नहीं हो पाने के कारण सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता में बाधा थी। इस युग की पत्र-पत्रिकाओं ने जाति-पांत की समस्या को बदलते समय के प्रतिकूल तथा देश की प्रगति में बाधक बताया। बालकृष्ण भट्ट का विचार है कि 'एक समय था जब कि जाति-पांत का अलग होना धर्म का प्रधान अंग था। ...इस समय जाति-पांत के झगड़े ही पर देश की पफजीहत और सत्यानाश का दारमदार आ लगा है।'<sup>20</sup> समाज में सहभोजन, सहजातीय विवाह, सामाजिक असमानता, व्यवसाय में चुनाव की स्वाधीनता का अभाव आदि जाति-पांत की व्यवस्था के मुख्य लक्षण थे। ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज ने जहां जाति-पांत की आलोचना की वहीं इसके उलट आर्य समाज ने वर्णों पर आधारित जाति व्यवस्था को पुनर्जीवित दिया। हिंदी प्रदीप में बालकृष्ण भट्ट ने सामाजिक पिछड़ेपन और गुलामी का मूल कारण जात-पांत की समस्या को बताया है। 'जाति भेद, वर्णभेद, संप्रदाय भेद ने महारोगी, निर्बल और जीर्ण कर डाला किंतु पराधीनता पिशाची के चंगुल में पड़े हुए इन अनाड़ियों को हटाने का उद्यम कभी नहीं किया गया।'<sup>21</sup>

इस युग के लेखकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि से बालकृष्ण भट्ट, नवजागरण के धरातल पर काफी आगे दिखते हैं। छूआछूत, वर्ण व्यवस्था और जात-पांत को उन्होंने देश की एकता बाधित होने का मूल कारण माना है। भट्टजी 'हिंदी प्रदीप' (जून, 1893) में 'जात-पांत' शीर्षक लेख में जात-पांत जैसी सामाजिक कुरीति पर विचार करते हुए लिखते हैं कि- 'हमारे देश में जाति का इतना जोर है कि अब तक इतनी हलचल हुई, प्रायः बहुत सी बातें लुप्त हो गईं, बहुत से मत-मतांतर ऐसे फैले जिससे इसे जड़ पेड़ से उखाड़ना चाहे पर यह जाति पिशाची जैसी थी वैसी बनी हुई है। जैसा बेहूदा तरीका बिरादरी का इस समय प्रचलित है, उससे कभी आशा नहीं की जा सकती कि जाति-पांत के सत्यानाश के बिना उन्नति की हजार-हजार चेष्टा करने पर भी हमारी या हमारे देश की कभी तरक्की होगी। स्वाधीनता की नाक काटने वाली इस जाति-पांत की कुरीति देख यही मन में आता है कि हे परमेश्वर, हमने कौन सा पाप किया था जिसका फल भोगने को ऐसे कुलच्छिनी समाज में तूने हमें पैदा कर दिया।'<sup>22</sup> निःसंदेह भारतेंदुयुगीन लेखक जाति-पांत, छूआछूत आदि कुरीतियों पर ऐसे समय में प्रहार कर रहे थे जब समाज में अधिकांश तबका इन कुरीतियों के पक्ष में खड़ा था। यहां तक कि इनको तोड़ना

अपराध समझ जाता था और वे कुरीतियां हिंदू धर्म का अटूट अंग बन चुकी थीं। ऐसे समय में बालकृष्ण भट्ट के साथ ही भारतेंदु का विचार है कि जाति में चाहे कोई ऊंचा हो या नीचा हो सबका आदर कीजिए- छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए।<sup>23</sup> निःसंदेह भारतेंदु हरिश्चंद्र का यह अभिमत नवजागरणकालीन चिंतन को एक सकारात्मक दिशा देता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र की इस दृष्टि का उत्कर्ष गांधीजी के आंदोलन में देखा जा सकता है।

19वीं सदी में नवजागरणकालीन चिंतकों व समाज सुधारकों में स्त्री की समस्याओं के प्रति आधुनिक प्रगतिशील विचार दृष्टिगोचर होता है। इन समाजसुधारकों की भांति भारतेंदुयुगीन लेखक भी मुक्ति पर बल देते हैं। दरअसल, नारी मुक्ति की बात करते समय इस युग के रचनाकार नारी की तत्कालीन समस्याओं को उठाते हैं और स्त्री छवि के निर्माण का प्रयास भी करते हैं लेकिन कई स्थानों पर वे अपने लेखन में स्त्री की छवि को आदर्श, नैतिकता और पतिव्रत्य की मूर्ति के रूप में दिखाते हैं। ऐसी स्थिति में इनकी चिंतन पद्धति कुछ हद तक नवजागरणकालीन चेतना को सीमित करती है। बावजूद इसके इस युग के लेखन में स्त्री वेदना की गहन पड़ताल और स्त्री चेतना की गंभीर समझ दिखाई पड़ती है। ये रचनाकार विविध विषयों पर जनचेतना जागृत करते नजर आते हैं। 'जातीय संगीत' नामक लेख में भारतेंदु ने जिन विषयों पर जनचेतना जागृत करने की बात की थी, वे विषय थे- बाल-विवाह, बहु-विवाह, दहेज-प्रथा, भ्रूण हत्या आदि का विरोध तथा बालकों की शिक्षा और विधवा-विवाह का समर्थन। अपने लेखन में भारतेंदु ने माना है कि एक स्वस्थ भारत के निर्माण में नारी मुक्ति का प्रश्न गंभीर है, इस गंभीरता को समझते हुए ही भारत के विकास की कल्पना की जा सकती है। एक बात स्पष्ट है कि भारतेंदु युग के साहित्य में स्त्री की जैसी छवि निर्मित की गयी है उसमें कुशल गृहिणी का अंश सबसे अधिक है। गृहणियों को ये साहित्यकार अपने स्वत्व की पहचान के लिए प्रेरित करते हैं। इस स्वत्व की पहचान की प्रक्रिया में वे स्त्री शिक्षा पर बल देते हैं।

भारतेंदु युग के लेखक जिस तरह की स्त्री शिक्षा पर बल देते हैं वह ऐसी शिक्षा नहीं थी, जैसी पुरुषों को दी जाती थी। यह शिक्षा ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा नहीं थी और न ही यूरोपीय सिद्धांत के मुताबिक, बल्कि यह शिक्षा नैतिक और धार्मिक किस्म की थी। इस युग के महत्वपूर्ण लेखक स्वयं भारतेंदु स्त्रियों को शिक्षा देने की बात तो करते हैं लेकिन उसके साथ ही यह शर्त लगा देते हैं कि ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वो अपना देश और कुल धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़के को सहज शिक्षा दें।<sup>24</sup> बकौल वीरभारत तलवार यहां पर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को जहां दरकिनार किया गया है वहीं शिक्षा के यूरोपीय सिद्धांत से भी दूरी रखी गयी है। वे लड़कियों को सिर्फ नैतिक चरित्र, घरेलू प्रबंध और धर्म संबंधी शिक्षा देने की सिफारिश करते हैं।<sup>25</sup> कुलधर्म, पतिभक्ति, लड़कों की शिक्षा से आप असहमत हो सकते हैं किंतु अपने देश धर्म के निर्वाह का प्रश्न बिल्कुल अलग है।<sup>26</sup>

वस्तुतः धर्म देश की उन्नति से जुड़ा है और भारतेंदु ने स्त्री शिक्षा की आवश्यकता की बात इसी देश-धर्म के संबंध में की है। एक बात स्पष्ट है कि स्त्री शिक्षा को लेकर भारतेंदुयुगीन

लेखकों में एक अंतर्विरोध की स्थिति है। स्त्री शिक्षा को लेकर उनका दृष्टिकोण दो प्रश्नों से टकराता है- स्त्री शिक्षा कैसी हो? स्पष्ट है वह पश्चिम के ढंग की नहीं होनी चाहिए। स्त्री शिक्षा क्यों हो? इसका उत्तर स्त्री के सद्चरित्र और कुशल गृहिणी बनाने तथा देश के प्रति स्वत्व की पहचान की चिंता को लेकर है। डॉ. वीरभारत तलवार ने इसे 'घरेलू स्त्रियों के प्रति संकीर्ण नैतिकतावादी दृष्टि' कहा है किंतु ध्यातव्य है कि भारतेंदुयुगीन साहित्यकारों ने एक सीमा तक अपने युग की रूढ़िगत पितृसत्तात्मक सोच को तोड़ा है और स्त्री शिक्षा की पहल की है। हां, इस पहल की एक सीमा है। यह सीमा स्वयं भारतेंदु के लेखन में देखी जा सकती है। उन्होंने 'नील देवी' की भूमिका में (मातृ भगिनी सखी तुल्या आर्य ललना गण!) भारतीय समाज की परंपरा, आदर्श के साथ ही अंग्रेजियत जीवन शैली भलीभांति समझा है।

भारतेंदु लिखते हैं कि इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूं कि इन गौरांगी युवती समूह की भांति हमारी कुल लक्ष्मी भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें: किंतु और बातों में जिस भांति अंग्रेजी स्त्रियां सावधान होती है, पढ़ी-लिखी होती है, घर का कामकाज संभालती है, अपने संतान गण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती है, अपने जाति और अपने देश की संपत्ति-विपत्ति को समझती है, उसमें सहायता देती है और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को गृहदास्य और कलह ही में नहीं खातीं, उसी भांति हमारी गृह देवता भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन कर कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल परंपरा मात्र है और कुछ नहीं।<sup>27</sup> यहां भारतेंदु कुल परंपरा को लक्षित ही नहीं करते बल्कि वे स्त्री शिक्षा की स्पष्ट रूप से पहल भी करते हैं। इस पहल के पीछे उनकी मंशा स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष खड़ा करना है। इसके साथ ही भारतेंदु का यह कहना कि 'लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें' उनकी स्त्री संबंधी दुविधा को सामने लाता है। ऐसा नहीं है कि यह दुविधा सिर्फ भारतेंदु में है, यह उस पूरे युग की दुविधा है, जिसे सुधीरचंद्र 'अंतर्विरोध व अनसुलझे तनाव'<sup>28</sup> कहते हैं तो रामविलास शर्मा तदयुगीन समाज में उस काजल की कोठरी की स्याही मानते हैं, जिसमें भारतेंदु का जन्म हुआ था।<sup>29</sup> और वसुधा डालमिया इस युग के अंतर्विरोधों को अंतर्द्वंद्व कहना उचित मानती हैं। निःसंदेह भारतेंदुयुगीन नवजागरणकालीन चिंतन में बहुत से बिंदुओं पर सामंती समाज की रूढ़ियां और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि के बीच एक द्वंद्व की स्थिति है।

यानी कि यहां पर परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व है। हां इसके विपरीत कुछ विद्वान जैसे कि वीरभारत तलवार इन अंतर्विरोधों व अंतर्द्वंद्वों को तदयुगीन परिस्थितियों और उनके मंतव्यों के आलोक में नहीं देखते। उनका मानना है कि 'हिंदी नवजागरण में लेखकों के सामने स्त्रियों की समस्याएं नहीं थी। उनके लिए खुद स्त्री ही एक समस्या थी, जिस पर हर हाल में काबू पाना था।'<sup>30</sup> दरअसल मूल्यांकन की यह दृष्टि वर्तमान विमर्शों के आलोक में अतीत को देखने की पहल है। इस दृष्टि के आलोक में संक्रमणकालीन तदयुगीन समाज का मूल्यांकन उचित नहीं है।

स्त्रियों की शिक्षा के संदर्भ में भारतेंदुयुगीन लेखक ईसाई पद्धति से दी जाने वाली शिक्षा

के विरोध में खड़े मिलते हैं। भारतेंदु का विचार है कि मिशनरी महिलाएं अपने धार्मिक सिद्धांतों और स्वतंत्र विचारों को दिमाग में बिठाने की कोशिश करती है, जिससे देशी स्त्रियों में शिक्षा से विरक्ति का भाव उत्पन्न होता है। भारतेंदुयुगीन साहित्यकार स्त्रियों को पश्चिमी ढंग की शिक्षा न दिए जाने की वकालत करते दिखते हैं। ए.आर. देसाई का विचार है कि- 'यह शिक्षा भारतीय जनता के वास्तविक जीवन से बहुत अलग थी और भारतीय राष्ट्र की प्रगति की समस्याओं से इसका कोई संबंध नहीं था।' इसने ब्रिटिश शासन को आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया, उसे गौरवपूर्ण माना और भारत के अतीत की आलोचनात्मक वैज्ञानिक समीक्षा के बदले इसका अवमूल्यन किया। इसने ब्रिटिश इतिहास के अध्ययन पर जरूरत से अधिक जोर देकर राष्ट्रीय भाव का उद्भव नहीं होने दिया। इन सबके कारण भी शिक्षित भारतीय अपने देश के जनजीवन से विमुख होते गए और शासक राष्ट्र के साथ उनका तालमेल एवं साधारण लोगों के प्रति घृणा और उपेक्षा के भाव बढ़ते गए।<sup>31</sup> निःसंदेह इस वस्तुस्थिति का आभास भारतेंदुयुगीन लेखकों को कमोवेश रहा ही होगा, जिसके फलस्वरूप इन लेखकों में पश्चिमी ढंग की शिक्षा के प्रति एक संदेह दृष्टि विद्यमान है। स्त्रियों को ये लेखक जब पश्चिमी ढंग की शिक्षा न देने की वकालत करते हैं तब इनके मन-मस्तिष्क में संभवतः भारतीय जीवन के आदर्श जैसे कि स्त्रियों में सदाचार, नैतिकता, देश-सेवा एवं गृहिणी-धर्म का सही पाठ पढ़ाना था जबकि उन्हें पता था कि पश्चिमी ढंग की शिक्षा से यह कार्य पूरा न हो सकेगा लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि वे स्त्री शिक्षा के विरोधी थे।

भारतेंदु ने इस देश के विकास के मूल में स्त्रियों का सम्मान व उनकी शिक्षा को देखा है। वे कविवचनसुधा (9 फरवरी, 1872) में लिखते हैं कि हिंदुस्तान के लोग जब तक स्त्रियों का आदर न करेंगे और शिक्षा न देंगे कभी इस देश की वृद्धि न होगी।<sup>32</sup> इसी प्रकार बालकृष्ण भट्ट स्त्रियों के संबंध में शिक्षा का महत्त्व बतलाते हुए लिखते हैं कि- लोग कहते हैं कि औरतें बड़ी बातूनी होती हैं। हम कहते हैं केवल कहने ही में क्यों? कौन सी चीज है जिसमें औरतें मर्द से अधिक बड़ी-चढ़ी नहीं है। जहां कहीं वे पढ़ाई-लिखाई जाती हैं वहां स्त्रियां पुरुषों से ऊपर हो गई हैं।<sup>33</sup> इस कार्य में भारतेंदु व उनका मंडल ही नहीं, अपितु इस युग के अन्य लेखक व समाज सुधारक भी स्त्री-शिक्षा पर विशेष बल दे रहे थे।

भारतेंदुयुगीन लेखकों ने स्त्री शिक्षा को चरित्र-निर्माण, घरेलू प्रबंध और बच्चों की अच्छी शिक्षा के संदर्भ में अधिक देखा है। वसुधा डालमिया का विचार है कि 'बालाबोधिनी' में जिस किस्म के स्त्री-चरित्र वर्णित हैं उनमें भी कुशल घरेलू प्रबंधन, शिक्षित और शिक्षित माता रूप ही ज्यादा उभरकर सामने आता है।<sup>34</sup> किंतु इन साहित्यकारों के यहां चरित्र-निर्माण, घरेलू प्रबंधन आदि बच्चों को अच्छी शिक्षा का व्यापक राष्ट्रीय निहितार्थ है। 'भारतीय राष्ट्र के लिए आवश्यक है कि उसके बच्चे उत्तम परिस्थितियों में जन्म लेकर पले बढ़ें।'<sup>35</sup> यह उत्तम परिस्थितियां घरेलू प्रबंधन द्वारा निर्मित होंगी और बच्चों की अच्छी शिक्षा की योग्यता उन बच्चों को शिक्षित करने और उनमें चरित्र विकास करने के लिए प्रयुक्त होगी, जिन्हें भविष्य में राष्ट्र



निर्माण में कार्य में लगना है। स्पष्ट है कि भारतेंदुयुगीन साहित्य स्त्री शिक्षा में यदि चरित्र निर्माण, घरेलू प्रबंधन और बच्चों की शिक्षिका मातारूप को बहुत महत्व देता है तो उसका कारण यह है कि इससे वह राष्ट्र की उन्नति और राष्ट्र के भविष्य की संभावनाओं (बच्चों) के निर्माण को जोड़कर देखता है अर्थात् एक शिक्षित स्त्री ही आने वाली पीढ़ियों को सुसंस्कृत और राष्ट्र के प्रति सचेत बना सकती है। इस तरह की बात एक हद तक सही थी, क्योंकि तत्कालीन परिवेश में यह भी रुढ़ियों पर प्रहार ही था। चरित्र-निर्माण संबंधी उद्देश्य का भी इन रचनाकारों के यहां राष्ट्रीय निहितार्थ था। स्त्रियों की दुश्चरित्रता घरेलू कलह के लिए जिम्मेदार थी और घरेलू कलह देशहित में बाधक था। इसलिए इन्होंने चरित्र-निर्माण कर बल दिया। इस विषय पर बल तो यूरोप में भी दिया जा रहा था और वहां भी शिक्षा का प्रधान उद्देश्य चरित्र-निर्माण ही था किंतु भारतेंदुयुगीन रचनाकार जिस चरित्र-निर्माण की बात कर रहे थे, वह औपनिवेशिक ढंग का नहीं था। वे राष्ट्रीय और जातीय चेतना से युक्त चरित्रों के निर्माण कर बल दे रहे थे, जो राष्ट्रोत्थान से जुड़ा हुआ था।

भारतेंदुयुगीन लेखक जब स्त्रियों के लिए अंग्रेजी शिक्षा का विरोध करते हैं तब इस बात को समझने के लिए भारतेंदु युग की ठोस सामाजिक वस्तुस्थिति के आलोक में देखना ही सही होगा। पितृसत्तात्मक सामंती समाज को एक झटके में तोड़ देना संभव नहीं था। तत्कालीन समाज में स्त्री शिक्षा को लेकर ऐसी स्थिति थी कि किसी कन्या के हाथ में 'अक्षर दीपिका' का होना इतना बड़ा अपराध माना जाता था कि इससे उसकी सगाई तक टूट सकती थी।<sup>36</sup> ऐसे परिवेश में सुधार, बदलाव की बात करना कितना कठिन है। फिर भी भारतेंदुयुगीन लेखक इस कार्य के लिए स्त्री शिक्षा पर बल देते हैं। इन लेखकों के विचार में जो स्त्री उत्थान का स्वर है उसमें राष्ट्रीय उत्थान का स्वर घुला-मिला है। इनके लेखन में स्त्री स्वाधीनता का स्वर नवजागरण का स्वर बनकर आता है। हां, स्त्रियों को 'आदर्श' के विशेष सांचे में ढालने का इनका प्रयास और स्त्री-पुरुष के लिए अलग-अलग शिक्षा के मानदंड तय करना, नवजागरणकालीन चिंतन का कमजोर बिंदु है। बावजूद इसके भारतेंदुयुगीन हिंदी गद्य-साहित्य में स्त्री शिक्षा संबंधी जो विचार व्यक्त किये गये हैं वह नवजागरणकालीन चिंतन के मुख्य स्वर हैं।

अंततः भारतेंदुयुगीन हिंदी लेखन के आलोक में आज का लेखक जगत स्वयं में प्रश्नांकित हो जाता है, जब हम वर्तमान लेखकीय वस्तुस्थिति व सामाजिक प्रश्नों को समझने की कोशिश करते हैं। वस्तुतः नवजागरण का समय ऐतिहासिक संक्रमण का समय है। बहुत सारी बातें आपस में मिली जुली हैं। धर्म को ही ले लें बहुत सारे सामाजिक-सुधार व आंदोलन धार्मिक आवरण में ही संपन्न हुए। इसलिए 19वीं सदी के हिंदी गद्य-साहित्य के मूल्यांकन में सांप्रदायिकता या संकीर्णता को रेखांकित करना वर्तमान विमर्शों के दृष्टि में अतीत को देखना है जबकि उस दौर की जटिलताओं 'अंतर्विरोधों, अस्पष्टताओं और अनसुलझे तनावों' को समझे बिना निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा।



### संदर्भ

- 1 भट्ट निबंधमाला, भाग-2, पृ. 14
- 2 रामविलास शर्मा, भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा, पृ. 52
- 3 सम्मेलन पत्रिका, भारतेंदु अंक, भाग-87, संख्या 2-4, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ.256
- 4 'हिंदी प्रदीप', दिसंबर 1884 ई., पृ. 1-5
- 5 'कविवचन सुधा', 11 मार्च, 1878, 'गर्भ निरोध के सभी सुरक्षात्मक कदम उठाने के पश्चात् भी यदि कोई महिला गर्भवती हो जाती है तो वह गर्भपात कराने का प्रयास करती है। यदि गर्भपात में असफल हो जाती तो उस असंवैधानिक शिशु को भूखा मारने का प्रयास करती।'।
- 6 हरिश्चंद्र चंद्रिका, मार्च 1875, पृ. 165-166
- 7 प्रतापनारायण-ग्रंथावली, पृ. 321
- 8 रस्साकशी, पृ. 200
- 9 हिंदी प्रदीप, जून-जुलाई 1899, पृ. 6
- 10 प्रतापनारायण-ग्रंथावली, पृ. 308
- 11 प्रतापनारायण-ग्रंथावली, पृ. 482
- 12 प्रतापनारायण-ग्रंथावली पृ. 483-484
- 13 प्रतापनारायण-ग्रंथावली पृ. 27
- 14 प्रतापनारायण-ग्रंथावली, पृ. 42-43
- 15 प्रतापनारायण-ग्रंथावली, पृ. 295
- 16 वही, पृ. 295
- 17 प्रतापनारायण-ग्रंथावली, पृ. 53
- 18 भारतेंदु समग्र, पृ. 464
- 19 राधाकुमुद मुखर्जी, हिंदू सभ्यता, पृ. 108-109
- 20 'हिंदी प्रदीप', फरवरी-मार्च 1895, पृ. 55
- 21 'हिंदी प्रदीप', जुलाई 1889, पृ. 32-33
- 22 बालकृष्ण भट्ट, जात-पांत, 'हिंदी प्रदीप', जून 1889
- 23 हरिश्चंद्र चंद्रिका, दिसंबर, 1884, वर्ष-11, अंक-3
- 24 संपा. हेमंत शर्मा, भारतेंदु समग्र, पृ. 1013
- 25 वीरभारत तलवार, रस्साकशी, पृ. 36
- 26 सम्मेलन पत्रिका, भारतेंदु अंक, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ. 255
- 27 भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली (सं. ओमप्रकाश सिंह), भाग-1, 'नीलदेवी' से
- 28 सुधीरचंद्र, आप्रेसिव प्रेजेंट, पृ. 156
- 29 डॉ. रामविलास शर्मा, भारतेंदु हरिचंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएं, पृ. 78

- 30 वीरभारत तलवार, रस्साकशी, पृ. 221  
31 ए.आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ. 117  
32 भारतेन्दु हरिश्चंद्र ग्रंथावली (सं. ओमप्रकाश सिंह), भाग-6, 'स्त्री-1' लेख, पृ. 88  
33 बालकृष्ण भट्ट, निबंधों की दुनिया, (सं.) दिविक रमेश, पृ. 133  
34 वसुधा डालमिया, इंडियन्स लिटरेरी हिस्ट्री : एसेज ऑन द नाइनटीन्थ सेंचुरी, पृ. 409  
35 राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, पृ. 57  
36 वीरभारत तलवार, रस्साकशी, पृ. 53, 'अक्षरदीपिका' (स्त्रियों के लिए निकलने वाली एक पत्रिका थी)  
37 पक्षधर : मई-दिसंबर-2008, पृ. 265

### पाठक अपनी प्रति आरक्षित कराएँ

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा  
की त्रैमासिक पत्रिका बहुवचन की अप्रैल-जून, 2016  
में नई प्रस्तुति  
हिंदी की शीर्षस्थ कथाकार  
कृष्णा सोबती  
पर एकाग्र

### संभावित रचनाकार

असगर वजाहत, सुधा अरोड़ा, अर्चना वर्मा,  
रोहिणी अग्रवाल, विजय शर्मा, विजय बहादुर सिंह,  
पल्लव, नासिरा शर्मा एवं कई अन्य शामिल होंगे।

अंक से संबंधित विस्तृत जानकारी

अतिथि संपादक :

शंभु गुप्त से मो. 8600552663, 9414789779 या  
shambhugupt@gmail.com पर या

संपादक :

अशोक मिश्र से मो. 9422386554 अथवा  
bahuvachan.wardha@gmail.com पर  
प्राप्त की जा सकती है।

## अंक के रचनाकार

- **मधुरेश-** 372, छोटी बमनपुरी, बरेली-243003 (उ.प्र.), ☎ 9319838809
- **गिरीश्वर मिश्र-** कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
- **विजय बहादुर सिंह-** 24 निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग, भोपाल-462003, (म.प्र.), ☎ 9425030392
- **नामवर सिंह-** 32, ए पहली मंजिल, शिवालिक अपार्टमेंट, कालकाजी, नई दिल्ली-110019
- **राजेन्द्र कुमार-** 12 बी/1 बंद रोड, एलनगंज, इलाहाबाद-211002, (उ.प्र.), ☎ 9336493924
- **विश्वनाथ प्रसाद तिवारी-** संपादक, दस्तावेज, बेतियाहाता, गोरखपुर-273001 (उ.प्र.)
- **अरविन्द त्रिपाठी-** आकाशवाणी, गोरखपुर-273001 (उ.प्र.), ☎ 9415313214
- **रेवतीरमण-** 22 रीडर्स क्वार्टर, यूनिवर्सिटी कैम्पस, मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार), ☎ 9006885907
- **बलराम शुक्ल-** संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007
- **चन्द्रदेव यादव-** हिंदी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली- 110025, ☎ 9818158745
- **ए. अरविंदाक्षन-** 279/सांद्रम, मावेलिपुरम, काक्कनाड, कोचीन-682030 (केरल), ☎ 9895018088
- **देवेन्द्र चौबे-** प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, ☎ 9868272999
- **अनन्त मिश्र-** आचार्य एवं अध्यक्ष, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा तथा पत्रकारिता विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर-273009, (उ.प्र.), ☎ 9450441227
- **पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु-** सार्इकृपा, 58 लाल एवेन्यू, डाकघर छेहर्टा, अमृतसर-1431015 (पंजाब), ☎ 9878647468
- **कुमुद शर्मा-** एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007, ☎ 9811719898
- **गोपाल प्रधान,** हिंदी विभाग, स्कूल ऑफ लिबरल स्टडीज, अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **अनिल राय-** 16, डी हीरापुरी दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय परिसर, गोरखपुर-273009, (उ.प्र.), ☎ 94145080500
- **जितेन्द्र श्रीवास्तव-** हिंदी संकाय, मानविकी विद्यापीठ ब्लॉक एफ, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-68, ☎ 9818913798
- **रघुवंश मणि-** 365, इस्माइलगंज, अमानीगंज, फैजाबाद-224001, (उ.प्र.), ☎ 9452850745
- **शशि कुमार 'शशिकांत'-** सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, बेनितो हुआरेज मार्ग, नयी दिल्ली-110021, ☎ 09868035096
- **राकेश कुमार सिंह-** सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, सत्यवती महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, ☎ 9873827381